(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु शोध प्रबन्ध)

लेखक

डॉ० सत्य प्रकाश सिंह

एम० ए०, डी० फिल्०

प्राध्यापक (रीडर)

अध्यक्ष हिन्दी विभाग

श्री कृष्ण गीता राष्ट्रीय महाविद्यालय

लालगंज, आजमगढ़

सम्बद्ध

पूर्वांचल विश्वविद्यालय

जौनपुर

प्रकाशक

अभिषेक प्रकाशन

11 एफ मोतीलाल नेहरू रोड, बेलवेडियर विला,

वितरक—एशिया बुक कम्पनी,
9 यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : सन् 1988

मूल्य : 80.00

मुद्रक :
लैण्डमार्क प्रेस

कर्त्तव्यनिष्ठता एवं सत्यनिष्ठता

के प्रतीक

परमपूज्य पिताश्री

के

चरणों में

भूमिका

एम० ए० की परीक्षा देने के उपरान्त घर-बाहर के लोगों ने "विधि" अध्ययन की सलाह दी। किन्तु पिता श्री रामराज सिंह जी एवं अपनी छत्रछाया मे सदैव प्रेरणा देने वाली विदुषी सुश्री मीरा श्रीवास्तव (डी० फिल्०, डी० लिट्०) ने शोध हेतु प्रवेश लेने का आदेश दिया। परन्तु वर्षान्तर मे ही सेवारत हो जाने के कारण यह आस मन में ही दबकर रह गई थी। पुन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा शोध-कार्य-हेतु सुविधा की जानकारी मिलते ही मैं अपने को रोक न सका। सात वर्ष पूर्व दबी हुई आकांक्षा एवं पिता तथा गुरु द्वारा दिये आदेश की पूर्ति का अवसर प्राप्त कर सका। डा० रघुवंश द्वारा प्रवेशार्थ अनुमति मिलने की आदेशयुक्त कृपा से अभिभूत हो मैंने शोध हेतु प्रवेश तो ले लिया किन्तु विषय चयन की समस्या अभी सम्मुख थी।

विषय चयन की पृष्ठभूमि एक अत्यन्त मार्मिक घटना से जुड़ी है जिसका उल्लेख किये बिना मै नही रह सकता। हुआ यह कि मै किसी कार्यवश इलाहाबाद से वाराणसी जा रहा था। गाड़ी मे एक तारा लिये एक सूर कबीर, दादू, रैदास आदि के निर्गुनिया पद गा-गाकर यात्रियो को आकर्षित कर रहा था। उसके गान के स्वर-लय में मैं इतना अचेत सा हो गया कि अपने साथ-साथ अपने सामान को भी भूल गया। वाराणसी स्टेशन की भीड-भाड़ से चैतन्य हो अपने सामान की ओर उन्मुख हुआ तो अपना ब्रीफकेस गायब पाया। उसी रात सोते समय ही एक विचार कौंधा-जिस मध्यकाल के गीति पदो में आज भी इतनी जीवन्तता है क्या उस पर शोध हो चुका है ? यदि नही तो मै अवश्य ही मध्यकालीन भक्त्यात्मक गीति पदो पर शोध करके उनकी यह आत्माविभोर चेतनमुक्त करने की शक्ति का गहराई से अन्वेषण करूँगा। अत इलाहाबाद लौटने पर मैने अपना यह विषय निर्धारित किया—

"भक्तिकालीन गीति-काव्य"

आलोचना साहित्य की ओर दृष्टि करने से ज्ञात हुआ कि भक्तिकालीन गीतिकाव्य का विवेचन अत्यल्प हुआ है। इस दृष्टि से दो विद्वानो के नाम विशेष उल्लेखनीय है प्रथम—डा० राम खेलावन पाण्डेय जिन्होने अपने गीति-काव्य

नामक पुस्तक में गीति का उद्भव, विकास एवं तत्व विवेचन आदि करते हुये भक्ति गीतो को आधुनिक गीतो के साथ-साथ अपनी विवेचना का विषय बनाया है।

द्वितीय—डा० शिवमगल सिंह सुमन ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे डी० लिट्० उपाधि हेतु—"गीति-काव्य . उद्भव, विकास एवं भारतीय काव्य में इसकी परम्परा" शीर्षक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया। जिसमे गीति-काव्य के भारतीय मूल पर विचार करते हुये भक्तिकालीन प्रमुख भक्त कवियों के गीति पदो का विवेचन किया है।

इस शोध-प्रबन्ध में मैंने भक्तिकाल के गीतिकाव्य का विशिष्ट अध्ययन उद्भव, विकास, गीतितत्व, वर्गीकरण—(क) आधार, (ख) विवेचन और उपलब्धि जैसे विभागों मे विभाजित करके कुल आठ अध्यायो मे समालोचित किया है।

काव्य में गीतिमयता से प्रथम अध्याय का श्रीगणेश हुआ है। काव्य की सहज गीतिमयता संगीत, शब्द तथा गीति का वाद्ययन्त्रो से सम्बन्ध आदि पर विचार करते हुये गीति को परिभाषा में आबद्ध करने की चेष्टा की गई है। काव्य के इस रूप का उद्भव विवेचित करते हुये गीति का भारतीय अभिधान स्पष्ट किया गया है। गीति का भारतीय वाङ्मय—ऋग्वेद, सामवेद, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश—में विकास खोजने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत हिन्दी में गीति भावना का विकास सिद्ध नाथ जैन एवं वीर तथा शृंगार रसात्मक साहित्य के अन्तर्गत से स्पष्ट करते हुये अमीर खुसरो तथा विद्यापति के गीतो की समालोचना करते हुये, गीति के बहिरंग एवं अन्तरग के निर्माण की रूपरेखा को प्रत्यक्ष किया गया है। अध्याय के अन्त मे शोध-प्रबन्ध मे विवेचन हेतु लिये गये भक्तिकाल के कवियो का नामोल्लेख है। जिनमे निर्गुण धारा के नामदेव, नानक, कबीर, रैदास, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास एव धर्मदास हैं तथा सगुण धारा के राममार्गी भक्त तुलसीदास तथा कृष्णमार्गी सूरदास, परमानन्द दास, कृष्ण दास, कुम्भन दास, नन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, हित हरिवंश, हरिराम जी व्यास, श्री भट्ट स्वामी, स्वामी हरिदास, ध्रुवदास, गदाधर भट्ट, सूरदास, मदन मोहन एवं राजस्थान कोकिला मीराबाई मुख्य हैं।

गीति-तत्व के तृतीय अध्याय में शोध-प्रबन्ध की प्रौढता प्रारम्भ होती है। इस अध्याय मे भक्ति के मनोविकारो को दृष्टि मे रखते हुए गीति तत्वो का निर्धारण-सगीतात्मकता या गेयत्व, आत्माभिव्यजना, भावात्मक गहनता, सम्वेदनशीलता का विस्तार, रागात्मक अनुभूति और संक्षिप्तता के रूप मे करके भक्ति गीति पदो का विवेचन विविध रूपो में किया गया है।

चतुर्थ अध्याय मे भक्ति कालीन गीति-काव्य के वर्गीकरण का आधार प्रस्तुत करते हुये भक्ति-गीतों का वर्गीकरण किया गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में भक्त की साधना, गीति की सहजाभिव्यक्ति, संगीत और आध्यात्मिक साधना, भक्ति साहित्य की अनुभूति, आत्मपरक भावभूमि एवं भक्तिकाल की रचनाधर्मिता आदि का विशद् विश्लेषण करते हुए "भक्त्यात्मक भाव" को गीति पदो के वर्गीकरण का विशिष्टाधार माना है तथा दूसरे भाग मे भक्ति-गीति-पदो का वर्गीकरण—(क) ज्ञानात्मक गीति पद, (ख) लीला गीति पद और (ग) गीति के अन्य भाव मे करके एक स्पष्ट दिशा बनाई गयी है।

पंचम अध्याय में ज्ञानात्मक गीति-पदों को (क) विचारप्रवण भावात्मक गीति-पद तथा (ख) भावप्रवण विचारात्मक गीति-पद में भाव, रागात्मक एकता एवं सवेदन की गौणता अथवा प्रमुखता के आधार पर बॉटकर गीति कविता मे बौद्धिकता, सामाजिक चेतना, डाट-फटकार, चेतावनी, सम्प्रदायगत सिद्धान्तो की व्याख्या एव दार्शनिक प्रतीको वाले गीति-पदो का विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में लीला के गीति-पदो को भगवत लीला के आधार पर वात्सल्य, सख्य एव माधुर्य के उपागो में विभक्त कर लीला के विविध आयामों एवं गीति के लिये उसकी उपयुक्तता पर विचार करते हुये सगुण भक्ति मे वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्य की स्थिति तथा महत्ता को स्पष्ट करते हुए इनके गीति-पदों का अलग-अलग विश्लेषण किया गयाहै।

सप्तम अध्याय में गीति के अन्य भाव के अन्तर्गत विनय भाव के गीति-पद, व्यक्तिगत सवेदनात्मक गीति-पद तथा तादात्म्यजन्य गीति-पदो का अलग-अलग विशिष्ट विवेचन है।

शोध की निजी उपलब्धि को अष्टम अध्याय मे रेखाकित किया है। सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध के लेखन में मेरी विशेष दृष्टि जिन विशेष स्थलो पर

के साथ उपस्थित हुई है उनकी पुन: स्थापना करते हुए देशकाल की परिधि से मुक्त गीति की महत्ता पर किंचित् प्रकाश डालकर समापन किया गया है ।

इस शोध प्रबन्ध के लेखन में उन सभी विद्वज्जनो का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर अपनी विचाराभिव्यक्ति एव पुस्तकीय सहायता देकर मुझे कृतज्ञ किया है ।

अन्त में मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन हेतु आर्थिक सहायता प्रदान की । मैं उन विद्वज्जनो का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध की विशिष्टता को रेखांकित किया है ।

6, फरवरी

8/1 सर पी० सी० बैनर्जी रोड
एलेनगंज, इलाहाबाद

डा० सत्य प्रकाश सिंह

सूक्ष्म संकेत

अनु०—अनुवादक

सभा—नागरी प्रचारिणी सभा

ना० प्र० स०—नागरी प्रचारिणी सभा

डा०—डाक्टर

पृ०—पृष्ठ

वि—विक्रमी

प्रका०—प्रकाशक

सम्पा०—सम्पादक

हि० प०—हिन्दी परिषद

इला०—इलाहाबाद

संग्र०—संग्रहकर्ता

विषय-सूची

उद्भव एवं विकास

भक्तिकालीन गीति-काव्य

प्रथम अध्याय

उद्भव एवं विकास

काव्य में गीतिमयता

कविता मानव की आदिम अभिव्यक्ति है। मानव अपने प्रारम्भिक समय मे किस प्रकार अपनी रागात्मक भावनाओ की अभिव्यक्ति करता रहा होगा, इसका प्रमाण तो अनुपलब्ध है, परन्तु संसार के प्राचीनतम साक्ष्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आदिम रागात्मक अभिव्यक्ति कविता के रूप मे ही प्रारम्भ हुई होगी। सुविचारित, सुचिन्तित गद्य से पहले कविता, जो मूलत' उद्रेक-प्रधान है, का जन्म हुआ होगा। वाणी की कृत्रिमता, मनोवेगों की जटिलता के कारण कालान्तर मे प्राप्त हुई होगी तथापि मनोवेगो का उत्थान-पतन, उनका सघर्षण अथवा सुख-दु खात्मक अनुभूति उसके हृदय में उसी प्रकार प्रारम्भ से ही रही होगी जैसे पशु-पक्षियो में करुणा, भय, क्रोध एवं हर्षजनित उल्लास का भाव रहता है। इसी से तो क्रौंच पक्षी के वध से क्रौंची की कातर-दु खजन्य-करुण पुकार सुनकर कठोर हृदय वाले वाल्मीकि की कठोरता भी अनुष्टुप छन्द मे विगलित होकर निखर गई—

मा निपाद प्रतिष्ठा त्वमगम' शाश्वती समा।
यत् क्रौच मिथुनादेकमवधी· काममोहितम्॥

मानव-मन संवेदनाओं एव भावनाओं का कोष है। उसके हृदय में सुख-दु ख, कोमलता-कठोरता, विपन्नता-ममता अर्थात संवेदनशीलता, भावुकता सदैव विद्यमान रही है। स्थिति विशेष में कभी उसके हृदय का कोमल भाव प्रत्यक्ष होता है तो कभी कठोर। अनेक वस्तुओं को देखकर उसके हृदय का अप्रत्यक्ष भाव—क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, प्रेम, दया एवं हास आदि अनेक रूपों मे प्रकट होता है। कभी तो ऐसा भी होता है कि एक ही वस्तु को विभिन्न परिस्थितियो में प्रत्यक्ष करने पर मानव-मन कभी घृणायुक्त होता है तो कभी मोहयुक्त। वस्तुत मानव की सुख-दु खात्मक अनुभूतमयी व्यजना की उत्कट आतुरता ही काव्य का उद्गम-स्रोत है तथा गीति मानव की अन्यतम, प्राचीन, निगूढ आत्माभिव्यक्ति है।

एक प्रकार से गीति मानव की आदिम अभिव्यक्ति है। क्योकि उल्लास या वेदना सहज ही गान का मार्ग पकड़ लेती है। यही कारण है कि गीतो के स्वरूपो के अध्ययन के लिये आदिम ग्रन्थ वेदो का अनुशीलन आवश्यक हो जाता है। यद्यपि वेदो में पाई जाने वाली राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियो मे अत्यधिक परिवर्तन हो गया है तथापि यह भी सत्य है कि व्यक्तिगत आत्माभिव्यक्ति की परम्परा कभी भी लुप्त नही हुई। उसकी सूक्ष्म धारा भारतीय साहित्य के अन्दर ही अन्दर अवश्य प्रवाहित होती रही है। अत· गीति-तत्वो की प्रारम्भिक खोज करने पर वेदो की ओर उन्मुख होना है

आदि-मानव की वैयक्तिक सुख-दुखात्मक अनुभूति को जानने के लिये हमे उसकी आदिम आत्माभिव्यक्ति का अशत अध्ययन करना होता है। यद्यपि उसकी आत्माभिव्यक्ति का वाह्य स्वरूप उसकी परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ-साथ वदलता रहा है किन्तु उसके अन्तर्मन में निहित मूल मनोवृत्तियों मे कोई परिवर्तन नही हुआ। वाङ्मय का विकास नादात्मक अभिव्यक्ति के विकास से हुआ। भारतीय प्राचीन ग्रन्थो से स्पष्ट है कि "ओउम्" के रूप में प्रथम नादात्मक अभिव्यक्ति ब्रह्मा के कण्ठ को फोडकर निकली।[1] यह प्रथम स्वर "ओउम्" स्वय संगीत से युक्त था तथा इसके स्वाभाविक उद्घोष को रोकने की शक्ति एवं सामर्थ्य ब्रह्मा में भी नही थी। क्योकि यह अन्त प्रसूत थी। ओउम् की अनुनासिकता मे नादात्मक संवाद सम्पृक्त है। छान्दोग्य उपनिषद मे इस ओउम्-अक्षर-उद्गीथ के अभ्यास का उल्लेख है।[2] उपनिषद् में प्राप्त उद्गीथ शब्द का अर्थ है—स्वत कण्ठ से निःसृत गीथ। उद्गीथ ही कालान्तर मे उसी अर्थ के साथ "उद्गीत" हुआ होगा जिसका आगे चलकर व्यवहार हुआ। इस प्रकार नाद ध्वनियो के मूल मे है क्योंकि नाद से वर्ण व्यक्त होता है। वर्ण से पद। पद से वाणी और वाणी से हमारी स्वयं की अभिव्यक्ति होती है।[3] इस प्रकार वाक् एव ध्वनि अर्थात शब्द एवं ध्वनि का आधार यही नाद है। वाक् या शब्द भावना का वाहक बनकर भाषा के रूप में अभिव्यक्त हुआ। शब्दों की उत्पत्ति के साथ-साथ ध्वनि के प्रभाव से अर्थ भी स्वयमेव उसके साथ सम्पृक्त रहा होगा। यही कारण है कि वाक् अर्थात शब्द और अर्थ को एक दूसरे का पूरक माना गया है।[4] वाक् का अर्थ स्वर या स्वरतत्री अथवा स्वर-लय या सगीत के द्वारा ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार शब्द और सगीत नाद पर आधारित होने के कारण एक दूसरे से गूढ सम्बन्ध रखते है। अर्थाभिव्यक्ति के लिये, अपनी आरम्भिक अवस्था मे, दोनो ने एक दूसरे की सहायता अवश्य ली होगी। कारण यह कि शब्द काव्य का मूर्त रूप है और अर्थ उस मूर्त रूप का प्राणतत्व या आत्मा। यद्यपि अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति केवल काव्य पाठ मे सम्भव है किन्तु सहृदय कवि को अपनी सुकोमल अभिव्यंजना की अभिव्यक्ति के लिये संगीत का आश्रय लेना होता है। वस्तुतः जब कवि के हृदय मे अनुभूतिक गुञ्जार उद्भूत होता है तो वह स्वर तथा लय का आश्रय लेकर स्वयमेव शब्द के रूप मे मूर्त होती जाती है। इस प्रकार कविता मे कवि के अन्त करण की मूर्त और कलात्मक अभिव्यंजना मनोवेगमय और संगीतमय भाषा मे अभिव्यक्त होती है। इससे काव्य का और संगीत का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थिर होता है। कविता एवं लय की ध्वन्यात्मकता अर्थात संगीत, सहृदय कवि के हृदय से झरने के सदृश प्रयासरहित नि सृत होती है। काव्य और संगीत की घनिष्ठता और अटूट सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है—"काव्य शब्दो के एक विशेष आरोह-अवरोह, संगीत-संक्रमण का सम्बन्ध तारतम्य से है। शब्द एक ओर जहाँ अर्थ की भावभूमि पर पाठक को ले जाते है वहाँ नाद के द्वारा श्रव्य-मूर्त-विधान भा करते हैं काव्य-कला का आधार भाषा है जो नाद का ही

विकसित रूप है। अस्तु, काव्य एवं संगीत दोनों के आस्वादन का माध्यम एक ही है।[5]

अनुभूति की अभिव्यक्ति का कारण सामान्यतया कवि का अहं होना है। लोक सामान्य की भावभूमि गीतो में लगभग नही व्यक्त होती है। कवि व्यक्तित्व की नितान्त निजी अनुभूति मे "लोकसामान्यता" कम, अहं की निगूढ प्रक्रिया अधिक मुखर होती है। हाँ उसका साधारणीकरण इसलिये सम्भव होता है कि यह प्रक्रिया व्यक्ति-व्यक्ति मे होती है किन्तु उसे शाब्दिक रूप तो कुशल कवि ही दे पाता है।

भावुक एवं सहृदय मानव का हृदय संवेदनाओ का सागर होता है। उसके कोमल हृदय मे अनुभूतियों का पुंज जब घनीभूत होता है तो उसकी संवेदनशीलता अत्यधिक तीव्र हो जाती है और उसकी अनुभूतियाँ स्वयमेव ही अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढने लगती है। उसकी आन्तरिक अभिव्यंजना तीव्र होकर भँवरे की गुंजार सदृश उसके मानस में गुंजरित होती है। यही गुंजार अन्त.प्रेरणा के बल पर वाह्य-शाब्दिक अभिव्यंजना का रूप ग्रहण करती है। उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति मिलकर एक हो जाते हैं। वह अपनी स्वाभाविक, मानसिक प्रक्रिया द्वारा प्रेरणा प्राप्त कर अनुभूतियो को प्रकट करता है, इससे ही सुन्दर कलात्मक एव भावप्रवण गीति-काव्य की अभिव्यक्ति होती है। यह काव्याभिव्यक्ति सहृदय कवि की अनुभूतियो के स्वर के अनुरूप ही होती है। अनुभूति जितनी तीव्रतर होती है अभिव्यक्ति उतनी ही सहज-प्रेरित एव मर्मस्पर्शी होती है तथा कविता कवि-व्यक्तित्व की झलक के साथ होती है। वस्तुत काव्य की सृष्टि भाव और वस्तु दोनों म से कोई पक्ष अकेले नही कर सकता है। काव्य तो द्रष्टा की अप्रयास शाश्वत अनुभूति की व्यंजना है, जिससे वह अलौकिक तद्गत क्षणो मे वस्तु के आन्तरिक अवस्था का परिचय प्राप्त करता है अथवा अर्न्त-दृष्टि द्वारा सत्य का उद्घाटन करता है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति के समय कवि की क्षीण चेतना, आन्तरिक व्यग्रता को व्यक्त करने के प्रति सतर्क होती है। कवि प्रत्येक पदार्थ को अपनी अर्न्तवृत्ति के आधार पर ही ग्रहण करता है और मुक्त हृदय से भावोन्मेष के क्षणों को साकार करने का प्रयास करता है। काव्य सृष्टि का प्रत्येक स्वरूप उसके मानस का प्रतिबिम्ब है। यही कारण है कि उसकी आन्तरिक अभि-व्यंजना एव उसकी बाह्य अभिव्यक्ति में स्वाभाविक साम्य होता है।

गीति से तात्पर्य स्वर, ताल और पद से युक्त गान होता है। आचार्य भरत के समय में गीति आधारभूत नियत पद समूह को "ध्रुवा" कहते है। स्वर और ताल मे जो बँधे हुये गीत होते थे वे लगभग 9वी-10वी सदी से प्रबन्ध कहलाने लगे। प्रबन्ध का प्रथम भाग जिससे गीत का प्रारम्भ होता था, उद्ग्राह कहलाता था, द्वितीय भाग मेलापक और तृतीय ध्रुव कहलाता था। यह गीत का वह अश था जो छोड़ा नही जा सकता था तथा जिसे बार बार दुहराते थे ध्रुव शब्द का अर्थ है निश्चित स्थिर

इस भाग को आजकल की भाषा मे टेक कहते है । अन्तिम भाग को अभोग कहते थे । कभी-कभी ध्रुव और अभोग के बीच में भी पद होता था जिसे अन्तरा कहते थे ।[6]

गीति शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति "गै" मे "क्तिन्" प्रत्यय लगाकर होती है तथा गीत शब्द की व्युत्पत्ति 'गै" मे 'क्त" लगाकर होती है । दोनो का अर्थ गाई जाने वाली कविता से है । हिन्दी शब्द-सागर मे भी गीति का शाब्दिक अर्थ गान या गीत दिया हुआ है । संगीत शास्त्र के अनुसार जो वाक्य धातु और मात्रायुक्त हो वही गीत कहलाता है । गीत दो प्रकार का होता है--वैदिक और लौकिक । वैदिक गीत को साम कहते है । सामवेद ऐसे ही गीतो मे रचित है । लौकिक गीत दो भागो में विभक्त है--मार्ग और देशी । शुद्ध राग रागिनियाँ मार्ग के अन्तर्गत आते है और दादरा, टप्पा, गजल, ठुमरी आदि देशी कहलाते है । गीत के दो भेद है---यन्त्र और गातृ । स्वर निकालने वाले वीणा, सितार, हारमोनियम आदि वाद्ययन्त्रो से उत्पन्न ध्वनि-समूहों के गीत को यन्त्र कहते है । साधारणतया यन्त्रो के स्वर को गीत नही कहते है । केवल गातृ को ही गीत कहते है ।[7]

भारतीय आलोचक गीति एवं गीत के बीच कोई भी विभाजक रेखा न खीचकर प्राचीन कवियों सूर, कबीर, तुलसी, मीरा आदि की रचनाओ का भी गीत शीर्षक के अन्तर्गत आलोचना करते है तो कभी गीति के अन्तर्गत । इसी प्रकार अनेक आधुनिक कवि यथा प्रसाद, पन्त, निराला एव महादेवी आदि की रचनाओ को गीति-काव्य के अन्तर्गत विवेचित किया करते है एव अनेक आधुनिक कवियो की रचनायें 'गीत' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित होती है । इसलिये गीति एव गीत मे भ्रम हो जाना स्वाभाविक है । सस्कृत मे गीति एवं गीत एक ही धातु से उत्पन्न हुये हैं । गीति एवं गीत को एक ही अर्थ का पर्याय मानकर विवेचित किया गया है । किन्तु अंग्रेजी साहित्य के अन्तर्गत गीति एव गीत को अलग-अलग करके व्याख्यायित किया गया है । अंग्रेजी साहित्य मे गीत के लिये (Song) शब्द प्रयुक्त हुआ है और गीति के लिये (Lyric) शब्द । यहाँ एक दूसरे का पर्याय न मानकर अलग-अलग माना है, यद्यपि (Lyric Lyre) या वीणा के साथ गाई जाने वाली काव्य विधा थी जो सगीतात्मक है । किन्तु (Song) शब्द का विशिष्ट अर्थ है । पाश्चात्य साहित्य मे गीत का अर्थ गाने से अर्थात् स्वर से है और गीति का तात्पर्य गाये जाने वाले गीतो की शब्द रचना से है । बंगाल के सुप्रसिद्ध कथाकार एवं आलोचक बंकिमचन्द्र ने इस सम्बन्ध मे अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किये है । उनका कथन है--- "गीत के सुडौल होने के लिये दो शर्तो की आवश्यकता है---स्वर-चातुरी और शब्द-चातुरी । इन दोनो की अलग-अलग क्षमता होती है । दोनों क्षमताये एक ही मनुष्य मे अक्सर नही देखी जाती । सुकवि और सुगायक होना हर एक को नसीब में नहीं होता ।[8]

बंकिमचन्द्र की उपर्युक्त पंक्तियाँ सत्य के निकट है । प्राय. ऐसा देखा जाता है कि गीतों कें से अधिक अच्छा गीत गाने वाले उसके गीतो को गा

लेते है। यह अन्तर सूरदास की रचनाओ और तुलसीदास की रचनाओ की सम्यक् आलोचना से स्पष्ट ज्ञात होता है। मूरदास सुकवि के साथ सुगायक अवश्य थे। तुलसीदास सुकवि तो अवश्य थे किन्तु उनके सुगायक होने में सन्देह है। यह अन्तर होने पर भी दोनो ही रचनाकारो के गीतो मे राग, लय, स्वर आदि का सम्यक् प्रयोग हुआ है। भारत मे गीति-काव्य का प्रथम उद्देश्य है—गीत का होना अर्थात् जिसमे संगीत का सम्यक् मिश्रण हुआ हो। वस्तुत. गीत और संगीत मे निकट सम्बन्ध है। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। प्रवाह और गति दोनो के अन्तर्गत विद्यमान है। गीति काव्य की प्रत्येक अग्रिम पंक्ति गति और प्रवाह को बढाती है। इसी प्रकार सगीत का प्रत्येक अग्रिम आरोह-प्रत्यारोह उसके प्रवाह को और अधिक गतिशील करता है। गीतिकाव्य में और संगीत में प्रवाह तीव्रतर होता है। गीतिकार की कविता ध्वनि एवं लय का आधार लेकर चलती है। उसकी गीतात्मक कविता मे संगीत के स्वर—वर्ण के साथ व्यजन संयुक्त रहते है। अस्तु, गीतिकाव्य मे गीत एव संगीत का समुचित मिश्रण रहता है। जितना ही उचित गीत एव सगीत का सामजस्य होता है, उतना ही गीत काव्यात्मक होता है तथा कविता उतनी ही उच्च कोटि की होती है। कविता और संगीत का समन्वय ही काव्य का श्रेष्ठतम रूप है। श्रेष्ठ काव्य में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान होता है। काव्य तो स्वतः सगीतमय होता है। रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य में संगीत का योग आवश्यक माना है—"काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है जिस प्रकार मूर्त विधान के लिये कविता चित्र-विधा की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौन्दर्य के लिये सगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है।"[9] सगीत मे दूर कविता प्रभावहीन तथा महत्वहीन हो जाती है। संगीत तो काव्य प्रवाह एवं प्रभाव को द्विगुणित कर देता है। इस प्रकार कविता की संगीतात्मकता के नष्ट होने पर उसकी दिव्य शक्ति का ह्रास हो जाता है। संगीतमय काव्य भावाभिव्यक्ति एवं भाव-सम्प्रेषण मे पूर्ण सक्षम होता है। हरवंश लाल शर्मा के इस कथन से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि "भाव सुमन सौरभ के सुन्दर संचार के लिये, पवित्र प्रेम-प्रवाह के प्रसार के लिये, शृंगार मजुमंजरी के मधुमय विकास के लिये और कविता-कामिनी के कौतुकमय विलास के लिये गीत शैली के सिवा और कौन-सी शैली उपयुक्त हो सकती है?[10] "वस्तुत. काव्य के सूक्ष्म भावो की रसाभिव्यक्ति के लिए संगीत का आश्रय आवश्यक-सा है। काव्य के पाठ से अर्थाभिव्यक्ति हो सकती है किन्तु सूक्ष्म भावो को हृदयगम कराने की शक्ति संगीत के अन्तर्गत ही है। संगीत की स्वर-लहरी जहाँ एक ओर मानव के हृदय के तारतार को झंकृत करती है वहीं काव्यार्थ के द्वारा उसे अभिप्रेत रस का आस्वादन भी कराती है। अन्त में काव्य और संगीत के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के विषय में प्रसिद्ध गायक ओंकारनाथ ठाकुर का मत देना समीचीन होगा—"मेरी दृष्टि मे अकारादि व्यंजनों के साथ "अ" आदि स्वर का जो सम्बन्ध है, देह के साथ आत्मा का जो है वही सगीत के साथ कविता का सम्बन्ध है एषा छन्दो

वाक्यप्रयोगेषु, काव्यछन्दसु, गान काव्येषु, तान सलापन, गानेषु च उच्यते। इन पंक्तियों से पता चलता है कि काव्य और गान एक दूसरे से मिले हुये हैं। माता सरस्वती के ये दो स्तन साहित्य और संगीत है, उसी का दूध पीकर साहित्यकार साहित्यकार बना है और संगीतकार, संगीतकार।"[11]

गान के साथ वाद्य का प्रयोग अत्यधिक प्राचीन है। गीतों के साथ वीणा का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से माना जाता रहा है। वाणी की देवी के साथ वीणा प्रतीक रूप में रहती है। गीतो का विवेचन करते समय उसे ब्रह्म वीणा स्वरूप माना गया है। इसी आधार पर गीतिकाव्य का एक नाम वेणुकाव्य भी मिलता है।[12]

यूनानी साहित्य मे गीति को "Lyric" कहते हैं। लीरिक की उत्पत्ति "Lyre" शब्द से मानी जाती है। "लायर" एक वाद्य-यंत्र का नाम है। जो वीणा की भाँति होता था। लायर अर्थात वीणा और गीत को अन्योन्याश्रित माना गया। इस प्रकार गीति-काव्य को वाद्ययंत्र के आधार पर लायर से लीरिक की संज्ञा दी गई। अंग्रेजी का मेलॉडी (Melody) शब्द यूनानियो के लीरिक की अपेक्षा अधिक उपयुक्त अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। यूनानी अपने गीति-काव्य को "मेलोप्वायस" कहते थे। यूनानी भाषा मे "मेलास" का अर्थ होता है—गान। मेलिक पोयेट्री अर्थात संगीत-काव्य के साथ लायर अर्थात वीणा का अत्यधिक सम्बन्ध है। इस प्रकार प्रारम्भ मे गीतों का विकास किसी न किसी वाद्ययंत्र पर आधारित अवश्य रहा है।

गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का सामंजस्य नाटकों में अनुरजनकारी गुण भरता है। वाद्य और नृत्य का प्रयोग होने पर भी प्राधान्य गीतो का रहता है। क्योंकि भावो का वाहक होने के कारण वह अन्तर-संज्ञा में सुसरस को जागृत करने या संचरण करने का उपक्रम करता है। नृत्य वाद्य का अनुयायी है और वाद्य गीत का, इस प्रकार गीत ही प्रधान है। वस्तुत गीत स्थूल अभिव्यक्ति न होकर सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। मानस का पक्ष इसमे प्रधान होने के कारण इसका महत्व प्रतिष्ठित हुआ।

वैदिक साहित्य, विशेषकर सामवेद की गीतात्मक प्रवृत्ति से, यह तो स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की प्रथम अभिव्यंजना गीति या गान के रूप मे ही हुई होगी किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत गीतिकाव्य की समीक्षा नहीं प्राप्त होती। जिससे गीतिकाव्य को प्राचीनता का श्रेय भी नहीं प्राप्त हो सका। भारतीय साहित्य के आदिप्रणेता वाल्मीकि कवि माने जाते हैं। क्रौंच-वध की मर्मान्तिक वेदना से उद्भूत आदिकवि वाल्मीकि के हृदय से स्वत ही मार्मिक करुण व्यंजना का स्वरूप अनुष्टुप छन्द मे प्रस्फुटित हुआ। किन्तु वैदिक साहित्य में ही अनुष्टुप छन्द की काव्यात्मकता एव मार्मिकता का कही भी अभाव नहीं मिलता। इसलिये वाल्मीकि को अनुष्टुप छन्द का जन्मदाता मानना अनुपयुक्त एवं असंगत प्रतीत होता है। भारतीय साहित्य के इतिहास मे प्रथम अभिव्यक्ति के रूप मे प्रबन्ध

काव्य को ही स्थान दिया गया है। काव्यशास्त्रीय समीक्षा के अनुसार काव्य के दो भेद होते है—श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य। इसमे श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध का और दृश्यकाव्य के अन्तर्गत नाटक का विस्तार से विवेचन किया गया है। तीसरा विभाग मुक्तक का माना गया है। किन्तु इसे अपेक्षाकृत गौण माना गया है। परन्तु मुक्तको के अन्तर्गत भी गीति का विवेचन नही मिलता है। यह लक्षित करने की बात है कि वस्तुगत तत्व की दृष्टि से प्रत्येक गीतिकाव्य मुक्तक हो सकता है किन्तु प्रत्येक मुक्तक गीतिकाव्य नही कहा जा सकता।

भारतीय साहित्य में भी गीतो का स्वतंत्र विवेचन सर्वप्रथम सगीत के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। वहाँ संगीत को गीत, वाद्य तथा नृत्य —तीनो का सम्मिलित रूप माना गया है

गीत वाद्य च नृत्यं च त्रय संगीतमुच्यते।[13]

बहुत बाद मे चलकर मुक्तको का विवेचन मिलता है। स्वत पूर्ण, तादात्म्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण मुक्तक काव्य मुक्तक कहलाता है। मुक्तक के दो भेद होते है—(1) पाठ्य मुक्तक और (2) गेय मुक्तक।

पाठ्य मुक्तको मे पूर्वापर सम्बन्ध न होते हुये भी कवि की दृष्टि विषय प्रधान रहती है। किन्तु गेय मुक्तको मे विषय की ओर दृष्टि न रहते हुये भी कवि कविता की रचना करता है, यद्यपि इसमे उसकी भावनाओ के साथ-साथ विषय का समावेश होता है।

गेय मुक्तक को प्रगीत, गीत या गीति कहते हैं। इन्हे सभी दिशाओ मे हृदय की उन्मुक्तता के साथ-साथ विचरण करने की स्वतन्त्रता है। किन्तु मुक्तको की भाँति गीति-काव्य के पदो अथवा पद्यो का निरपेक्ष मात्र होना पर्याय नही बल्कि एक रागात्मक आवेश की संगीतात्मक अभिव्यक्ति भी अपेक्षित है किन्तु रागात्मक आवेश के साथ।

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत जो काव्यांग विवेचन उपलब्ध होता है, उसके अन्तर्गत भी काव्य के अन्तरग पक्ष का विवेचन-विश्लेषण उतनी तन्मयता से नही किया गया हैं जितना काव्य के बहिरंग का। अनुभूति के विवेचन मे रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा और उसका विवेचन प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसमे भी काव्य के परिणाम का ही विश्लेषण है। इस प्रकार काव्यागो के विवेचन मे गीति-काव्य की स्थिति गौण सी हो गई है। काव्याभिव्यक्ति वाणी के माध्यम से होती है और वाणी का आधार शब्द है। शब्द से ही काव्य की उत्पत्ति होती है। काव्य से मनोविकार उत्पन्न होते है और मनोविकारो को ही भाव की संज्ञा दी गई है।

काव्य की इन विवेचनाओं के साथ प्राचीन आचार्यो ने इसकी अनेक प्रकार से पूर्ण परिभाषायें देने की चेष्टा की है। आचार्य मम्मट ने दोषहीन, गुणयुक्त, अलंकारयुक्त और कहीं-कहीं अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य की संज्ञा दी है।[14] यह परिभाषा काव्य की का अधिक विवेचन करती है तथा पारिभाषिक

शब्दो के प्रयोग यथा—दोष, गुण, अलकार आदि के बीच से गीतिकाव्य के पारिभाषिक तत्व की निष्पत्ति नही हो पाती है। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य को रसात्मक वाक्य के रूप मे माना है।[15] रस को महत्व देने के कारण इस परिभाषा का अत्यधिक प्रचार एव प्रसार है। परिभाषा की आलोचना परिणाम की ओर सकेत करती है। परिणाम में रस, रसाभास तथा रसोद्रेक आदि काव्य की आत्मा को ग्रहण किया गया है। इससे काव्य का बहिरंग पूर्णतया उपेक्षित हो जाता है। किन्तु गीति-काव्य मे अन्तरंग और बहिरंग का, भावतत्व और वस्तुतत्व का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। अत. दोनो को एक साथ समेटती हुई परिभाषा होनी चाहिये। पंडित राज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है।[16] रमणीयार्थ की व्याख्या यदि कोमलकान्त पदावली और भाव-विदग्धता के रूप मे हम करते है तो इस परिभाषा से हमारा कुछ मन्तव्य-गीति-काव्य के अनुकूल प्राप्त होता है। परन्तु उपर्युक्त आचार्यों की परिभाषाओ की सम्यक् आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सभी परिभाषाये पूर्णतया गीति-काव्य के उपयोग की नही है। कारण यह कि आचार्यों ने काव्य के तत्व और साधन उपादान पर अधिक विचार किया है। अन्तरग की व्याख्या लगभग नही की है। जहा कही भी है, वहाँ आनन्द और उपभोग पक्ष पर बल दिया गया है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्य के वर्ण्य तथा काव्य के ग्रहण पक्ष की विशेष व्याख्या-आलोचना की है किन्तु काव्य का तीसरा पक्षकाव्य-उद्रेक का विवेचन नहीं किया है। इस प्रकार काव्य के उद्गम पर विचार न करके उसके सामाजिक पहलू पर विचार किया गया है। काव्य उद्रेक के कारणो अर्थात् कवि के मनोवेगो के स्थिति तथा काव्य संरचना की प्रेरणाओ पर विचार नही व्यक्त किया गया है।

अतएव गीतिकाव्य की परिभाषा के शोध के लिये सगीत-शास्त्र की ओर दृष्टि डालना असगत न होगा। नारद के संगीत-मकरन्द में गीतों के गुण-दोषों का निरूपण किया गया है। इसके विवेचन से गीतो के बहिरंग का निरूपण हो जाता है। किन्तु अन्तरंग की स्थिति उसी प्रकार अपूर्ण बनी रहती है। गीतो के बहिरग स्वरूप निर्धारण में यह तथ्य प्रकट होते है —

(क) गीतो को गेय होना चाहिये।
(ख) उसके लिये किसी न किसी वाद्ययन्त्र की आवश्यकता होती है।
(ग) गीतों में कोमलकान्त पदावली होना चाहिये।
(घ) माधुर्य का समावेश होना चाहिये।
(च) कलात्मकता के हेतु अलंकृत होना चाहिये।

वस्तुतः सगीत से सम्बन्धित होने के कारण गीतो के अन्तरग का विश्लेषण नहीं किया गया है।

जहाँ प्रबन्ध मे श्रेय की अनुभूतियों का कथात्मक चित्र के रूप में उल्लेख होता है वहाँ गीति-काव्य मे स्वयं कवि की अन्तर्वृत्ति का निरूपण अहम् के द्वारा

होता है। यही व्य अन्तर गीति-काव्य और प्रबन्ध-काव्य में है। गीति पूर्णतया अहम् पर आधारित है। कवि के भावो का उद्रेक जितना ही तीव्र होगा अर्थात् कवि-भावो की गहनता मे जितना अधिक प्रवेश कर सकेगा, गीति की व्यजना उतनी ही मार्मिक एवं तीव्र होगी। कवि का आत्म-मन्थन ही उसके भावो मे तीव्रता लाता है। कवि के हृदय में भावावेश अधिक समय तक सुरक्षित नही रह पाते। यही कारण है कि वे स्वाभाविक रूप मे अनायास निकलने लगते है। अत्यल्प समय की यह अनुभूति लघु आकार मे भावयुक्त गीतो मे व्यजित होती है। कवि की भावानुभूति अलग-अलग समयो में विभिन्न प्रकार की होती है। यही कारण है कि अनेक गीति-कविताओं या पदो को एक साथ जोडकर एकात्मकता या भाव की अन्विति नही दी जा सकती है। अनुभूति के विभिन्न स्रोतो के कारण कविता भी अलग-अलग अनुभूतियो की अभिव्यक्ति करती है।

गीति-काव्य की विविधता एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिये होती है। वस्तुत गीतिकाव्य में भाव की अन्विति और एकता का होना भी आवश्यक है। गीतो को परिभाषित करते हुये महादेवी जी ने लिखा है...''गीत व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।[17]

इसी प्रकार अनेक आधुनिक आलोचकों या व्याख्याकारो ने गीति-काव्य की परिभाषा देने का प्रयास किया है। रामखेलावन पाण्डेय ने अपने ''गीतिकाव्य'' मे गीति की परिभाषा देते हुये लिखा है—''सजीव भाषा मे व्यक्ति के आन्तरिक भावो की सक्षम अभिव्यंजना सगीतात्मकता के आग्रह के साथ जिसमें होती है, वह गीति-काव्य है।[18]

बाबू गुलाबराय अपने ''सिद्धान्त और अध्ययन'' में गीति-तत्वो को स्पष्ट करते हुये परिभाषा देते है—''संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमलकान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्राय आत्म-निवेदन के रूप मे प्रकट होती है), संक्षिप्तता और भावों की एकता, यह काव्य की अन्य विधाओ की अपेक्षा अधिक अन्त प्रेरित होता है और इसी कारण इसमे कला होते हुये भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।''[19]

भक्तिकालीन गीति-कविताओ या पदो को दृष्टि में रखते हुये, उपर्युक्त विस्तृत व्याख्याओ मे जो निष्कर्ष सम्मुख आता है, उससे गीति-काव्य को इस प्रकार पारिभाषित किया जा सकता है—**''मानव हृदय की वैयक्तिक रागात्मक अभिव्यंजना की संगीतमय अभिव्यक्ति ही गीति-काव्य है।''**

गीति का भारतीय अभिधान

भक्तिकाल गीति-काव्य का स्वर्ण-युग माना जा सकता है। भक्तिकालीन साहित्य का कलेवर गीति-पदो मे प्राप्त होता है। ये पद सगीत की शास्त्रीयता से एक ओर जहाँ पूर्ण हैं वही इनमें काव्य-सौष्ठव की भी पूर्णता है इस प्रकार सगीत और

काव्य की चरम परिणति और अपूर्व समन्विति मिलती है। इस काल मे सगीत की राग-रागिनियो का इतना अधिक विकास हो चुका था कि आज कुछ राग-रागिनियो के विषय मे स्वर आदि का ज्ञान अनुपलब्ध हो चुका है। प्रत्येक कवि अपनी भक्ति-परक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति सगीत की बन्धी-बन्धायी परिपाटी मे आबद्ध कर व्यक्त करने मे कुशल था। यह अभिव्यक्ति परम्परा से प्राप्त पदो के परिष्कृत रूप मे हुई है। भक्तिकाल को परम्परा से उत्तराधिकार के रूप मे उपलब्ध संस्कृत साहित्य का काव्य-कौशल, शब्द-सगीत, प्राकृत-अपभ्रंश की पद-शैली, लोकगीतो की सहज धुन तथा शास्त्रीय-संगीत की राग-रागिनी का विधान प्राप्त हुआ। यद्यपि काव्य एवं सगीत का विकास कभी एक साथ तो कभी अलग-अलग होता दृष्टिगत होता है किन्तु भक्ति-काल मे दोनो का जो समन्वित रूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है उसमे ही गीति-काव्य का सर्वोच्च विकास इस काल मे माना जा सकता है। इस सर्वोच्च विकास की पृष्ठभूमि धीरे-धीरे बनकर तैयार हुई।

हम कह चुके है कि गीति-भावना मानव की आदिम अभिव्यक्ति है। गीति भावना की सम्यक् अभिव्यक्ति प्राचीनतम वेद—ऋग्वेद की ऋचाओ मे हुई है। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि मानव अपना जीवन-यापन सामूहिक रूप से किया करता था। इस समय व्यक्ति की अपेक्षा समाज का विशेष मूल्य था। उसके धार्मिक कृत्य तथा सामाजिक उत्सवादि सम्मिलित रूप में हुआ करते थे। यही कारण है कि उस काल की ऋचाओ में धार्मिकता, सामाजिकता तथा ऋतु-परिवर्तन आदि का वर्णन मिलता है। वैदिक ग्रन्थो के अनुशीलन से स्पष्ट है कि आर्य अत्यन्त भावुक थे और उनका प्रत्येक कार्य-व्यापार सृष्टि की रागात्मकता मे जुड़ा हुआ था। यही कारण है कि ऋग्वेद मे गीति-भावना का पूर्ण विकसित रूप परिलक्षित होता है। यद्यपि इन विकसित गीति-भावनाओ का विकास किस प्रकार हुआ, यह अज्ञात है किन्तु परवर्ती गीति-पदो के विकास-क्रम को देखकर यह कहा जा सकता है कि इनका विकास लोक-गीतो से हुआ होगा। साहित्य का विकास जनसाधारण की जन-भावना एव जनभाषा से होता है। वैदिक ऋचाओ मे प्राप्त गीतिभावना का विकास भी इसी प्रकार हुआ होगा।

प्रारम्भिक अवस्था में गीत गेय थे। मिलन-विरह, हर्ष-शोक, आनन्द-विषाद का चित्र भावुकता द्वारा नही वरन् सगीत और गेयता द्वारा उपस्थित किया जाता था। यही कारण है कि वैदिक वाङ्गमय के अन्तर्गत संगीत का अनिवार्य समावेश उपलब्ध है। वेद की ऋचाये विशिष्ट राग मे आबद्ध है इससे यह स्पष्ट होता है कि काव्य और सगीत मे भेद नही माना जाता था। ऋचाओ को पढने के लिये स्वरो के तीन भेद किये गये थे— उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। चार वेदो मे सामवेद तो पूर्णतया संगीतमय है।

वैदिक युग में काव्य-कला अपना उच्च स्थान रखती थी। भावुक सहृदय कला प्रेमी आर्य तो थे ही साथ ही कला की सम्यक भी करते

थे। भाव और वस्तु दोनो मे से कोई पक्ष अकेला ही काव्य की सृष्टि नही कर सकता है। काव्य तो द्रष्टा की अप्रयास शाश्वत अनुभूति की अभिव्यजना है जिसमें वह किसी अलौकिक तद्गत क्षण में वस्तुओ की आन्तरिक अवस्था का परिचय प्राप्त करता है अथवा अन्तरदृष्टि द्वारा सत्य का उद्घाटन करता है। अस्तु सौन्दर्य-भावनाओ की प्रधानता के साथ ही गीति-भावना का विकास प्रारम्भ हो चुका था।

वैदिक कवि काव्य की गीतात्मक प्रवृत्ति का विकास धीरे-धीरे कर रहे थे। इसी से एक स्थल पर कहा गया है—

हसा इव कृणुथ श्लोकम्।[20]

कवि को अपनी कविता का रूप एवं स्वर हसों की सम्मिलित ध्वनि के समान सामूहिक गान (सामवेद गान) के रूप मे निर्मित करना होता था। कविता की यति और गति मे हस के मथर चाल की शालीनता का समावेश करना होता था।

ऋग्वेद मे गीतात्मक प्रसगो के शोध से मेरा यह तात्पर्य नही है कि उसमे गीतात्मकता अपने पूर्ण विकसित रूप मे प्राप्त होती है अथवा गीति काव्य का प्रारम्भ ऋग्वेदो मे हुआ और न तो भक्तिकालीन गीति-पदो की सभी विशेषताओ का विकास खीच-तान कर वैदिक युग से दर्शाने का अभिप्राय है। हॉ आलोचना का यह लक्ष्य अवश्य है कि गीति-भावना अनादि काल से भारतीय वाङ्गमय मे प्रवाहित होती रही है। भले ही काव्य-शास्त्रियो ने इसका स्वतन्त्र विवेचन नही किया हो। किन्तु भक्तिकालीन गीति भावना की प्रौढ पूर्व-पीठिका अवश्य थी जो समय पाकर मुखरित हुई। प्रारम्भिक वाङ्गमय मे गीत का अर्द्ध विकसित रूप हमे दृष्टिगत होता है। अभी तो भाषा, भाव और कल्पना का सामंजस्य प्रारम्भ हुआ था। अभी तो गीति "गान" का ही पर्याय था और इस गान की अभिव्यक्ति ऋग्वेद के अनुसार सामूहिक थी। परन्तु गीति काव्य के लिये जिस व्यक्तिनिष्ठ व्यंजना, भावाभिव्यक्ति एवं भाव प्रवाह की आवश्यकता होती है वह अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है। ऋग्वेद मूलत धार्मिक काव्य है। परन्तु अनेक स्थलों पर आत्म-निवेदन का प्राधान्य है, जो गीति काव्य का एक अन्यतम लक्षण है।

समस्त वैदिक साहित्य गेय है। वेद की ऋचायें एक विशेष ढंग से गाकर पढी जाती थी और उस पाठ्य परम्परा की छोटी-सी त्रुटि भी अपराध समझी जाती थी। इस प्रकार सगीत के लय-ताल का विशेष महत्व है। कालान्तर के गीति-पदो मे विकसित टेक पद्धति का विकास यही से माना जाता है। इस टेक पद्धति के दो रूप यहाँ दिखाई पडते है—प्रथम मे तो शुद्ध गीति-कविता की भॉति कवि प्रत्येक ऋचा के अन्त में उस टेक को लय-यति आदि के साथ दुहराता है। द्वितीय मे कथोपकथन के रूप मे मात्र सगीत-सामजस्य बनाये रखने के लिये उक्त टेक की पक्ति की सगीतमय आवृत्त करता है।

ऋग्वेद के अन्तर्गत अनेक गीतात्मक प्रसग हैं। वैदिक मनीषियों ने उषा का जितना रसयुक्त उदात्त एव शालीन चित्रण किया है बाद के

साहित्य मे वैसा चित्र अनुपलब्ध है।[21] इसी से मैकडानल ने लिखा है "वैदिक काव्य साहित्य मे ऊषा का चित्रण अत्यन्त गौरवपूर्ण एवं शालीन है, विश्वसाहित्य के किसी भी वर्णनात्मक धार्मिक गीति-काव्य मे इतना आकर्षक दूसरा स्वरूप प्राप्त नही है और न याज्ञिक कर्मकाण्डों के विवरण द्वारा कल्पना का सौन्दर्य ही फीका पड सका है।"[22]

ऋग्वेद मे अन्य गीतात्मक प्रसग है—सोम के मादक स्वरूप का वर्णन (9/93/2), पुरुरवा-उर्वशी सवाद (10/85/1); यम-यमी सवाद (10/10/1) तथा समरपाणि संवाद (10/130/1)।

इनमे शुद्ध गीति-काव्य की विकसित भावना का रूप स्पष्ट लक्षित होता है। यह भी सम्भावना सत्य प्रतीत होती है कि इन अनुभूतियो का सम्बन्ध कवि की व्यक्तिगत भावना से रहा होगा। यही कारण है कि गीति-काव्य का अन्यतम तत्व-व्यक्तिगत अनुभूतियो का प्रक्षेप—इन सवाद-सूत्रो मे स्पष्ट लक्षित होता है साथ ही अत्यन्त तीव्र रागात्मकता भी इनकी विशेषता है।

यम-यमी के भावोद्गारो मे माधुर्य भाव की आत्माभिव्यक्ति हुई है जिसमे एक ओर भावोद्गारो की अत्यधिक तीव्रता दिखाई पडती है वही वस्तुगत और भावगत सौन्दर्य भी उत्कृष्ट है। इसी वस्तु और भाव की पृष्ठभूमि पर बाद मे भक्तिकालीन गीतिकाव्यात्मक साहित्य विकसित हुआ होगा।

ऋग्वेद का काव्यात्मक स्वरूप सामवेद मे और निखर जाता है। सामवेद के उपवेद गान्धर्व मे नाट्य और सगीत की चर्चा की है। सामवेद में उदात्त और अनुदात्त स्वरो का सम्यक् वर्णन है। इसके साथ नारदीय शिक्षा के अनुसार सामगान के सप्त स्वरो का संगीत शास्त्र के सात स्वरों से सम्बन्ध है। साम सहिता की प्रथम ऋचा इस प्रकार गाई जा सकती है—

ओ ग न इ। आ या हि इ वो इतो या आयि। तो या आ इ।
सा सा स। गा गा ग रिमा म मा मा ग। मा मागग ग॥[23]

वस्तुत. वैदिक साहित्य संगीत पर ही आधारित है। जैमिनि ने "गीतिपु सामाख्या" में साम का अर्थ गान अथवा गीति बतलाया है। गान विशेष का रथन्तर, वृहत् आदि नामकरण है। सामान्य वाची साम शब्द है और रथन्तर, वृहत् आदि शब्द गान विशेष के वाचक है इस समय गान चार प्रकार के होते थे—(1) वेयगान या ग्रामे गेय गान, (2) आरण्य—गान, (3) उह्गान, तथा (4) उह्यगान। वैदिक साहित्य मे सगीत का अत्यधिक विकसित एवं समुन्नत प्रयोग लक्षित कर बल्देव उपाध्याय ने सत्य ही कहा है—"भारतीय संगीतशास्त्र का मूल इन्ही सामगायनो पर अवलम्बित है। भारतीय सगीत जितना सूक्ष्म, बारीक, तथा वैज्ञानिक है वह सगीत के समझदारो से अपरिचित नही है, परन्तु विद्वज्जनो की अवहेलना के कारण उसकी इतनी बडी दुरवस्था आजकल उपस्थित है कि उसके मौलिक सिद्धान्तो को एक बडी विषम समस्या है साम-गायन पद्धति के रहस्य का ज्ञान उसी

प्रकार दुरूह है। एक तो यों ही साम के जानने वाले कम हैं तिस पर सामगानो को ठीक स्वरो मे गाने वालो की सख्या तो उँगलियों पर गिनने लायक है, परन्तु फिर भी जानने वालो का नितान्त अभाव नही है। यदि गायक के गले मे लोच हो और वह उचित मूर्छना, आरोह और अवरोह का विचारकर सामगायन करें, तो विचित्र आनन्द आता है। वह साम मंत्रार्थ न जानने पर भी हृदय को बरबस खींच लेता है। इसके लिये साम-वेदीय शिक्षाओं की शिक्षा परमावश्यक है।"[24]

इस प्रकार वैदिक छन्दो की सम्यक् आलोचना से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋचाओ मे काव्य और संगीत का समतुल्य सामंजस्य है जिससे इन ऋचाओ मे व्यजनात्मक कल्पना का विस्तार तथा भावना मे प्रवाह लाने की क्षमता और चित्त-वृत्तियों को केन्द्रित करने की शक्ति स्वयमेव आ गयी। अधिकाश ऋचाये स्वानुभूति व्यजक है। राग को एकात्मकता अनुदात्त लय के सन्तुलन के लिये छन्दो में उदात्त स्वरों के उच्चारण पर विशेष बल दिया गया है। ऋचाओं की गीतात्मक व्यंजना को देखकर यह सम्भावना पूर्ण हो जाती है कि इनका विकास लोकगीतों से हुआ।

भारतीय साहित्य मे गीतो की अवधारणा एवं उनके स्वरूप निरूपण तथा विकास की दृष्टि से वैदिक साहित्य के उपर्युक्त विवेचन का विशेष महत्व है। गीतो का जो सूत्र कालान्तर में प्राप्त होता है वह एक बृहद विकास का कारण है। वैदिक साहित्य की भावात्मक एवं काव्यात्मक वस्तु को, भक्तिकालीन सम्पूर्ण साहित्य के साथ रखकर यदि हम विवेचित करे तो अनेक महत्वपूर्ण बातें दोनो मे समता की ओर संकेत करेगी जिनमें सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण तो यह है कि काव्य और संगीत का जो अटूट सम्बन्ध हमे वैदिक युग मे दृष्टिगत होता है वह भक्तिकाल में पुन प्रकट होता है। सगीत को अलग करके काव्य को भाव एव अर्थ की दृष्टि से परखा नही जा सकता। दूसरी ओर जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है वह यह कि वेद जैसे धार्मिक साहित्य मे भी यत्र-तत्र लौकिक भाव-भूमि का वर्णन मिलता है। भक्तिकाल मे जबकि सम्पूर्ण साहित्य भगवत भक्ति विषयक कलेवर से युक्त है, लौकिक भाव-भूमि को अलौकिकता का आवरण पहनाकर अभिव्यक्त किया गया है। भक्तिकालीन साहित्य की वैविध्ययुक्त भावभूमि मे कही तो लौकिकता का तिरस्कार सन्तों द्वारा किया गया है और कही लौकिक सम्बन्धो को आदर्श की बागडोर से बाँधने का प्रयास तुलसी ने किया है, किन्तु इन सबसे अलग कृष्ण-भक्तों ने, वैदिक सवाद-सूक्तो की भावात्मक व्यजना के अनुरूप ही मानव के अनादि एवं असीम लौकिक सम्बन्धो को अलौकिकता के धरातल पर लाकर वर्णित किया है। इतनी विशाल भावभूमि की पूर्व-पीठिका एकाएक बनकर तैयार नही हुई वरन वह अत्यन्त प्राचीन साहित्य, वैदिक साहित्य, से ही आई होगी। धर्म और काव्य का जो सम्बन्ध वेदो के बाद धीरे-धीरे क्षीण होकर समाप्त सा हो गया था वह भक्तिकाल मे पुन जुड गया।

वैदिक साहित्य के उपरांत काव्य और सगीत ने धीरे धीरे अपना अलग

रास्ता बनाना प्रारम्भ किया। गीति के विकास की यह दूसरी अवस्था मानी जा सकती है। उपनिषद्, पुराणों में गीतिभावना का क्षीण प्रकाश मिल जाता है किन्तु काव्य की गीतिमयता जो संगीत पर आधारित थी वह समाप्त हो गई। आगे चलकर काव्य जब लोक जीवन से सम्बद्ध होता है तभी गीति तत्व पुनः साहित्य मे मिलने लगते है। रामायण और महाभारत के इतिहास परक घटनात्मक काव्य मे गीति-तत्वों का क्षीण स्रोत लक्षित होता है। रामायण और महाभारत मे जहाँ पात्र स्वय शैली मे कथन करते है वही गीति की कलात्मकता झलकती है। रामायण में सगीता-त्मकता स्पष्ट है। रामायण का अनुष्टुप वृत्त गेय है। क्रौंच मिथुन के दुःख से कातर सहसा कवि की वाणी से निकला हुआ पद समम्न गीति तत्वो से युक्त है। इसका विवेचन स्वयं वाल्मीकि ने इस प्रकार किया है कि मेरे मुख से जो वाणी निकली है वह पद्यबद्ध है, उसमे समान अन्तर है, लययुक्त है। शोक की दशा मे मेरे मुँह से इस प्रकार की जो वाणी सहसा निकली है वह श्लोक है।[25] इस कथन मे गीति के सभी उपादान सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था का सहजोद्गार पाद-बद्धता, समान अक्षर और लय (गेयता) का स्पष्ट उल्लेख है।

महाभारत मे भीष्मपर्व मे भी गीतितत्व का सम्यक् उन्मेष दृष्टिगत होता है किन्तु भक्तिपरक सस्कृत साहित्य श्रीमद्भागवत मे अवश्य कुछ ऐसे प्रसग है जिनमे प्रेम है, प्रेम करने की इच्छा से, विरह की सम्भावना मे अथवा ससार की कटुता से हृदयो-द्गार गीत रूप मे स्वत निकल पड़े है। भागवतकार ने उनका नामकरण किया है। यथा—वेणुगीत, गोपिका-गीत, युगलगीत, भ्रमरगीत, द्वारका की श्रीकृष्ण-पत्नियों का गीत, पिंगलगीत, भिक्षुगीत, ऐलगीत और भूमि-गीत। इन गीतो के स्थल, भाव और शैली गीति के लिये सर्वथा अनुकूल पडते है। भ्रमरगीत मे तो गीत का वह स्वरूप है जिसमे अन्तर्वेदना की परमावस्था की अभिव्यक्ति होती है। प्रेमिका इतनी अधिक विरह विदग्ध है कि वह अपने आस-पास के वातावरण को भूल जाती है। इसी तरह ऐलगीत, भिक्षुगीत और पिंगलगीत आदि मे सासारिक व्यामोह से उत्पन्न कटुता के अनुभव से क्षोभजन्य हृदय के निर्वेदजन्य भावोद्गार की अभिव्यक्ति है। शिल्प की दृष्टि से भागवत् के ये प्रसग गीतिविधान के अनुपयुक्त हैं, किन्तु आत्मा की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल है। सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य मुख्यतः कृष्णभक्ति साहित्य को भाव की पृष्ठभूमि के रूप मे श्रीमद्भागवत प्राप्त था। गीति-कविता की संभा-वना को प्रत्यक्ष किया सूर ने। अपनी पदशैली वाले "भ्रमरगीत" को उन्होने अनूठा गीति-काव्य का सग्रह बनाकर उपस्थित किया। कल्पना और भावुकता के सगम, पदात्मक अभिव्यक्ति की सक्षिप्तता, भाव की सघन तीव्रता एवं तीव्रताजन्य एकान्विति से यह प्रसग भक्तिकालीन गीतिकाव्य मे मीराबाई की गीतियों के बाद अपना स्थान सुरक्षित कर लेता है।

शृगारिक काव्यो के अन्तर्गत सगीत और गीतिकाव्य अपना अलग-अलग अस्तित्व निर्धारित कर लेते हैं रचनाओ में गीति-तत्व का पूर्ण लक्षण

दृष्टिगत होता है। संस्कृत साहित्य तो प्रेमगीतों से अत्यन्त पुष्ट है। प्रेम कथानको में कवि अपने उद्गारो की अभिव्यक्ति किसी न किसी माध्यम से करता रहा है। कालिदास के मेघदूत मे गीतिमयता पूर्ण आग्रह के साथ व्यक्त हुई है। दूत शैली मे लिखा गया, विरहानुभूति के इस काव्य मे विरह विदग्ध नायक यक्ष, मेघ को दूत मानकर उससे अपने हृदय के उद्गारो को व्यक्त करके अपनी प्रेमिका के पास भेजना चाहता है। वस्तुत यक्ष के माध्यम से कवि ने मानवीय भावों का इतनी कुशलता के साथ चित्रण किया है कि यह सम्भावना सत्य प्रतीत होती है कि कवि ने अपनी विरह व्याकुलता का आरोपण अपने पात्र यक्ष पर किया है।

गीति की दृष्टि से जयदेव के "गीति गोविंद" मे गीति-तत्व पूर्णता से उपलब्ध होते है। जयदेव का गीतिगोविन्द यद्यपि संवाद शैली मे लिखा गया है, तथापि राधा-कृष्ण के माध्यम से नायक-नायिका का शृङ्गारपरक चित्रण किया गया है। गीत गोविन्द मे एक ओर जहाँ संगीत की प्रमुखता है वही काव्यत्व भी निखरा हुआ है। इस काव्य मे संगीत के ताल, राग और लय का समुचित प्रयोग किया गया है। सम्भवत' कवि की दृष्टि सगीत की ओर विशेष रूप से थी। इसका अत्यधिक प्रभाव बाद के साहित्य पर पड़ा। विद्यापति ने तो गीत गोविन्द की काव्यवस्तु का पूर्ण उपयोग अपनी कृति मे किया है। सूर ने विद्यापति की परम्परा को आगे बढाया तथा पुष्ट किया। इस क्रम विकास से यह लक्षित होता है कि वेद मे सवाद सूक्त की जो गीतिमयता थी उसे संसिद्ध किया जयदेव ने। जयदेव ने अपने काव्य को "गीत" का नाम भी दिया। विषयवस्तु, कवि व्यक्तित्व की निबिड सम्पृक्तता तथा रागात्मक अभिव्यजना की मौढ़ता के कारण अनेक प्रेम-प्रसगो की इस संगुम्फित शैली को "गीत" ही कहा। विद्यापति ने सवाद शैली को त्यागकर पद शैली के मार्ग का अनुगमन करते हुए गीति तत्वो को और निजता प्रदान की। सूरदास ने इसी पद शैली के अन्तर्गत वर्णनात्मक कथा प्रसंगो का तथा गीतिमय भावात्मक एवं अनुभूतिमय प्रसंगो का वर्णन किया है। वर्णनात्मक और भावात्मक सभी स्थलो पर गीति लालित्य का सुन्दर परिपाक किया है। वस्तुत पदशैली ही भक्ति की गीतिविद्या का वाहक बनी। सभी कवियो ने अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार, अपनी अनुभूतियो को अभिव्यजना का माध्यम बनाकर, गीतिकाव्य को सकुलता प्रदान की।

भक्तिकाल मे स्तोत्र गीति पदो का आधिक्य है। इसकी भी पूर्वपीठिका सस्कृत साहित्य से ही उपलब्ध होती है वस्तुत भारतीय साहित्य, धर्म, दर्शन एव भक्ति-तत्व से ओतप्रोत है। यही कारण है कि गेयता स्वाभाविक रूप मे इस प्रकार के काव्य मे उपलब्ध होती है। जहाँ कहीं करुणाश्रित होकर अथवा भाव-विह्वल होकर कवि अथवा भक्त प्रभु के समक्ष आत्मनिवेदन प्रस्तुत करना है, प्रभु की महिमा, उदारता तथा अपनी दीनहीनता का वर्णन करता है वहीं काव्य मे गीतिमयता

स्वयमेव आ जाती है। स्तोत्र प्रधान पद शैली का एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। शंकराचार्य का एक अति प्रसिद्ध पद, पद-शैली के विकासात्मक इतिहास में प्रथम गीति पद गिना जाना चाहिये—

> भज गोविन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढ मते।
> प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ करणे।
> वालस्तावत् क्रीडासक्त. तरुणस्तावत् तरुणीरक्त.।
> वृद्धस्तावत् चिन्तामग्न. पारे ब्रह्माणि कोऽपि न लग्न.।
> भज गोविन्द भज गोविद, गोविन्द भज मूढ मते॥

इस स्तोत्र की स्वरलहरी अपूर्ण है किन्तु पद रचना गीति की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। प्रथम पक्ति गीति की टेक बन जाती है और पद के प्रत्येक चरण के साथ जुडकर गायी जाती है। रसात्मकता से प्रत्येक पक्ति ओतप्रोत है। स्तोत्रो की इस परम्परा का सन्तो के गीतो पर अत्यधिक प्रभाव पडा। सन्तो के विनय के पदो मे प्रभु ऐश्वर्य, उदारता, भक्तवत्सलता आदि की लम्बी सूची तथा दीनता मान मर्षण आदि की जो प्रवृत्तियाँ मिलती है उन पर सस्कृत स्तोत्र साहित्य का प्रभाव अवश्य है। पद-रचना पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि जैसे-जैसे सगीत का विकास होता गया, गाये जाने वाले स्तोत्रो पर उनका प्रभाव बढता गया और स्तोत्रो की भावुकता, रसात्मकता तथा भाव-प्रवणता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। स्तोत्रों का वृहत् रूप सरलीकृत होकर संतों के विनय के पदो मे अवशिष्ट रह गया।

बौद्ध धर्म के उदय के साथ-साथ पालि साहित्य भी प्रकाश मे आया। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने परम्परा एवं रूढि को छिन्न-भिन्न करके मानव जीवन को नई दिशा देने का प्रयास किया था। ऊँच-नीच, जाति-भेद आदि को समाप्त करके मानव की समानता का स्वर ऊँचा करने वाले बौद्ध धर्म ने बाद मे चलकर सन्त शैली के गीति-पद के लिए एक विस्तृत भावभूमि तैयार कर दी। किन्तु बौद्ध-धर्म मे महाशील के अन्तर्गत कविता पाठ को निन्दनीय क्रिया का अग मान लिया गया था। परन्तु जीवन तो जीवन ही है। अत्यल्प स्वतन्त्रता एवं उन्मुक्तता उसके हृदय के सभी बन्धनो को तोड देती है और कही न कही से जीवन-रस अनायास मुखरित हो उठता है। यही कारण है कि पालिभाषा मे व्यजित इस प्रकार की उक्तियाँ भारतीय साहित्य मे प्रथम लौकिक गीतो के उदाहरण है। इनमे भावावेश और आत्मनिवेदन की अपेक्षित तीव्रता पाई जाती है. उस सघबद्ध जीवन के एकान्त क्षणों की व्यग्रता उस बात की साक्षी है कि जीवन अन्तर्वृत्ति और वाह्यवृत्ति दोनो का समन्वित रूप है। काव्य-शास्त्रीय परम्परा की रूढि मे अलग यही गीतो की धारा अपने विकास-क्रम मे प्राकृत और अपभ्रंश के मैदान मे बहती हुई पुरानी हिन्दी के रूप मे अवतरित हो सकी है।

इस गाथा के गाने के स्वर लय युक्त सगीत को सुनकर भगवान बुद्ध ने पचशिख मे कहा—"पचशिख! तुम्हारे वाद्य का स्वर तुम्हारे गीत के स्वर से एकदम मिला हुआ है और तुम्हारे गीत का स्वर तुम्हारे बाजे के स्वर से एकदम मिला हुआ

है। पंचशिख न तो तुम्हारे बाजे का स्वर तुम्हारे गीत स्वर से इधर-उधर जाता है और न तुम्हारा गीत स्वर बाजे के स्वर से इधर-उधर जाता है।''

इस उद्धरण का गीति-काव्य के विकास-क्रम मे अत्यधिक महत्व है, क्योंकि अन्य भारतीय साहित्य का आरम्भिक रूप कर्मकाण्ड, धर्म, दर्शन तथा अन्य आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से परिपूर्ण है। काव्य के क्षेत्र मे इस प्रकार की भावह्विवल रचनाओं का अभाव है, जिनमे नित्य के जीवन की सुख-दुखात्मक अनुभूतियों की मुखात्मक एव स्वाभाविक व्यंजना हो। वस्तुत इस प्रकार के भाव तो जन साधारण की नस-नस मे, जन साधारण के मानस के प्रत्येक तार मे समा गई थी। यही कारण है कि यह भावाभिव्यक्ति किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रभावित करती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि वैराग्य प्रधान बौद्ध-धर्म के विनयगत कठोर नियम उपनियमों के होते हुये भी ऐसे मर्मस्पर्शी प्रसग मनुष्य के हृदय को धीरे से छू जाते है तथा उसकी रमणीयता के रहस्य को स्वयमेव खोल देते है। इस गान के भावार्थ से यह भी पूर्णतया स्पष्ट है कि इस गान के दीघनिकाय मे समावेश द्वारा भगवान बुद्ध के किसी प्रवचन या उपदेश को महत्व नही दिया गया है। पचशिख की यह गाथा चाहे भगवान बुद्ध के समय की हो अथवा उनके निर्वाणोपरान्त की, इतना तो सिद्ध ही करती है कि उस समय लोक-काव्य की कोई परम्परा अवश्य थी। इतना ही नही भक्ति काल मे उपलब्ध साहित्यिक विशेषताओ के निर्माण मे इनका अत्यधिक योगदान रहा। दीघनिकाय के उपर्युक्त उद्धरण से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि संगीत का काव्यास्वादन एवं प्रभावोत्पादन के लिये विशेष महत्व है जिसको भक्तिकाल मे पूर्णरूपेण ग्रहण किया गया है। गाथाओं मे वर्णित बुद्ध सम्बन्धी, धर्म सम्बन्धी एवं संघ सम्बन्धी गान का भक्तिकाल मे परिवर्तन इष्ट सम्बन्धी, भक्ति सम्बन्धी एवं सम्प्रदाय सम्बन्धी गीति-पदों मे हो गया। इस प्रकार भक्तिकालीन सम्पूर्ण सामग्री का गीति-पदो मे प्राप्त होना कोई आश्चर्यजनक घटना नही थी वरन् वह परम्परा पोषित एव दृढ पूर्व पीठिका पर निर्मित थी। यही कारण है कि 14वीं तथा 15वीं शताब्दी के उस जीवन्त साहित्य का आज भी वैसा ही महत्व स्थिर है।

प्राकृत भाषा के हाल कवि की रचना 'गाथा सप्तशती' मे मनोरम प्राकृतिक-चित्रण, ग्राम्य जीवन के मधुर चित्र, मुक्त प्रेमाभिव्यंजना, रमणीय-दृश्य, लौकिक-आचार, तथा व्यक्ति और प्रकृति के बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध आदि का व्यापक वर्णन किया गया है।[27]

गाथा सप्तशती के छन्द पूर्णतः गेय नही है परन्तु अन्तर्वृत्ति निरूपक प्रवृत्ति के कारण इनका विवेचन आवश्यक है। और इसी कारण इसमे गीति तत्वो का उपलब्ध होना स्वाभाविक है। गीति-कविता मे प्राप्त तीव्र भावावेग तो यहाँ अनुपलब्ध है किन्तु इन गीतो मे स्वाभाविक, अप्रयास अभिव्यंजना का किंचित् रूप देखने को अवश्य मिलता है जिसे गीति-काव्य का प्रारम्भिक रूप मानने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही होनी चाहिये इन्हे ही लोक गीतो का किंचित परिष्कृत रूप

भी माना जा सकता है। इस प्रकार के बिरल-मानस-चित्र बाद के संश्लिष्ट, शुद्ध गीति काव्य के उपकरण को जुटाने मे प्रारम्भिक चरण का कार्य करते है। इसके अन्तर्गत भावो की वह अभिव्यंजना है जिसने आगे चलकर गीति काव्य के लिये कल्पना, कला एवं भाव का सकलन एव समन्वय किया।

प्राकृत गीतो की यह परम्परा धीरे-धीरे अति लोकप्रिय होती चली गई। कालिदास के शकुन्तला और मालविकाग्निमित्र मे प्राकृत के गीत मिलते है जो गीति-काव्य की सभी विशेषताओ से युक्त है। शकुन्तला नाटक मे राजा ने हसपदिका से प्रेम किया, किन्तु बाद मे जब वह हसपदिका से प्रेम न करके वसुमती से प्रेम करने लगता है तब हसपदिका की विरह-व्यथा अत्यन्त मार्मिक व्यजना गीत के रूप मे अभिव्यक्त होती है।[25] यह गीत द्विपदी गीत है। गीत के अन्त मे उसके रागतत्व की प्रशसा करता हुआ राजा कहता है—"अहो। राग परिवाहिनी गीतिः। कालिदास ने इस प्रकार की मर्मस्पर्शी प्रसग वाले गीतो को गीति कहा। इस प्रकार के सभी गीतो की भाषा प्राकृत है।

प्राकृत-गीतो का आधार जनजीवन में प्रचलित लोकगीत थे। अत लोकगीतो मे प्राप्त सुख-दु ख, हर्ष-विषाद आदि की व्यजना का परिमार्जन विदग्ध कवियो द्वारा होता गया। यही कारण है कि गीति-काव्य के विकास-क्रम मे इन्हे आलोचना का विषयवस्तु बनाया गया है।

भरतकृत नाट्यशास्त्र के बत्तीसवे अध्याय मे ध्रुवगीता का विश्लेषण करते समय, प्राकृत गीतो का वर्गीकरण किया गया है। इन प्राकृत गीतों का महत्व इस काल मे इतना अधिक था कि आचार्य भरत ने नाटकों मे सरलता लाने के लिये तथा दर्शको के मानस पर अनुकूल प्रभावोत्पादन के लिये इन ध्रुवगीतों की उपयुक्तता पर विशेष बल दिया है। रचना मे स्वतन्त्र होने के कारण एव अपनी गेयता के कारण इनको कथानक के किसी भी अश के साथ जोडा जा सकता है।

ध्रुवगीत दो प्रकार के बताये है—(1) निबद्ध पद तथा (2) अनिबद्ध पद। निबद्ध पद नियताक्षर से सम्बद्ध होता है। छन्द तथा यति से युक्त होकर अनेक छन्दो का उद्भव करता है और अनिबद्ध पद मे यति और पद स्वच्छन्द होते है।[26] प्राकृत के गेय ध्रुवगीतो से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश के ध्रुवक गीतों मे ये कालान्तर मे परिणत हो गये होगे जिसका विकसित रूप हिन्दी पद शैली की "टेक" मे सुरक्षित है।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में गीतात्मक उन्मेष लोक जीवन के लौकिक गीतो के माध्यम से ही हुआ तथा भक्तिकालीन साहित्य की गीति-पद शैली का आन्तरिक पक्ष और बाह्य पक्ष, दोनो वृहद विकास का कारण था।

डा० गियर्सन ने अपभ्रंश को आधुनिक आर्य भाषाओ और प्राकृत के बीच की जनभाषा के रूप मे स्वीकार किया है। हिन्दी भाषा के साहित्य को सम्यक विवेचित करने के लिये अपभ्रंश भाषा के साहित्य की ओर दृष्टिपात करना

सा है। एक ओर यह भाषा जनसामान्य की चेतना की वाहिनी थी तो दूसरी ओर तत्कालीन वज्रयानी सिद्धो एवं अन्य तान्त्रिक और योगमार्गी सम्प्रदायों में भी सम्प्रदायगत भाषा के रूप मे मान्य थी। यद्यपि अपभ्रंश साहित्य अपने मूलरूप मे अप्राप्त है तथापि जैन काव्य मे इसके प्रमाण सुरक्षित है। भामह एवं दण्डी जैसे काव्यशास्त्रकार इसे काव्योपयोगी भाषा मानते थे। इसमे दोहे की प्रधानता थी। अतः इसे "दुहाविधा" भी कहा जाता था। आधुनिक आर्य भाषा और प्राकृत के बीच अपभ्रंश जनभाषा थी। अपभ्रंश काल से ही हिन्दी साहित्य की अनेक साहित्यिक विधाये विकसित होने लगी थी। गीति-तत्वो के विवेचन की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य को स्थूल रूप मे दो वर्गों में विभक्त कर सकते हे---

(1) रास या रासक परम्परा की रचनाये।
(2) पद-परम्परा की रचनाये।

रास या रासक परम्परा की रचनाओं को हेमचन्द ने गेय काव्य के अन्तर्गत माना। इसमे लघुगीत गाये जाते थे और नर्तक उनके भावों को नृत्य करके प्रकट करते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि रास या रासक की गेय रचनाओ का गान, नृत्य एवं वाद्य के साथ होता था। भक्तिकाल मे विकसित रास नृत्य भी गान, नृत्य एवं वाद्य का सम्मिलित रूप लक्षित होता है। ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रास की परम्परा अवश्य थी। बहुत सम्भव है कि वह इन्ही नाटको से विकसित हुई हो। इस प्रकार भक्ति काल की गान नृत्य एवं वाद्य के सम्मिलित प्रभावोत्पादक प्रयोग की पूर्व पीठिका बन चुकी थी।

उद्भव एवं विकास---

1 ओंकाराश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मण पुरा।
कण्ठभित्वा विनिर्यातौ तेन मांगलिकावुभौ ॥
2 ओमित्येमदक्षरमुद्गीथमुपासीत।
3 संगीत रत्नाकर, प्रकरण—12, श्लोक—1
4 रघुवंश—1/1
5 साहित्य का मर्म, हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ०-11
6 हिन्दी विश्व कोश, तृतीय भाग, पृ०-424
7. हिन्दी शब्द सागर, भाग— 3, पृ०-1290-91
8 बंकिम निबन्धावली-पृ०-52
9 चिन्तामणि, भाग-1, रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-179
10 सूर और उनका साहित्य, हरवंश लाल शर्मा, पृ०-289
11 आकाशवाणी, इलाहाबाद मे प्रकाशित वार्ता शीर्षक---' कविता और संगीत'' ''संगीत'' पत्रिका मे प्रकाशित, मार्च, 1952, पृ०-248
12 दशम स्कन्ध 21वाँ 1

13 संगीत रत्नाकर, नारद, पृ०-1, श्लोक—3
14 तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ् कृती पुनः क्वापि—काव्य प्रकाश।
15. वाक्य रसात्मकं काव्य—साहित्यदर्पण।
16 रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्—रसगंगाधर।
17 दीपशिखा—पृ०-63
18. गीतिकाव्य—पृ०-17
19 सिद्धान्त और अध्ययन, पृ०–108
20 ऋग्वेद—3, 53, 10
21 ऋग्वेद—1/1/3
22 वैदिक माइथालाजी, मैकडानेल, पृ०–46
23. गीति काव्य, राम खेलावन पाण्डेय, पृ०–19
24 वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, पृ०–158
25 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, द्वि० सर्ग, श्लोक—18
26 दीर्घनिकाय–सक्कपह सुत्त, 2/8, पृ०–181-182
27 गाथा सप्तशती—2/24, 5/77; 6/43
28 कालिदास ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० 79
29 नाट्यशास्त्र, आचार्य भरत, द्वात्रिंशोध्याय, 29वाँ एवं 30वाँ श्लोक

द्वितीय अध्याय

हिन्दी में गीति-तत्वों का विकासात्मक रूप

हिन्दी भाषा के उद्‌भव के पूर्व अपभ्रंश भाषा जन सामान्य में विस्तृत थी। इसने गीति-काव्य के विकासात्मक इतिहास को दो रूपों मे प्रभावित किया—

1—विचारधारा के रूप मे अथवा
गीतिकाव्य के अन्तरंग के निर्माण मे।

2—गीतिकाव्य के बाह्य स्वरूप के निर्माण मे।

अभी तक काव्य-विकास की सामान्य प्रवृत्ति लोक जीवन की भाषा मे, उसके विचारों एवं अनगढ़ काव्य रचना मे फलती दिखाई पड़ती है। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का विकास, संस्कृत जैसी पुष्ट एवं व्याकरण सम्मत भाषा के समक्ष यही सिद्ध करता है कि जनभाषा का कोई न कोई रूप साहित्यिक भाषा का अवश्य रहा है। यही कारण है कि उस जनभाषा से समय-समय पर काव्यात्मक साहित्य का विकास होता रहा जिसे हमने लोक काव्य का एक रूप माना है। गीति-काव्य का विकास भी इन्ही लोक-काव्य की सहजता एवं प्रवाहमयता पर हुआ।

अपभ्रंश के साथ-ही-साथ हिन्दी साहित्य का विकास प्रत्यक्ष होता है। बौद्ध धर्म का परिवर्तित रूप वज्रयान का इस समय पूर्ण प्रसार था। वज्रयानी सम्प्रदाय के अनुयायियों को सिद्ध कहा जाता है। कालान्तर मे इन्ही से विकसित नाथ-पंथ हुआ।

सिद्धों की संख्या 84 बताई गई है। प्राचीनतम सिद्ध सरहपा आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुये थे। सरहपा ने अनेक गीतियों की रचना की। जिनके नाम है —कायकोष अमृत वज्रगीति, चित्तकोष-अज-वज्रगीति, डाकिनी-गुह्य-वज्रगीति, दोहागीति और सरह-पाद-गीतिका। सरहपा के गीतो के विषय रहस्यवाद, सहजमार्ग, उपदेश कायातीर्थ आदि है। पद रचना की दृष्टि से इनके पदो का विशेष महत्व है। सरह अथवा सरहपा द्वारा रचित गीति-पदो मे गीति का मूलतत्व प्राप्त होता है। पद छोटे-छोटे हैं। इनमें वर्णनात्मकता के स्थान पर, चिन्तन-प्रधान साधुओं की सरल और स्पष्ट आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति है। साथ ही अन्तिम पंक्ति में अपने नाम का उल्लेख इसी समय से प्रारम्भ हुआ।

राग मालिशी

सुण्णे हो विदारिअ रे निज मण तोहोर दोसे ।
गुरु-अण विहारे रे, थाकिव लइ पुत कइसे ।
एकट हु भवई गअणा ।
वगे जाया नीलेसि पारे, भागेल तोहोर विणाणा ।
अबा-भुअ भव-मोह रे, दीसइ पर अप्पाणा ।
ए जग जल-विम्बाकारे, सहजे सूण अपाणा ।
अमिज अच्छन्ते विस गीतेसिरे, चिअपररस अप्पा ।
धरे परे का बुज्झीले मारि, खइब मइ दुठ कुँडवा ।
"सरह भइण" वर सन् गोहाली, की मो दुठ वलन्दे ।
एक्केले जग नाशिअ रे, विहरह छन्दे ।[1]

यद्यपि पद की पंक्तियो में मात्रा अनियमित है किन्तु स्वर योजना द्वारा उसे ठीक किया जा सकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि धुनो को ही विशेष महत्व दिया गया है । सम्पूर्ण पद आत्मपरक एवं तीव्र अभिव्यंजता से युक्त है । हो, है, अप्पम, तुइ आदि लोकगीतो की विशेषताओ को प्रकट करते हैं । इससे गीति-पदो मे सहजता बढ गई है । अनेक पदो में चौपाई छन्द का प्रयोग किया गया है किन्तु इससे पद की गीतिमयता मे कही भी बाधा नही पडती । सगीत का विशेष प्रयोग सिद्धो के गीति-पदो में देखने को मिलता है । लगभग इसी समय मे राग-रागिनियों का विकास प्रारम्भ हो जाता है । भजन करने वाले एव भजन के माध्यम से उपदेश देने वाले साधुजन अपने हृदयोद्गारो की अभिव्यक्ति पदो में किया करते थे । जो बिना किसी सहायता के गाया जा सकता था । ऐसा प्रतीत होना है कि शास्त्रीय राग-रागिनियो का विशेष ज्ञान इन सिद्ध सन्तो को न था । यही कारण है कि अपने हृदय की गुंजार के अनुकूल पदो को धुनो की लय एव स्वर मे परिवर्तित कर गाया करते थे । आठवी शदी के वज्रयानी सिद्ध सरहपा ने अपनी गीति रचना गुंजरी राग मे की थी ।[2]

गुंजरी राग मे रचा गया गीत अपनी गुजार मे पूर्ण अवश्य है परन्तु गुजरी राग कोई स्वतन्त्र राग न थी सम्भवत गुंजार को धुन एवं ध्वन्यात्मकता को दृष्टि मे रखकर गुजारी राग का नाम सरहपा ने दिया । कालान्तर मे विकसित गूजरी राग सम्भवतः इसी गुजरी से हुआ होगा । मात्रा का विशेष ध्यान न देने पर भी स्वर को लम्बा कर देने पर पदो को आसानी से गाया जा सकता है । कथन का तात्पर्य केवल इतना है कि इस समय धुन ही पद-रचना का मूलाधार थी । यही कारण है कि सिद्ध का हृदय जिस प्रकार झूम उठा उसने उसी मे अपने हृदय की उत्तेजना, व्याकुलता या उद्विग्नता को उसी गुंजरित स्वर में, उसी लय के उतार-चढाव मे अभिव्यक्त कर शान्त किया । इससे गीति-पदो मे नये-नये रागो का उल्लेख मिलने लगता है । यथा-
राग पट मजरी राग कामोद राग मल्लारी राग बगाल राम गवडा राग धनसी

राग अरण, राग देवश्री, राग रामत्री और राग शबरी। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आठवी-नौवी शदी तक आते-आते शास्त्रीय रागो का रूप निर्माण हो चुका था। साराशत: यह कह सकते है कि जिन रागो का शास्त्रीयकरण बाद मे हुआ तथा जिन विस्तृत राग-रागिनियो मे भक्तिकालीन गीति-पदो की रचना हुई है उनकी भी पूर्व पीठिका इन्ही सिद्धो ने बहुत कुछ बना-सवार कर तैयार कर दी थी। जो सूर, कबीर, तुलमी, मीरा आदि भक्तिकालीन कवियो द्वारा अपना ली गई।

सन्त साहित्य के अग्रज कबीरदास के पदो में "कहै कबीर" की प्रवृत्ति का आदि रूप सिद्धो के पदो से उपलब्ध हो जाता है। सरहपा के उपर्युक्त पदो मे "सरह भइण" से यह स्पष्ट है कि पदो मे नामकरण की प्रवृत्ति यही से प्रारम्भ होती है। भक्तिकालीन कवि पद की अन्तिम पक्ति में अपना नामोल्लेख करते है। इसका प्रारभ भी सिद्धों के पदों से हो जाता है। गीतो के बाह्य स्वरूप का निर्माण यही से प्रारम्भ होता है। सिद्धो ने अपने पदो को संगीतात्मक आधार देने के लिये दो चरणो के ध्रुवक का प्रारम्भ किया। प्रत्येक दो चरणो के बाद ध्रुवक का निर्देश है। इसी ध्रुवक से ही कालान्तर मे टेक पद्धति हिन्दी भक्तिकालीन पदो मे, नाथ पन्थियो से होते हुये, आई। इसी तरह भक्तिकालीन कवियो के पदो मे प्राप्त छन्दो का निर्माण चौपाई, दोहा, रमैनी, सबद आदि मे मात्रा एवं शब्दो का ठीक-ठीक प्रयोग नही हो रहा था किन्तु इन सभी छन्दों का प्रारम्भ यही से होता है जो भक्तिकाल तक आते-आते अपनी व्याकरण सम्मतता प्राप्त कर लेते है। इन सबका प्रयोग भक्तिकालीन ज्ञानमार्गी, राममार्गी एवं कृष्णमार्गी भक्तो ने कुशलता के साथ किया है। सिद्धो के गीति पदो मे सगीतात्मक विशेषता लक्षित कर आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कहते है—"वीर काल के पूर्व सिद्ध कवियों ने अपने सम्पूर्ण काव्य को राग-रागिनियों मे बाँध कर गाया है।"[3] आचार्य जी के मत से डा० रामकुमार वर्मा भी सहमत है।[4]

काण्हपा की कविता और विद्या दोनों दृष्टियो से सिद्धो मे अपना विशेष स्थान रखते है। अपनी रचनाओ मे इन्होने सहजमार्ग की ओर संकेत किया है। समाज मे व्याप्त आडम्बरो का खण्डन करने के साथ ही चित्त के विक्षोभ को दूर करने के लिये भोग को विशेष महत्व दिया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी काम ही मानव की चित्त-वृत्तियों का केन्द्र है। इसी से इन्होने मंत्र, तंत्र, भय और हठयोग के साथ स्त्री सहवास को विशेष महत्व दिया। हठयोग की प्रवृत्ति तो नाथो मे भी उपलब्ध होती है जिसे सन्त कवियो कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि ने अपना लिया। दूसरी ओर काम की मान्यता के प्रभावस्वरूप भक्तिकालीन कवियों ने प्रकृति और पुरुष, परमात्मा और जीवात्मा मे दाम्पत्य-प्रेम स्थापित करके इसी प्रकार की रागात्मकता का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार गीतिकाव्य की यह अन्तरग भावा-योग-भोग की मान्यता भी विरासत में मिली। भक्तिकाल मे भी भोग की लौकिकता को अलौकिक काम भावना का देकर भक्तों ने उन सभी स्थलो पर अभिव्यक्त किया है जहाँ वे

अथवा सम्बन्ध दाम्पत्य-भाव से उस परमसत्ता से जोड़ते हैं। माधुर्य भाव की व्यंजना का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि रामभक्त तुलसी को छोड़कर सन्तों एवं कृष्णभक्तों ने इसे पूर्णरूपेण ग्रहण कर लिया।

काण्हपा के पश्चात नाथपंथ के योगी गोरखनाथ या गोरक्षपा की रचनायें प्राप्त होती हैं। नाथपन्थी योगियों की परम्परा सीधे कबीर आदि सन्त कवियों में सम्पृक्त है। हिन्दी गीतिकाव्य की भूमिका के लिये नाथपन्थ का अध्ययन आवश्यक इसलिये है कि सन्तों के गीति-पदों का अन्तरंग और बाह्य पक्ष दोनों लगभग इसी समय निर्मित हो जाता है। सिद्धों की परम्परा में अत्यधिक विकृतियाँ आ गई थीं। अतः इन विकृतियों के प्रक्षालन हेतु नये सम्प्रदाय का उदय होना अवश्यम्भावी था। नाथपन्थ के प्रवर्तक गोरक्षपा अथवा गोरखनाथ ने मद्य एवं अश्लील तान्त्रिक साधना का विरोध करके उसके स्थान पर ब्रह्मचर्यजनित योग-साधना का प्रतिष्ठापन किया। इन्होंने अपने पन्थ में बाह्य प्रवृत्तियों एवं बाह्याडम्बरों का विरोध किया। अन्तःकरण की शुद्धि पर विशेष बल दिया। अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण गोरखनाथ ने अपने यौगिक सिद्धान्तों एवं आन्तरिक शुचिता के बल पर तत्कालीन प्रचलित अन्य सम्प्रदायों को आत्मसात कर लिया। नाथपन्थियों का व्यापक प्रभाव भक्तिकाल के सन्तों कबीर, नानक दादू, रैदास आदि पर पड़ा जिन्होंने नाथयोगियों की भाँति ब्रह्मचर्य, भोग का तिरस्कार, अन्तःकरण की शुद्धता एवं बाह्याडम्बरों, दिखावा आदि का तीखे शब्दों में विरोध किया।

शास्त्र ज्ञान के आधार पर अहंकारी पंडितों को उन्होंने अत्यधिक फटकारा है। जीवहत्या के वे अत्यधिक विरोधी थे। बाह्याडम्बरों का जमकर विरोध किया तथा अन्तःकरण की शुचिता की ओर उनकी वाणी का स्वर विशेष रूप से रहा है। बहिर्मुखी वृत्तियों के साथ पर अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों की साधना का उपदेश दिया। इस अन्तर्वृत्ति साधना पर विशेष बल देते हुये मूर्तिपूजा, तीर्थाटन अनेकेश्वरवाद आदि बाह्याडम्बरों का तीखे शब्दों में विरोध किया। कथन का तात्पर्य केवल यह है कि विषयवस्तु की दृष्टि में अथवा गीति के अन्तरंग की दृष्टि से भक्तिकालीन गीतोंपर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। भक्तिकालीन गीति-पदात्मक साहित्य में आत्मनिवेदन युक्त दैन्य, बाह्याचार का विरोध, सरल जीवन-यापन तथा सन्तों के "घट" में परमात्मा की खोज जैसे तथ्य नाथ पंथ के योगियों की वाणी में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार वस्तु-तत्व की उपलब्धि, गीति-पदों ने यहीं से की थी।

गीतिकाव्य के अन्तरंग पक्ष की भाँति बाह्य पक्ष के निर्माण पर भी नाथपन्थी योगियों की पदशैली का महत्व है। यही कारण है कि इसके विवेचन की आवश्यकता भक्तिकालीन गीति-पदात्मक साहित्य के लिये आवश्यक-सा है। सिद्धों के गीति-पदों के विवेचन में ही कहा जा चुका है कि गेयता के कारण उनके गीत अत्यधिक सजीव हो उठे हैं सिद्धों के समय से ही विभिन्न राग रागिनियों का उद्भव एवं विकास हो

रहा था। नाथपन्थी के सन्तो ने इस परम्परा का और अधिक विकास किया। ध्रुवक के रूप मे टेक पद्धति का विकास भी स्वाभाविक रूप मे हो रहा था। सिद्ध सन्तो के गीति-पदो से विकसित गोरखनाथ तक इन गीतो के बहिरग पदशैली का रूप लगभग पूर्णरूपेण निर्मित हो चुका था। सिद्धो के गीति-पदो मे प्राप्त सगीतात्मकता से कही अधिक नाथपन्थियों के गीति-पदो मे गेयत्व प्राप्त होता है। गेयत्व के विकास के लिये ध्रुवक के टेक मे विकास इस प्रकार की पक्तियो मे दृष्टिगत होता है—

अवधू जाप जपो जयमाली चीन्हों, जाप जप्या फल होई।
अगम जाप जपील गोरख, चीन्हत बिरला कोई।। टेक।।
कँवल बदन काया करि कंचन, चेतनि करौ जयमाली।
अनेक जन्मना पातिग छूटै, जपंत गोरख चवाली।।[5]

टेक की आवृत्ति प्रत्येक दो पंक्तियो के उपरात रखी गई है जिससे लयात्मकता अत्यधिक बढ गई है। साथ ही तुकान्त मिलाने की जो प्रवृत्ति सिद्धो के पदो मे परिलक्षित होती है वह नाथपन्थियो मे बहुधा पूर्ण हो जाती है। कालान्तर मे इसी शैली पर विकसित गीति-पदात्मक साहित्य मे सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्यिक सामग्री का प्रणयन हुआ। गीति-भावना के अनुकूल शास्त्रीय राग-रागिनियो पर गीति-पदो की रचना तथा पदों के ऊपर रागों के नाम का उल्लेख यहीं से धीरे-धीरे प्रारम्भ हो रहा था।

गीति-पदो को गोरखनाथ ने सबद नाम से अभिहित किया है। कबीर आदि सन्तो ने भी अपने गीतात्मक पद साहित्य को "सबद" की संज्ञा दी। गोरखनाथ के सबदी मे लोकगीतो की धुन है, पद दो-दो पंक्तियों के है। इन्हें अपभ्रंश के "दोवई" या द्विपदी अथवा दोहे का विकसित रूप कह सकते है यथा—

बसती न सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन-सिखर महिं बालक बोलै ताका नाम धरहुगे कैसा।।[6]

पदों में नामोल्लेख की प्रवृत्ति भी पूर्णता प्राप्त करती है। प्राय सभी पदो मे किसी न किसी भाँति कवि अन्तिम पंक्ति में अपना नामोल्लेख करता हुआ भावात्मक प्रवाह मे पद का सार अथवा अपनी ओर से कोई तथ्य उपस्थित करता है। यथा—

पथ बिन चलिबा अगिन बिन जलिबा अनिल तृषा जहटिया।
संसवेद श्री (गुरू) गोरख कहिया बूझिल्यो पन्डित पढिया।।[7]

ज्ञानमार्गी सन्त कबीर नानक, दादू, रैदास आदि तथा भक्तों के पदो मे नामोल्लेख की प्रवृत्ति की पूर्व-पीठिका का निर्माण यहीं से हुआ। "कहै कबीर सुनो भाई साधो" के समान ही उपर्युक्त उक्ति देखी जा सकती है।

इस प्रकार सूर, कबीर, तुलसी आदि की परम्परा मे गीति-पद शैली का पूर्ण विकास दिखाई देता है जिससे यह सत्य प्रतीत होता है कि सिद्धो मे विकसित नाथो की यह पद शैली गीतिकाव्य के लिये सर्वथा उपयुक्त हुई। लोक जीवन से सम्बद्ध

होने के कारण इन योगियो की वाणी मे एक ओर जहाँ रसात्मकता एव रागात्मकता बडी-चढी है वही लोकोक्तियो और मुहावरो के प्रयोग से अर्थगाम्भीर्य मे वृद्धि हुई है एवं भाषा की व्यजना शक्ति भी बढ गई है जिसने आगे चलकर भक्तिकालीन कवियो को अत्यधिक सहयोग दिया। लोकभाषा की शक्ति को पहचान कर ही इन भक्त कवियो ने इसका भरपूर प्रयोग किया है। अतः लोक-काव्य की इस परम्परा का पूर्ण विकास साम्प्रदायिक बन्धनों को तोडकर शुद्ध गीतिकाव्य के रूप मे भक्तिकाल मे होता है। नाथपंथी योगियो के साहित्यिक योगदान को दृष्टि मे रखकर ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते है—"जिन सन्त साधकों की रचनाओ से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हे बहुत कुछ बनी बनायी भूमि मिली थी।" एक अन्य स्थल पर वे कहते है—"यदि कबीर आदि निर्गुण कवियो की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि ये पूर्णतया भारतीय है और बौद्धधर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उनका सीधा सम्बन्ध है। वे ही पद, वे ही रागरागिनियाँ कबीर आदि ने व्यवहार की है, जो उक्त मत को मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तो ने की थी।"[८]

सिद्धो एव नाथो के अतिरिक्त जैन-साहित्य का भी भक्तिकालीन हिन्दी गीति-साहित्य पर प्रभाव पडा है। जैन-साहित्य मे प्रबन्ध काव्य एव मुक्तक काव्य के साथ-साथ गीति काव्य भी मिलते है। जैन कवियों को देशी-भाषा से विशेष लगाव था। यही कारण है कि इनके काव्य की संवेदन शक्ति बढी-चढी है। साथ ही लोक-काव्य के अत्यन्त निकट की सरचना इन कवियो द्वारा हुई है। जैन कवियो मे स्वयम्भू एव पुष्पदन्त मुख्य कवि थे। दोनो कवियों की रचनाओ मे क्रमश रामचरित और कृष्ण-चरित मिलता है। हिन्दी साहित्य को भाव और वस्तुगत दोनो ही क्षेत्रों मे अत्यधिक विकसित करने का श्रेय प्रबन्ध काव्यो को है। विजयान्तर होते हुये भी प्रबन्ध काव्यो की कुछ चर्चा कर देना अप्रासगिक न होगा। बिना कुछ प्रबन्ध काव्य का उल्लेख किये गीतिकाव्य की स्पष्ट रेखा खीचना उपयुक्त न होगा। आठवी सदी के प्रबन्धकार स्वयम्भू के "पउमचरिउ", हरिवंश पुराण आदि रचना मे संयोग, वियोग विलास, वीर, आदि अनेक वृत्तियो का चित्रण किया गया है जिनका भाव की दृष्टि से अन्यतम महत्व है।

दूसरा प्रबन्ध काव्य चन्द वरदाई का पृथ्वीराजरासो माना जाता है, जिसमे विविध छन्दो के प्रयोग के कारण रागात्मकता की कमी आ गई है। किन्तु इस अन्तर्गत विभिन्न मानव प्रवृत्तियो का उल्लेख है। वीर, शृङ्गार, नीति सम्बन्धी छदो का आधिक्य है।

नरपति नाल्ह के बीसलदेव रासो का शृङ्गार के विविध वर्णनो के कारण महत्व अवश्य है। यह काव्य गेय तो है ही साथ ही अभिनय योग्य रचा गया है। इसी प्रकार जगनिक के "आल्हा-खण्ड" का लोक-काव्य के रूप में विशेष उल्लेख है इसके गीतों पर ग्राम-गीतो की छाप के स्पष्ट लक्षण हैं लोकगीतों की

परम्परा एक ओर जहाँ मिलती है वही कहानी एव कथाओ के इतिवृत्ति के माध्यम से खण्डकाव्यो की रचना करके लोकभाषा मे लोक राग का आधार लेकर गाते है। जैसी रसानुकूल रचना होती है, जनसमूह उस रस मे सराबोर हो जाता है। ऐसे काव्यो का गान अधिकाशत समूह मे होता है और सम्पूर्ण समूह को अपने रस मे आसिक्त कर लेने मे पूर्ण सक्षम होते है। जगनिक के इस आल्हाखण्ड मे लोकगाथा का स्वरूप सुरक्षित है जिसमे लोकमानस सगीत और काव्यात्मकता के साथ सम्मुख आया है। इसी तरह कुसललाभ के ढोलामारूरादूहा और नरोत्तम स्वामी के राजस्थान का दूहा मे भी गीति की प्रकृति का सम्मिलन है। वास्तव में लोकगाथा गीति और प्रबन्ध के सीमा मिलन का काव्यविधान है अत उसमे दोनो काव्य रूपो क तत्व पाये जाते है। प्रबन्ध-काव्यो की इन्ही अन्यतम विशेषताओ को लक्ष्य कर रामखेलावन पाण्डेय कहते है—"प्रबन्ध काव्यो मे भी यत्र-तत्र संगीतात्मकता बिखरी पडी है।"[9]

दसवी शताब्दी के जैन-मतावलम्बी पुष्पदन्त द्वारा रचित कृष्णचरित मे भक्ति-कालीन गीति-काव्य का आरम्भिक स्वरूप दृष्टिगत होता है। संस्कृत में "शिव-महिम्न स्तोत्र" तथा अपभ्रंश में "जसहहरचरिउ, महापुराण, नायकुमारचरिउ की रचना की। इनके पदो मे गीतात्मकता के दर्शन होते है। प्रत्येक पद के आरम्भ में द्विपदी (दुबई) और अन्त मे धन्ता प्राकृत के प्रसिद्ध मात्रिक छन्द का समायोजन है।[10] किन्तु पद का पूर्ण वाह्य रूप बनकर तैयार हो चुका था। प्रत्येक स्वतन्त्र एव पूर्ण पद है तथा शब्द-योजना सगीतात्मक है।[11]

गान के उक्त पद की द्विपदी या दोवई टेक का रूप धारण करती है। धन्ता का तुक द्विपदी के तुक से मिलकर सगीतात्मक स्वरैक्य उत्पन्न करता है। पद के शब्द-शब्द मे अन्त्यानुप्रास आन्तरिक संगीत भरता है। पद में प्रबन्धात्मकता का सर्वथा अभाव है।

इस प्रकार जैन कवि पुष्पदन्त ने पद रचना की बची खुची कमियों को पूर्ण कर दिया। पुष्पदन्त कवि था, गायक नही। अत सगीत शास्त्रीय दृष्टि से उसने पद का पूर्ण आयोजन किया।

12वी एव 13वी शताब्दी के दो कवियो का विवेचन भी गीतिकाव्य के विकासक्रम मे आवश्यक सा है—

(1) अमीर खुसरो, और

(2) विद्यापति।

खडी बोली के रचनाकार अमीर खुसरो एक ओर जहां कवि थे वही इतिहासकार तथा सगीतमर्मज्ञ भी थे। अपनी रचनाओ में भोग-विलास, ऐश्वर्य, व्यग्य, पहेलियो, गजल आदि को मुख्य रूप से सम्मिलित किया। हिन्दी, फारसी तथा अरबी के विद्वान होने के कारण इनकी रचनाओं मे भावाभिव्यजना का अत्यन्त स्वाभाविक

चित्रण हुआ है। अपने गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु के समय अमीर खुसरो बंगाल में थे। मृत्यु का समाचार पाते ही गुरू के कब्र के पास आये और यह कहते हुये मूर्छित होकर गिर पडे—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरू घर आपने, रैन भई चहुँदेस ॥[12]

उपर्युक्त दोहे मे खुसरो के हृदय की प्रगाढ भावाभिव्यजना की अभिव्यक्ति हुई है जो उनके हृदय से गुरू की मृत्यु से नि सृत हुई है। अमीर खुसरो के एक अन्य गीत से हिन्दी गीतिकाव्य का प्रारम्भ माना जा सकता है —

मेरा जोवना नवेलश भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस गोरी माल ॥
नजामदीनी औलिया को कोई समझाये।
जों-जों मनाऊँ वह तो रूसा ही जाये ॥
मेरा जोवना नवेलश भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी माल ॥[13]

खुसरो की इस कविता से गीतिकाव्य का अन्तरग एवं बहिरग दोनो समुचित रूपेण मिलता है। इसमें आन्तरिक भावाभिव्यंजना का सफल चित्रण कवि ने किया है। सगीत की दृष्टि से उसका यह पद खरा उतरता है। टेक की पद्धति को भी कवि ने प्रत्येक दो पक्तियो के बाद अपनाया है। तुकान्त मिलाने की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हो चुका था। साथ ही छन्दो का निर्माण कवि संगीतमयता एव भाव के अनुकूल किया करता है। इस कविता मे भी कवि न तो छन्दो का गुलाम हुआ है और न संगीत की शास्त्रीयता का वरन भावाभिव्यजना के अनुकूल उसने दोनो को ढाल दिया है। इसीलिये शिवमगल सिह सुमन ने हिन्दी साहित्य का प्रथम शुद्ध गीत इसे मानना चाहा है।[14] सूफी सन्त निजामउद्दीन औलिया से विशेष प्रभावित होने के कारण इनका विशेष झुकाव प्रेममार्गी सूफी—साधना की ओर था। सूफी साधना से आशिक माशूक के रूप में परमतत्व की आराधना द्वारा भावदशा की उस सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होना है जिसमे साधक किसी के लिये अपने को मिटा देता है। इस स्थिति तक पहुँचने पर अहं समाप्त हो जाता है। साधक की यही रहस्यात्मक अनुभूति उसका परमतत्व से तादात्म्य स्थापित करती है। इसके लिये विरहतत्व की कल्पना की गई है। खुसरो की रचनाओ मे प्रेम सयोग एवं विरह की यह रागात्मिका वृत्ति अनेक स्थलो पर बिखरी पडी है।[15]

गीति तत्व के भावपक्ष और कलापक्ष दोनो दृष्टियो से अमीर खुसरो की रचनाओ का विशेष महत्व है। इन सभी गीतो मे भावुक कवि के हृदय की सरल अभिव्यंजना सरल भाषा एव स्वर तरगो पर व्यक्त हुई है। जन प्रचलित खडी बोली को अपनी कविता का माध्यम अभिव्यक्त मे सगीत का

अत्यधिक आग्रह है। संगीताग्रह का एक कारण लोक-धुनों का एवं तत्कालीन समय के लोक-काव्य का प्रभाव भी अवश्य रहा होगा। यही कारण है कि उनके गीतों में बार-बार दुहराई जाने वाली टेक की पंक्ति पूर्णतया लयात्मक है और संगीत के आरोह-अवरोह पर निर्मित है। स्वयं गायक होने के कारण इनके गीतों में संगीत के उतार-चढ़ाव का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इन्होंने विभिन्न राग-रागिनियों में गीतों की रचना की। हिन्दी गीतिकाव्य में संगीत का समावेश करके खुसरो ने शुद्ध गीति-काव्य के विकास में अटूट सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार खुसरो का महत्व एक ओर जहाँ रूढ़िगत भाषाओं से मुक्त जनभाषा के प्रयोग के कारण है तथा दूसरी ओर भाव की अभिव्यक्ति और संगीत तत्व के नवीन प्रयोगों की दृष्टि से भी है।

खुसरो के समय में ही "हिन्दुस्तानी" संगीत पद्धति का सम्यक् प्रचार हो चुका था। इस नवीन शास्त्रीय संगीत की शैली को भक्तिकालीन गीतिकारों ने अपनाया। इसी का विकास आगे चलकर "हवेली संगीत" में हुआ।

मैथिल कोकिल विद्यापति जैसा ऐहिकतापरक काव्यों की परम्परा में जनभाषा का विदग्धतापूर्ण एवं माधुर्य युक्त कवि नहीं हुआ था। वस्तु तथा शब्दावली के सामंजस्य और एकता की दृष्टि से विद्यापति को हिन्दी का प्रथम गीति-कवि माना जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान राम खेलावन पाण्डेय के अनुसार "विद्यापति में भी नाटक-तत्व का नितान्त अभाव नहीं है किन्तु गीतों की स्वतन्त्र परम्परा का आरम्भ विद्यापति के गीतों द्वारा अवश्य हो जाता है।"[16]

विद्यापति की प्रसिद्धि का कारण मैथिली में रचित शृङ्गारिक रचनाओं के कारण है। इस प्रकार की रचनाओं को "पदावली" की संज्ञा दी गई है। विषयवस्तु की दृष्टि से पदावली को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(1) शृङ्गारिक, (2) भक्ति विषयक पदावली और (3) सामान्य पदावली। इसमें सामान्य पदावली में पहेलिका आदि की रचना की है।

शृंगारिक पदावली के अन्तर्गत वय सन्धि, नख-शिख वर्णन, नायक-नायिका भेद, दूती प्रसंग, क्रीड़ा, विलास अभिसार आदि का वर्णन किया गया है। इनके प्रधान आलम्बन राधा-कृष्ण हैं। संयोग शृङ्गार का एक चित्र द्रष्टव्य है—कृष्ण राधा के सौन्दर्य को देखते ही रह जाते हैं और उनकी आशा नहीं पूजती। आधा आँचल खिसका है, आधे मुँह तक हँसी आकर रुक गई है, आधी आँखों तक आनन्द-तरंग आकर रुद्ध हो गई है, अर्द्धोद्भिन्न उरोज पर दृष्टि बंध गई है, आधा ही आँचल भरा हुआ है. फिर प्रेम की ज्वाला से प्रेमी क्यों न दग्ध हो जाय। मोतियों की भाँति झलकती हुई दसन-पंक्ति पर प्रवाल-अधर मिल गये हैं और इस रूप और विभ्रम की अवतार किशोरी मृदुभाषा में बातें कर रही है—इसे देखकर श्री कृष्ण की आशा कैसे पूजे (पूर्ण हो)?[17]

इसी प्रकार विरह एवं बारहमासा वर्णन में विद्यापति ने लोक गीतों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं शुद्ध लोकगीत हो के आधार पर काव्य रचना की है।[18]

भक्ति विषयक पदो मे एक ओर जहाँ आत्मनिवेदन की तीव्रता दृष्टिगत होती है वही शिव, दुर्गा और गौरी, गगा आदि की स्तुति की गई है। इसमे एक ओर स्तोत्र प्रधान गीति-पदो को विकास में सहायता मिलती है वही दूसरी ओर भक्तिकालीन माधुर्यजन्य भक्त्यात्मक गीतो को भाव विकास मे पूर्ण सहायता मिलती है।

जनभापा मे रचित पदावली मे गीति-काव्य की साहित्यिक विशेषतायें पूर्ण रूपेण प्राप्त होती हैं। आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से रागात्मक आवेश की व्यंजना विना किसी सिद्धान्त, वस्तु वर्णन या गाथा से की गई है। अनुभूति की तीव्रता के व्यंजक इन पदो मे आत्म प्रक्षेप भी है—

जनम अवधि हम रूप निहारिनु, नयन न तिरपत भेल।
लाख-लाख युग हिये हिया राखनु तऊ हिया जुडल न गेल ॥[19]

उपर्युक्त कविता मे कवि का व्यक्तित्व साफ झलकता है। अपने हृदय की आत्मविह्वलता को वह सीधी-सादी वाणी देने का प्रयास करता है। कवि की भाव, भाषा और कल्पना का समन्वय यह सिद्ध करता है कि कवि का यह प्रयोग परम्परा से प्राप्त प्रौढ प्रयास है।

विद्यापति की रचनाओ पर जयदेव के गीति गोविन्द का विशेष प्रभाव रहा है। यथा—जयदेव ने लोक में प्रचलित धुनो को आधार बनाकर गीत गोविन्द की कोमलकान्त पदावली के वजन पर गीतों की रचना की जिसका पूर्ण उपयोग विद्यापति ने इस प्रकार किया है—

ललित लवग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्भित कोकिल, कूजित कुज कुटीरे ॥

—जयदेव

सरस वसन्त समय भल फाओल, दछिन पवन बहुँ धीरे।
सपनहुँ रूप वचन एक भखिए मुख सों दूरि करु चीरे ॥

—विद्यापति

जयदेव के गीतो की प्रेरणा से विद्यापति के गीतों का स्वतन्त्र विकास हुआ। जयदेव में एक ओर जहाँ वर्णन का विशेष आग्रह है, वहा विद्यापति मे रागात्मक आवेश की अभिव्यक्ति। अतः विद्यापति के गीत-गीति काव्य के अधिक समीप हैं। वस्तुत विद्यापति ने सर्वप्रथम व्यक्तित्व का स्वतन्त्र प्रक्षेप करके गीतों मे वैयक्तिकता का समावेश किया। गीतो मे रागात्मक आवेश का समन्वय करके विद्यापति ने गीति-काव्य को अन्य काव्य विधाओ मे स्वतन्त्र अस्तित्व दिया।

वस्तुत गीतिकाव्य के विकास मे एवं भक्तिकालीन वृहद गीति-कोष को विद्यापति की सबसे बडी देन उसके कलापक्ष का परिष्कार है। विद्यापति को भापा और व्यंजना शक्ति पर पूर्ण अधिकार था। अपने गीतो मे उन्होंने एक ओर जहाँ परिष्कृत को है वहीं अपनी प्रतिभा से ९ को भी

पूर्णरूपेण प्रतिफलित किया है। काव्यभाषा के मुहावरो, लोकोक्तियो तथा रूढि प्रयोगो से तथा अलंकारो और काव्य के अन्य शिल्प-संयोग से अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली का सूत्रपात किया है। उनकी कविताओं मे एक ओर जहाँ माधुर्य एवं प्रसाद गुण की सुन्दर योजना है वही चमत्कारो और उक्ति वैचित्र्य का सामंजस्य भी है। सम्भवत आगे चलकर इससे दृष्टिकूट पदो के निर्माण मे सहायता मिली होगी। विद्यापति ने मन स्थितियो का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया है। सगीत पर पूर्ण अधिकार होने के कारण उनके पदों मे गेय तत्व का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इस प्रकार गीतो के बाह्यरूप और उसके अन्तस का सामजस्य उनके गीतो मे उपलब्ध होता है। भक्तिकाल के गीतो मे अलकारो, मुहावरों, लोकोक्तियो तथा कवि प्रसिद्धियो की जो छटा दिखाई पडती है, उसका बहुत कुछ प्रारम्भ हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग या आदिकाल मे हो चुका था।

सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य-सामग्री को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया है—

(1) निर्गुण धारा के ज्ञानमार्गी सन्तभक्तो का साहित्य,
(2) निर्गुण धारा के प्रेममार्गी सूफी सन्तो का साहित्य,
(3) सगुण धारा के राममार्गी भक्तो का साहित्य, और
(4) सगुण धारा के कृष्णमार्गी भक्तों का साहित्य।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे निर्गुण धारा एवं सगुण धारा के भक्त कवियो की उत्कृष्ट रचनाओ का विशद विवेचन "गीति" को दृष्टि मे रखकर किया गया है। गीति-पदो की दृष्टि मे निर्गुण धारा के ज्ञानमार्गी सन्तो में विशेषकर नानक, कबीर, दादू, रैदास, सुन्दरदास, मलुकदास एवं धरमदास की रचनाओ का उपयोग किया गया है तथा सगुण धारा के राममार्गी भक्त तुलसीदास की गीति-कृतियो का। सगुण धारा के कृष्णमार्गी भक्तो मे मुख्यत· सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास, हित हरिवंश, हरिराम जी व्यास, हरिदास, ध्रुवदास, गदाधर भट्ट, सूरदास, मदनमोहन एव राजस्थान-कोकिला मीराबाई की समृद्ध गीति रचनाओ का सम्यक उपयोग करके अपने विचारो को, विनम्रतापूर्वक विद्वजनो को प्रेषित करने का उपक्रम किया गया है।

1—काव्यधारा, राहुल साकृत्यायन, पृ०-18, पद—39
2—हिन्दी काव्य धारा, पृ०-17
3—कबीर साहित्य की परख, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ०-304
4—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ०-69

5—गोरखबानी, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, द्वितीय संस्करण, पृ०-101
6—गोरखबानी, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सबदी—1, पृ०-1
7—गोरखबानी, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सबदी—22, पृ०-8
8—हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-31
9—गीतिकाव्य, रामखेलावन पाण्डेय, पृ०-21
10—प्राकृत पिंगल, पद—152 से 153, पृ०-257
11—हिन्दी काव्य धारा, पृ०-220
12—नागरी प्रचारिणी पत्रिका. भाग-दो, सवत्-1978, पृ०-324
13—वही, पृ०-322
14—गीतिकाव्य, उद्भव, विकास एवं भारतीय काव्य मे इसकी परम्परा, शिवमंगल सिंह सुमन, पृ०-190
15—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग दो, पृ०-324
16—गीति काव्य, राम खेलावन पाण्डेय, पृ०-22
17—सूर साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-95
18—विद्यापति पदावली, कुमार गंगाधर सिंह, पद-222
19—वही, पद सख्या—227

गीति-तत्व

तृतीय अध्याय

गीति के तत्व : भक्ति गीति पदों के सन्दर्भ में

भक्तिकालीन गीति—काव्य का रूपगत विश्लेषण विवेचन के पूर्व यह तथ्य अवश्य जान लेना चाहिये कि भक्ति-गीति पदो के विवेचन का मानदण्ड आधुनिक गीति के मान-दण्डों से कही हटकर होना आवश्यक है। भक्तिकालीन गीति-काव्य का आधुनिक प्रतिमान से अर्थात् पाश्चात्य आलोचना मे प्रणीत गीति-तत्व के आधार पर परखना, उसकी विशिष्ट गीति-मानसिकता को अनदेखा करना होगा। भक्ति एक साधन-सिद्ध प्रक्रिया है, अत्यन्त संश्लिष्ट मनोविकार है जिसमे मात्र भावोद्रेक (जो गीति का मुख्य लक्षण माना जाता है) हर समय खोजना अपर्याप्त होगा। भक्ति की 'अनुभूति' विचार से आरम्भ होकर भी हो सकती है, उसके साथ गुथकर, उससे सीझकर भी तथा उससे निरपेक्ष रहकर भी इसलिये उस अनुभूति के कई स्तर है। मात्र रागमूलक अनुभूति के आधार से गीति-तत्व को टिकाये रखने से भक्ति का संकुल गीति-प्रवाह अनवगाहित रह जायेगा। रागमूलकता उसका गहनतम स्थल है, किन्तु उस सागर के अन्य स्तर भी है। उन्हे अनदेखा कैसे रखा जा सकता है, जबकि मध्य-कालीन जनमानस इन सभी स्तरो से संवेदित होता रहा है। आधुनिक युग मे रागा-त्मकता के क्षणों को ही गीति मानकर मध्यकालीन गीति-मानसिकता में व्यक्त होने वाले गीति-पदो का सामान्य विवेचन तो कर सकते है। ऐसा करके हम समीक्षा के आधुनिक मानदण्डो का निर्वाह तो कर सकते हे, किन्तु भक्तिकालीन गीति-तत्व का सही-सही विश्लेषण नही। हम यह भी नहीं मानते कि गीति के तत्व सनातन रूप मे स्थिर हो चुके हैं। कविता के आधार से, युग विशेष की मानसिकता को ध्यान मे रखते हुये हम युग-सापेक्ष गीति का सर्वांगीण पर्यवेक्षण कर सकते हैं। यह बात गीति के कई तत्वो—जैसे संक्षिप्ति, अन्विति, संगीतमयता आत्माभिव्यक्ति पर लागू होती है।

जहाँ भक्ति प्रवाह क्षमता न हो, या भक्तिकवि इष्ट की लीला में डूबा उसका भावविभोर वर्णन करता जाता हो, या भाव के बीच-बीच क्रीडा की लहरें उछल-उछल कर आ जाती हो वहाँ संक्षिप्तता का आग्रह थामे कैसे रहा जा सकता है? यही बात अन्विति को लेकर है। 'भक्ति' एक ऐसा मनोविकार है जिसे अन्वित करने मे कई तत्वों का सहयोग होता है। इसलिये अनुभूति की इकाई का एक आयामी मानदण्ड लेकर भक्ति की सारी गीतियो को हंकाना उचित नही। अनुभूति का समत्व उसमे अधिक है, बजाय इकाई के। अनुभूति की इकाई भी है पर वही जहाँ यह इकहरे रूप में, या एकदम अन्तस्तल मे डूबकर व्यक्त हुई है। आत्माभिव्यक्ति का स्तर

भक्तिकाल मे वह नही है जिसे हम 'व्यक्तित्व' कहते है। भक्तो के "आत्म" का बडा विस्तार है "स्व" 'पर" का प्रश्न तो ओछा पड ही जाता है, समस्त जीवन जगत उसकी परिधि में सिमट कर अपना आत्मविस्तार पाता है। इसीलिये निजी अभिव्यक्ति का संकुचित सन्दर्भ भक्तिकालीन गीतिकाव्य मे खोज पाना प्रायः असम्भव है। आत्माभिव्यक्ति की इसी व्यापकता के कारण गीति का वर्गीकरण भी अत्यन्त व्यापक आधार पर करना समीचीन होगा। और मध्यकाल में काव्य तथा संगीत अलग-अलग अस्तित्व लेकर नही पनपे इसलिये गीति की संगीतात्मकता का वह शुद्ध काव्यपरक रूप वहाँ नही मिलेगा जो आधुनिक गीतिकाव्य मे मिलेगा। वहाँ नाद-संगीत का योगदान गीति-रचना मे अतर्क्य है। इसलिये भक्तिकाल के गीति की संगीतात्मकता को संगीत और काव्य दोनों माध्यमो से दोनों को जोडकर देखना होगा। यही कारण है कि डॉ० मनमोहन गौतम ने सूर के गीतिकाव्य का विश्लेषण यह कहते हुए प्रारम्भ करते हैं—"सूर का गीति-काव्य न तो गीत (Lyric) है, न मुक्तक और न प्रबन्ध। इसमे तीनो के संतुलित सामजस्य मे एक चिर-नवीन काव्य-रूप का निर्माण हुआ है।"[1]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आज के बने बनाये गीति-तत्वो के आधार पर भक्तिकालीन गीतिकाव्य को परखना उसके साथ अन्याय करना होगा। उन तत्वो को लचीला करना पडेगा। स्वरूप निर्धारण के पूर्व भक्तिकालीन गीति-पदो का आलोचको द्वारा किये गये विवेचन पर एक दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा। गीति-तत्व के आधारभूत तत्वो का उल्लेख करते हुए तुलसीदास की गीतावली पर अपने विचार डॉ० उदय भानु सिंह ने व्यक्त किया है। उन्होने प्रगीत के छः तत्व माने है—(1) संगीतात्मकता, (2) रागात्मक अनुभूति की इकाई और प्रभावान्विति (3) आत्माभिव्यक्ति, (4) संक्षिप्तता, (5) भावाभिव्यजना और (6) जीवन की आंशिक अभिव्यक्ति।[2] सूरदास के गीति-काव्य का काव्यशास्त्रीय विश्लेषण जिन तत्वों के आधार पर डॉ० मनमोहन गौतम ने किया है, वे हैं—गेयत्व, आत्माभिव्यंजना, अन्विति, सहज अन्त प्रेरणा, शैली और वस्तुगत और भावतत्व का अनुपात राजस्थान कोकिला मीराबाई के गीति-पदों का विवेचन संगीतात्मकता, अभिव्यंजना, रागात्मक इकाई और समत्व तथा संक्षिप्तता के आधार पर अनेक विद्वानो ने किया है। डॉ० राम खेलावन पाण्डेय ने गीति के इतिहास के विवेचन के उपरान्त छः गीति तत्वो का निर्देश दिया है—(1) संगीतात्मकता, (2) जीवन के एक पहलू का कलाकार के मन पर पड़ने वाले कल्पनागत प्रभाव का सौन्दर्य और कलापूर्ण चित्रण, (3) रागात्मक अनुभूति की इकाई और समत्व, (4) अन्तर्दर्शन और आत्मनिष्ठता-सुख-दुःख, राग-द्वेष, आशा-निराशा जिसके आधार हैं, (5) लयात्मक अनुभूति, (6) समाहित प्रभाव।[3]

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि गीति-काव्य को परखने की जो कसौटी बनाई गई है उसका अत्यन्त कठोरता से पालन भक्तिकालीन गीति पदों के लिये नही किया

जा सकता । अत भक्तिकालीन गीति-काव्य के पूर्व के गीति-विकास को लक्ष्य करके जिन तत्वो का या गीति के स्वरूप का निर्धारण मैंने किया है ये इस प्रकार हैं—

1—सगीतात्मकता या गेयत्व,

2—आत्माभिव्यंजना,

3—भावात्मक गहनता, संवेदनशीलता एवं विस्तार,

4—रागात्मक अनुभूति,

5—सक्षिप्तता ।

गीति-प्रेरणा काव्य-विधा की मूल और सहज रचयिता है, गीति आत्माभिव्यंजना की उच्चतर तीव्रता की सम्भावना की प्रथम खोज होती है क्योंकि उसमे आत्माभिव्यंजना की लयात्मक तीव्रता होती है। यह अनुभव की गहनता तथा भावना के आध्यात्मिक सवेग से फूट पडता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना को क्रियाशील करता है।[4] यही कारण है कि भक्त कवियों की आध्यात्म सम्बन्धी गूढ भावों की गीतात्मक अभिव्यक्ति में विविधता के साथ-साथ सहजता दृष्टिगत होती है। भक्तिकालीन सहज गीतात्मक अभिव्यंजना एव उसकी अभिव्यक्ति के अनूठेपन को लक्ष्य मे रखते हुये तत्व निर्धारण किया गया है। विवेचन को पुष्ट एवं सुलभ बनाने का प्रयास है।

आदिम युग से ही अपना जीवन सुखमय और आनन्दमय बनाने के लिये मानव सतत् प्रयत्नशील है। आदिम गुफाओ के चित्र आदि मानव के संतोष और कौतूहल, दोनों की अभिव्यक्ति करते है। संगीत एवं कविता भी उसके मानसिक एव वैचारिक शोध का परिणाम है। चित्र में मनुष्य अपने भावो की अभिव्यक्ति आडी तिरछी रेखाओ के माध्यम से करके सुखात्मक अनुभूति करता है, संगीत के द्वारा वह चित्रात्मक भावों का नाद अर्थात् स्वर और लय द्वारा सुखद श्रवण करता है। कविता द्वारा वह कवि के अथवा कवि द्वारा सम्प्रेषित मानवीय भावो का भावानुरूप बोध करता है। कवि अथवा रचनाकार के मानस पटल पर जो भाव अकित होना है वही संगीत का आधार लेकर जब अभिव्यंजित होता है तो गीति-कविता का सृजन होता है।

संगीत का उद्गम स्थल हृदय है। हृदय से ही अनायास फूट पडने वाली धारा भी संगीत है। इसी प्रकार गीति-कविता का उद्गम स्थल हृदय है और हृदय की भावात्मक-संक्रान्ति संगीत का आश्रय लेकर प्रत्यक्ष होती है। किसी भी प्रकार की प्रगाढ भावजन्य अनुभूति प्राय. संगीत का आश्रय लेकर प्रकट होती है। प्राचीनतम साहित्य के गेय होने का यही कारण है। सभी प्राचीन साहित्य अथवा काव्य सगीत से युक्त है। कालांतर में छन्दात्मकता और सगीतशास्त्रीय विधान के द्वारा काव्य और सगीत अलग-अलग हो गये। किन्तु इसका मूल रूप लोकगीतो मे विद्यमान रहा और इन्ही लोकगीतो का परिष्कृत एवं विकसित रूप भक्तिकालीन गीतियो मे उपलब्ध

होने लगा। इस प्रकार गीति-काव्य मे सगीत का नाद अर्थात् स्वरयुक्त लय तथा कलाकार की भावाभिव्यजना का शब्दमय चित्र परस्पर समन्वित रूप में व्यक्त होता है।

काव्याग विवेचन के अनुसार काव्य के मुख्य चार आधार है—शब्द, अर्थ, चैतन्यता और रसात्मकता। एक ओर पाठक को अर्थ की भावभूमि पर शब्द लाते है तो दूसरी ओर निश्चित स्वरविधान अर्थात् नादात्मक ध्वनि के द्वारा श्राव्य मूर्त-विधान भी करते है। शब्दो की महत्ता तो तब थिर होती है जब उसके द्वारा व्यक्त बिम्ब-विधान और ज्ञापित वस्तु के मध्य सामजस्य स्थापित हो जाता है। गीतिकार का मानसिक प्रीतिबिम्ब किसी ज्ञात और यथार्थ वस्तु के आधार पर निर्मित होता है। जिन क्षणो मे उसके मानस पटल पर उस काल और यथार्थ वस्तु का चित्र उभरता है उन्ही क्षणों से ही उस विशेष वस्तु का आधार लेकर कवि के मन मे काल्पनिक अभिव्यजना भी प्रारम्भ हो जाती है और गीति-काव्य का सृजन होता है। इस प्रकार जिस वस्तु की अभिव्यक्ति गीतिकाव्य में होती है वह कुछ काल्पनिक हो जाती है। यथार्थ या ज्ञात वस्तु के आधार पर निर्मित गीतिकाव्य अनेक अशो मे यथार्थ से अलग और काल्पनिक हो जाता है। वस्तुत जो चित्र गीतिकार के मानस पटल पर निर्मित होता है उसी की अभिव्यजना होती है और यह अनुभूति वैयक्तित होती है। कथा कहने और सुनने की प्रवृत्ति बचपन से होती है। वयस्क के नायक कहने वाली कथायें सगीत के माध्यम से काव्य के छन्दो मे सप्रेषित हुई। इनमे समाज-जीवन पूर्णत प्रतिबिम्बित रहा इसलिये लोक सम्प्रेषण जरूरी था। इसमें संगीत की स्वराघातता सहायक हुई। जीवन की अधिक वैयक्तिक अनुभूतियाँ Lyre के साथ गाई जाकर Lyric बनी। संगीत के निकटतम होने पर कविता गीत या Song बना। सारा साहित्य लिखित रूप मे जन-जन तक नही पहुँच सकता था इसलिये गद्य की अपेक्षा छन्दोमय काव्यसृजन हुआ और वह संगीत के स्वरो का सहारा लेकर अनायास ही सब तक पहुँचा।

भारतीय वाड्मय पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्यधारा का विकास सगीत के साथ-साथ हुआ है। एक ओर जहाँ सगीत का विकास होता रहा वहीं दूसरी ओर संगीत के समान्तर काव्य का भी विकास होता रहा है। इसी प्रकार संगीत की कलात्मकता अर्थात सगीततत्व का विकास होता गया तथा इसके साथ ही काव्य की कलात्मकता अर्थात् काव्यत्व का विकास होता रहा। इससे काव्य और सगीत का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-जीवन-विकास के प्रथम चरण मे दिखाई देता है। किन्तु काव्य और सगीत का यह प्रारम्भिक सम्बन्ध कालान्तर मे क्षीण होता गया अर्थात उसी घनिष्ठ रूप में नही दिखाई देता है। इन दोनो ने धीरे-धीरे अपना अलग-अलग मार्ग निर्धारित करके उसी पर बढना विकसित होना प्रारम्भ किया इस प्रकार काव्य और सगीत जो

शोक-जीवन से अन्तर्स्यूत थे, अब धीरे-धीरे उसी से दूर हट गये। ऐसा होने पर भी यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि लोकतत्व ही काव्य और संगीत मे समाप्त हो गया अथवा लोक जीवन में इनके तत्वों का शोध-निरर्थक है। सत्य तो यह है कि संगीत और काव्य चाहे कितनी ही दूर-दूर रहकर अपना विवेचन क्यो न करें किन्तु गीति-भावना मे दोनो एक साथ जुड़कर चलते रहे है। भक्तिकाल मे यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। जब भक्त अपने हृदय की भावाभिव्यंजना एक ओर जहाँ साहित्यिक एव कलात्मक गीतो मे करता है जो शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से खरे उतरते है वही वह लोकगीत शैली के आधार पर अपने हृदय की मार्मिक व्यंजना करता है। लोकगीत की सर्वाधिक प्रचलित शैली मे कवि अथवा गायक टेक के स्वर को लम्बा कर प्रत्येक चरण के बाद गाता। समूहगान मे भी ऐसी ही प्रवृत्ति प्रत्येक चरण के बाद पंक्ति दुहराने मे देखी जाती है। कबीर के पद मे वह विशेषता देखते ही बनती है—

को बीने प्रेम लागीरी, माई को बाने।
राम रसांइण माते री, माई को बीने ।।टेक।।
पाई-पाई तूं पुतिहाई,
पाई की तुरियां बेचि खाई री, माई को बीने ।।
ऐसे पाई पर बिपुराई,
त्यूं रस बांनि बनायो री. माई को बीने ।।
नाचै तानां नांचै बांनां,
नाचै कूंच पुराना री, माई को बीने ।।
कर गहि बेठि कबीरा नाचै,
चूहै कादया तानां री, माई को बीने ।।[5]

सूरदास की रचनाओ मे लोकगीतों के शुद्ध एवं परिष्कृत रूप को देख कर यह तथ्य स्वयमेव स्पष्ठ हो जाता है कि गीति का मूल तो लोकगीतों मे ही छिपा है। सूरसागर के जन्म-बधाई, सोहिलो, बाल-छवि-वर्णन, ज्योंनार, राधा-कृष्ण विवाह, दानलीला, होली, वसन्त एव विरह के प्रसंगों मे सूर द्वारा लोकगीत शैली के आधार पर रचे हुए गीति पद उपलब्ध होते है। लोक लीला करने वाले कृष्ण की लीलायें ही लोकगीतों के अनुकूल हैं। "ग्राम-गीतों की सहजता, ग्रामीण पृष्ठभूमि, समूहगत भाव, भाषा का अनगढ किन्तु सहज अकृत्रिम रूप", विचार कम किन्तु वर्णनात्मक अथवा कहीं-कहीं भाव की सहजता एवं पुनरुक्ति आदि इन गीतों की विशेषता है। रसिया, होली, सोहिलो मल्हार अदि रागो में गीतो की रचना हुई। यथा बधाई समय के पद मे एक पद 60 पंक्तियो का, राग आसवारी में कवि सूरदास ने इस प्रकार रचा है

ब्रज भयो महर के पूत, जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल नयक गुनी॥
× × ×
ता दिन तैं वे ब्रज लोग सुख सम्पति न तजे।
सुनि सबकी गति यह सूर, जे हरि-चरन भजे॥[6]

यह पद विचार और भाषा दोनो दृष्टियो से अति साधारण है। शब्दो की जोड-गाँठ के द्वारा लय एव स्वर का विस्तार किया गया है। लय एवं स्वर विधान, प्रत्येक पक्तियों में, समूह गान के लिये अत्यधिक उपयुक्त है। कृष्ण-जन्म एवं बधाई का लम्बा वर्णन है जिसमे सामूहिक उल्लास और उमंग प्रतिध्वनित होता है। भाषा का साहित्यिक पुट या अलंकरण नही है। पुनरुक्ति तो प्रारम्भ मे ही है—"जब यह बात सुनी" के पश्चात् "सुनि आनन्दे सब लोग" मे सुनी की पुनरुक्ति है। नयक गुनी, धुनी, मुदी, सुदी पूरन-काम-करी आदि मे भाषा का परिष्कार नही है।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन का तात्पर्य यह है कि लोकगीत न केवल कलात्मक गीतो के मूल उत्स है वरन् भक्तिकाल के उत्कृष्ट गीतिकारो ने साहित्यिक गीतो के साथ-साथ भावानुकूल लोकगीतो की भी रचना की है। इससे यह तथ्य भी सकेतित होता है कि लोकगीतों की परम्परा क्षीण भले हुई हो लुप्त नही हुई थी। वस्तुत किसी भी धारा या प्रवृत्ति का विकास एकाएक, आकस्मिक रूप मे, नही होता है। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि एक युग की सर्वथा समाप्ति और दूसरे युग का अचानक उदय भी नही होता है। प्रवाहित होते हुये युग के बीच मे ही आगे आने वाले युग के लक्षण बीज रूप मे दिखाई पड़ते है जो उसी युग मे अपने क्षीण प्रकाश के साथ चलते हैं। इसी प्रकार जब दूसरे युग का प्रारम्भ होता है तो पहले युग के लक्षण, उसकी प्रवृत्तियाँ समाप्त नही होती हैं अपितु वे क्षीण प्रकाश के रूप मे दूसरे युग मे चलती रहती है। यही प्राचीन युग का क्षीण प्रकाश अथवा क्षीण धारा कभी-कभी नवीन वस्त्राभरण ग्रहण करके प्रमुख होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। यह क्रम प्रकृति के शाश्वत नियम की भाँति चलता रहता है।

भारतीय वाङ्मय की समालोचना भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि भारतीय काव्य संगीत का साहचर्य लेकर विकसित हुआ है। गीति-काव्य के उद्भव का सम्यक् शोध करने से यह भी प्रकट हो चुका है कि भारतीय काव्य धारा मे सगीतात्मक-काव्य का विकास आदिकाल से होता रहा है। हृदय के मर्म-स्थल को स्पर्श करने वाली इस सगीतात्मक-काव्य-धारा का लक्षण हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल मे भक्तों के गीतो से प्राप्त किया जा सकता है। भक्तों के हृदय के अन्तर्गत से संगीतात्मक काव्य-धारा अबाध-गति से, उच्छृंखल रूप मे, प्रकट हुई है। इस काल की काव्य-धारा मे संगीत का शास्त्रीय गुणो से ओत-प्रोत व्यवस्थित नादात्मक रूप प्राप्त होता है। इस प्रकार के काव्य को गीतिकाव्य की संज्ञा दी गई है। इस संगीत

का इनना व्यापक प्रभाव पड़ा कि हिन्दी साहित्य के प्रबन्ध-काव्यों यथा—रासोकाव्य एव आल्हाखण्ड आदि गाथा काव्यो मे भी यह तत्व प्राप्त होता है। संगीत का चरमोत्कर्ष भक्तिकाल में हुआ, यही कारण है कि पद्मावत और राम चरितमानस जैसे भक्तिकाल के प्रबन्धात्मक काव्यो के छन्दात्मक अश भी रागबद्ध है।

संगीत का व्यापक प्रभाव काव्य के हर क्षेत्र मे प्राप्त होता है। ऐसे ही संगीत की तादात्मकता से युक्त हृदय स्पर्शी गीतों को गीति-काव्य की संज्ञा दी गई है। इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नही है कि भक्तो द्वारा या गीतिकारो द्वारा जो गीति-काव्य प्रसूत हुआ है उसमे संगीत की प्रमुखता रही हो अथवा इससे यह अभिप्राय भी नही है कि भक्तो को संगीत का ज्ञान, कविता करते समय अर्थात गीति-काव्य की उद्भावना के समय, रही हो। संगीत के अन्तर्गत तो स्वत प्रस्फुटन की शक्ति होती है। ऐसे क्षणो मे कविता सभी सीमाओं को तोडकर भावो के अनुरूप गीतिकार के हृदय से अभिव्यंजित होती है। गीतिकार की सफलता भी इसी में निहित है। ऐसा गीति-काव्य शुद्ध रूप से केवल भावो मे आबद्ध रहता है। गीतिकाव्य का स्वरूप तो सगीत की शास्त्रीयता के अनुरूप होता है किन्तु वह उसमे आबद्ध न होकर स्वतन्त्र होता है। सगीत का समावेश तो गीतिकाव्य मे भावों की तीव्रतम अनुभूति के लिये होता है। यह भी आवश्यक नही कि उत्कृष्ट गीतिकार संगीत के शास्त्रीय विधान का ज्ञाता एवं गायक हो। जैसा कि भक्तिकालीन गीतो मे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि संगीत का शास्त्रीय विधान अपनी बँधी बंधाई रीति के अनुसार तो है किन्तु कही भी रचनाकार अथवा गीतिकार के हृदय की भावुकता, उसकी गहनता एवं प्रवाहा-त्मकता के ऊपर हावी नही है अपितु भावो को अपनी पूर्ण गहनता के साथ सम्प्रेषित करने मे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करती है। कबीर के पदो को गायक राग-रागि-नियो मे बाँधकर, शुद्ध रूप मे गा सकते हैं। कबीर के समय में भी राग-रागिनियो का विकास हो चुका था किन्तु कबीर स्वयं राग रागिनियों के ज्ञाता थे, इसमें सन्देह है। कबीर के पदो के ऊपर भी रागों के नामोल्लेख नहीं है। परन्तु इतना तो सत्य है ही कि ये सन्त भक्त यह अवश्य जानते थे कि संगीत का प्रभाव रागात्मक प्रवृत्तियो पर होता है और धर्म का रागात्मक प्रवृत्तियों से निकटतम सम्बन्ध है। यही कारण है कि न केवल "मास कागद" न छूने वाले कबीर ने वरन् अनपढ़ किन्तु अनुभव-जन्य प्रौढतायुक्त अन्य सन्त कवियो के पदों में यही सगीतात्मकता अत्यधिक मिलती है। वास्तव मे भक्ति-भाव की पूर्णता हेतु रस-दशा आवश्यक है। आचार्य विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।[7] जिस प्रकार रस काव्य की आत्मा है उसी प्रकार रस और संगीत का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। काव्य के भावो की अभिव्यक्ति शब्दों तथा राग-रागिनियों द्वारा ही सम्भव है। बिना इसका आश्रय लिये गीतिकाव्य का भाव प्रकाशन सम्भव नही है। यही कारण है कि अनुकूल भाव प्रकाशन हेतु एवं भावानुसार रस निष्पत्ति हेतु, गीति-कविता मे, रागो का चयन विषयानुसार भक्ति-काल के भक्तो ने किया है। और स्वरो के सहयोग से संगीतमय गीति-रचना का

निर्माण होता है। कवि की गीति रचना की सफलता भी इसी मे निहित है कि वह अपनी रचना में शब्दो का भावानुकूल प्रयोग करे। भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवियो मे कबीर के पदो की भावानुकूल एव रसानुकूल शब्दावली को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि कबीरदास ने अपने विचारों के अनुरूप ही शब्द चयन किया है। अक्खड़ी कबीर ने चाहे हठयोग की सैद्धान्तिक क्रिया का वर्णन किया हो, चाहे सामाजिक कुरीतियो पर कुठाराघात हो सभी स्थलो पर उनकी वाणी गीतमय है, संगीतबद्ध है, रागो के अनुकूल है। यही कारण है कि कबीर की इस प्रकार की विचारानुकूल वाणी का प्रभाव जनमानस पर अत्यधिक पड़ा। जहाँ तक कबीर के संगीत ज्ञान का प्रश्न है, कबीर को संगीत का पूरा ज्ञान अवश्य था। उन्होंने अपने पदो मे अनहद नाद को वेणु की संज्ञा दी—

1—अनहद बेन बजाय करि,
रह्यो गगन मठ छाइ।[8]
2—ससि हर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बेन बजै, तब साई संगि बिराजै॥[9]

उन्होंने अपने गीति-पदो में सहजता एवं स्वाभाविकता के साथ ज्ञान का, हठयोग का उपदेश दिया है। कबीर एव अन्य सन्तो के गीति पदों की इन्हीं विशेषताओ का अवलोकन कर दीनदयाल गुप्त का कथन सत्यता के निकट जान पडता है — "सन्त कवि कबीर तथा उनके अनुयायी अपने सिद्धान्तो को काव्यबद्ध कर सगीत के माध्यम से जनता तक पहुँचाते थे। सन्तकाव्य के कवि मुख्यतया कबीर ने तो शास्त्रीय संगीत का विधिवत अध्ययन किया था।"[10]

कृष्ण भक्तों ने संगीत के माध्यम से ही अपनी काव्याभिव्यक्ति की है। सूर तो शास्त्रीय सगीत के मर्मज्ञ थे ही। उन्होने संगीत को अपने भावो के अनुरूप ढाला है। कही भी संगीत की शास्त्रीयता के बोझ से उनकी कविता बोझिल नही है। अर्थात् सूर के पदो मे शास्त्रीय संगीत के स्वर-लय का पूर्ण विधान है किन्तु उनके पदो मे स्वर-लय का नादात्मक चमत्कार नही है वरन् शब्द-संगीत की प्रधानता है। सूर के पदो का कवित्त संगीत का दास नही है। उनके पदो में संगीत पद की भावुकता को अभिवृद्ध करने, सरसता का संचार करने और अनुकूल भावभूमि का निर्माण करने का कार्य करता है। संगीत अर्थ—सौरस्य अथवा शब्द-सौन्दर्य की क्षति किसी भी प्रकार नही करता है। वह तो शब्दो की रमणीयता, ध्वन्यात्मकता और स्वर-लहरी से अर्थ मे सौष्ठव और कल्पना में कमनीयता भरता है। यही कारण है कि एक ओर सूर के पदो मे सगीत रचना के तत्व मिलते है तो दूसरी ओर उनमे काव्यात्मक वर्णयोजना, अलंकार विधान और रसावयवों की अनिवार्य योजना प्राप्त होती है। पदगत शब्द-संगीत अनुभूति की सूक्ष्मता को मूर्तिमान कर देता है। सूरदास ने संगीत तत्व की रक्षा हेतु प्रसाद-गुण-प्रधान शब्दावली को अधिक ग्रहण किया है किन्तु जब

संस्कृत-गर्भित शब्दावली को ग्रहण करते हैं तो उन पर स्वरों के अनुरूप ऐसी रंगत लाते है कि वह भी नाद सौन्दर्य के अनुरूप हो जाती है । यथा

सोभित कर नवनीत लिये ।
घुटुरुन चलत रेनु-तन-मण्डित, मुख दधि लेप किये ।।[11]

पद में सस्कृत गर्भित शब्दावली का बाहुल्य है । किन्तु शोभित को सोभित तथा रेणु को रेनु बनाकर ब्रजभाषा का मार्दव भर दिया है । साथ ही दन्त्य वर्णों की बहुलता और सानुनासिक ध्वनि के संयोग से उसका गेयत्व और अधिक सघन कर दिया है । इसी प्रकार एक अन्य पद में तद्भव शब्दो का प्रयोग कर माधुर्य गुण भर दिया है—

किलकत कान्ह घुटुरवनि आवत ।
मनिमय-कनक नन्द के आँगन, बिम्ब पकरिबे धावत ।।[12]

इस पद में ऐसा प्रतीत होता है कि कवि किलकत, कान्ह, घुटुरवनि, मनि, आँगन, पकरिबे, धावत, दंतियाँ, पुनि आदि शब्दो का प्रयोग पद के गेयत्व के लिये तत्समता से कुछ ही हटकर करता है ।

भक्तिकाल के रामभक्त तुलसी—"ससी" के विषय मे यह तो कहा जा सकता है कि ये संगीत कला के भारी पण्डित थे । किन्तु इनके गायक होने में सन्देह है । तुलसी के गीति-पदो में संगीत विधान का पालन अवश्य हुआ है परन्तु उनके द्वारा रचित स्तुतिगीतो, चरित-पदो मे गेयत्व की सहज प्रवाहात्मकता नही मिलती । गोस्वामी तुलसी दास ने अपनी गीतिकृतियो में 21 राग-रागिनियो का प्रयोग किया है । जहाँ भक्त कवि की भावात्मकता अनुभूति की तीव्रता से ओत-प्रोत है वहाँ तो सगीत का सहज प्रवाह स्वयंमेव आ गया है । जहाँ केवल भाव-वर्णन है अनुभूति गौण है वहाँ सस्कृत-गर्भित शब्दावली को शास्त्रीय संगीत के अनुसार स्वरलय युक्त करके पद का निर्माण तो हो गया है, परन्तु हृदय को संकृत करने वाला सहज अनुभूतिमय प्रवाह नही मिलता ।[13] इस प्रकार के पदों को लक्ष्य कर कुछ विद्वान उन्हें सगीतज्ञ नही मानते है । उनके अनुसार गोस्वामी जी के "अन्तरे" कही-कही अधिक लम्बे हो गये है उनके गाये जाने में गायक कठिनाई का अनुभव करता है । "अन्तरा" मे यह विस्तार इस बात का सूचक है कि तुलसीदास जी भावाभिव्यंजना को ही प्रधान मानते थे । इसी से विनय कुमार कहते है—'थोड़ा-सा और गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर पता चलता है कि तुलसीदास जी को संगीत की अधिक राग-रागिनियो का ज्ञान न था ।'[14] कुछ अन्य विद्वान भी तुलसी को संगीतज्ञ नही मानते है । इसी से वे कहते हैं कि रामकाव्य के तुलमी आदि को इतना अवकाश नहीं मिल पाया कि वे विधिपूर्वक शास्त्रीय मंगीत का अध्ययन कर सकते ।[15] डॉ० रामकुमार वर्मा तुलसी को श्रेष्ठ सगीतज्ञ मानते हैं । किन्तु यह भी उल्लिखित करते है कि गोस्वामी जी के पद राग और रस की कसौटी पर खरे नही उतरते ।[16]

अस्तु भक्तिकालीन गीति-साहित्य को दृष्टि में रखते हुये यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि गीति से संगीत [illegible] के लिये होता है और यदि ऐसा नहीं होता

है तो गीतिकाव्य मे सहज स्वाभाविक सगीतात्मक प्रवाह समाप्त हो जाता है जिससे कवि की कविता की स्वाभाविकता, प्रवाहमयता एवं सम्प्रेषणीयता कम हो जाती है।

भारतीय सगीत के विषय मे विचार व्यक्त करते हुये महर्षि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक स्थल पर कहा है—मुझे ज्ञात होता है कि भारतीय संगीत धार्मिक व्याख्या से परिपूर्ण, मानवी अनुभवों से, दैनन्दिन अनुभूति से अधिक सम्बन्ध रखता है। सगीत का आध्यात्मिक मूल्य है। यह दैनन्दिन घटनाओं से आत्मा को मुक्त करता है और आत्मा एव परमात्मा के सम्बन्धो का गीत गाता है।"

टैगोर का यह कथन भक्तिकालीन गीतिकाव्य के पक्ष मे अक्षरश सत्य है। सूर, कबीर, तुलसी, मीरा, दादू, नानक आदि कोई भी कवि रहा हो सबका गीतिकाव्य इसी आत्मा और परमात्मा के संगीत को लेकर मुखरित हुआ है।

इस काल के गीतो के लिये वाद्ययंत्रो की विशेष आवश्यकता नही पड़ती। उसके लिये एकता भी काफी है। कारण यह कि शब्दो की स्वाभाविक गति के अनुसार उनका प्रयोग किया गया है। शब्दों की स्वाभाविक प्रकृति संगीतात्मक होती है। जिससे रागात्मकता स्वयमेव प्रस्फुटित होती है। संगीत की नादात्मकता के अनुसार शब्दों का प्रयोग होने से गीतिकार का गीत स्वयमेव गीतिकाव्य मे आ जाता है। संगीत गीति-काव्य की आत्मा है। वह तो गीति-काव्य की आत्मा से इतना अधिक घुलामिला रहता है कि उसे अलग नही किया जा सकता है। काव्य की अन्विति संगीत से होती है। संगीत के कारण ही गीतिकाव्य, काव्य की अन्य विधाओं से अलग होकर अपने नादयुक्त लयात्मकता से परिपूर्ण शब्दो की योजना करता है। किसी वस्तु-विशेष के द्वारा उत्पन्न हृदय की अनुगूँज, आवेग, माधुर्य, लय एव नादयुक्त शब्दो का आधार लेकर विभिन्न राग-रागिनियो के माध्यम ने प्रत्यक्ष होता है। यह संगीत ही हृदय की अनुगूंज का सफलतापूर्वक निर्वाह, शब्द-शक्ति के माध्यम से करता है तब उत्तम, शुद्ध एवं परिष्कृत गीतिकाव्य की उद्भावना होती है। यही गीतिकाव्य का लक्ष्य एव उसका उद्देश्य है।

गीति-काव्य मे सगीतमयता की आलोचना के सन्दर्भ मे संगीत के रागों का अत्यल्प विवेचन विषयान्तर न होगा। सम्यक् भावाभिव्यक्ति के लिए एव समुचित भाव सम्प्रेषण हेतु रागो का विशेष महत्व है। यही कारण है कि भारतीय संगीत का विवेचन करने वाले संगीत-रत्नाकर आदि ग्रन्थो मे रागो का विषय, रस एव समय से सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। राग-रागिनियो का निर्माण स्वर-लय के सामंजस्य से हुआ है और स्वर तथा लय के सामजस्य से उत्पन्न राग विभिन्न भावों को हृदय मे मूर्तिमान कर देता है। विभिन्न स्वरो के सयोग से किसी राग का स्वरूप गम्भीर तो किसी का चपल है। मालकोंस, हिंडोल, भैरव आदि राग परूष प्रकृति के परिचायक है तो भैरवी, आसावरी, रामकली, जैतश्री आदि राग अपनी कोमलता, माधुर्य और लालित्य से नारी प्रकृति की सुकुमारिता की सर्जना करते है। इस प्रकार राग-रागिनियो का भीजो के विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है तथा रागो के स्वरो का

घनिष्ठ सम्बन्ध गायक के उन भावों और विचारो से है जिनकी अभिव्यक्ति वह राग विशेष के स्वरो से करता है ।

संगीत की राग-रागिनियाँ रसाभिव्यक्ति में पूर्ण सहायक होती है सच कहा जाय तो रागो के द्वारा ही रस की व्याप्ति श्रोता मे होती है । संगीत के नाद से ही सुख-दु.ख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा आदि की प्रतीति होती है । नादात्मक अभिव्यजना, प्रकृति रूप में हृदय के अत्यन्त निकट होती है । मनोरागो की उद्दीप्ति संगीत के द्वारा अनायास हो जाती है । देवादि विषयक रति अर्थात भक्ति को संगीत के सर्वथा अनुकूल है, क्योकि भक्ति मे प्रभु के शील, शक्ति और सौन्दर्य मे गान तथा सांसारिक बिडम्बना के फलस्वरूप दैन्य, आत्मनिवेदन, विनय आदि मे रुदन की स्वाभाविकता प्राप्त होती है । और गान तथा रुदन संगीत की नादात्मक अभिव्यंजना से जुड़े हुये है। विभिन्न मनोभावो को उद्दीप्त करने की क्षमता सगीत मे होने के कारण ही भारत के प्राचीन मनीषियों ने भक्ति मे संगीत को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान देकर कीर्तन की परम्परा का विकास किया जिसमे भक्त प्रभु के समक्ष बैठकर व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अपने हृदयोद्गारो की संगीतमय अभिव्यक्ति करता है ।

संगीत को विषय और रस से ही नही प्रकृति से भी जोडा गया है । प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल रागो का प्रयोग करने से, संगीत के ही माध्यम से सहज भावाभिव्यक्ति होती है । इसलिये दिन के आठों प्रहरो के अनुकूल राग के स्वरो की सम्यक् योजना की गई है । जिस प्रकार दिन के प्रात· काल, मध्यान्हकाल तथा सायं मे वातावरण क्रमश परिवर्तन होता है उसी प्रकार रागो के विधान में भी वातावरण परिवर्तन के साथ-साथ स्वर परिवर्तन का विधान है । उषाकालीन रागों में कोमल रे ध तथा तीव्र ग नि का प्रयोग किया जाता है इसलिये इस काल मे रामकली, ललित, भैरव, विभास और भैरवी सन्धि-प्रकाश राग गाये जाते है । इन रागो के स्वरों में शान्ति और माधुर्य का स्वर-संगम होता है । गुप्त-मानव हृदय को अध्यात्मिक जागृति प्रदान करने वाले ये राग है । सूर्योदय होते ही रागो मे गम्भीरता आ जाती है । इसलिए रे ध को तीव्र कर दिया जाता है तथा विलावल, अल्हैया विलावल तथा देसकार राग में भगवद्भक्ति के भजन-कीर्तन, लीलागान आदि गाये जाते है । दिन के द्वितीय प्रहर मे ग नि कोमल स्वरो मे राग गाये जाते है । इसमे राग आसवारी, देव, गाधार, टोडी आदि है जिसमे भक्ति एव शान्त रस के पद गाये जा सकते है । मध्यान्ह के रागो की प्रकृति और गम्भीर हो जाती है अत. ग नि को और तीव्र कर दिया जाता है । राग-सारग, जो भक्ति तथा शान्त रस के अनुकूल है, के विविध प्रकार इसमे गाये जाते है । मध्यान्ह के उपरान्त के इसी स्वर के साथ रागमारु भी गाया जाता है जिससे शृङ्गार एवं वीर रस की उद्दीप्ति होती है । सायकालीन शान्त वातावरण मे "रे ध" स्वर आ जाते है । इस संधिकाल में गौरी, पूर्वी, श्री, पूरिया, जैतश्री आदि रागों की प्रतिष्ठा है । रात्रि के प्रहरों मे दिन के रागों के स्वर ही पुन. उसी क्रम से आते है । दिन और रात का अन्तर रखने के लिये दिन मे म कोमल

और रात्रि में "म" तीव्र होता है। रात्रि में प्रथम प्रहर के राग हैं—कल्याण, हमीर, केदारा, ईमन और भूपाली आदि तथा शृङ्गार एवं शान्त रस के अनुकूल है। द्वितीय प्रहर के विहागरा सोरठ, नट और जैं जैवन्ती राग गम्भीर भाव के उपयुक्त है। तृतीय प्रहर के कान्हरा, अडाना और माल कौंस आदि शान्तरस के अनुकूल है। चौथा एवं अन्तिम प्रहर के आरम्भ होते ही प्रातः काल के रागो का समय आ जाता है।

यद्यपि वल्लभ सम्प्रदाय मे अष्टछाप के कवियो ने सभी प्रहरो के रागो को विशेष महत्व दिया है तथापि सभी भक्तिकालीन कवियो के पदो मे भावानुकूल एव समयानुकूल रागो का प्रयोग है। सन्तो, कृष्णभक्तों एव रामभक्तो को इस संगीत का महत्व अवश्य ज्ञात था। यही कारण है कि भक्तिकाल के भक्तो ने संगीत का आश्रय लेकर भावाभिव्यक्ति की है। यही नही तुलसी ने तो रामचरितमानस जैसे प्रबन्ध काव्य को भी संगीत की लयात्मकता मे इतना आबद्ध कर दिया है कि वह गान के सर्वथा अनुकूल है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गीति के लिये जिस संगीतमयता की आवश्यकता होती है वह भक्तिकालीन भक्तो के पद साहित्य मे पूर्णतः प्राप्त होता है। अध्यात्म के लिये जिस शास्त्रीय सगीत को आवश्यक माना जाता है वह भी कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि संतो, मीरा, सूर, परमानन्द आदि कृष्णभक्तो एव तुलसी जैसे प्रबन्धकार की गीति कविताओ मे गीति-तत्वो के रूप मे उपलब्ध होता है।

यह प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है कि मानव का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। मानव का यह लक्ष्य अनुभव तक ही सीमित न होकर उसे प्राप्त करने मे रहता है। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का प्रवाह आनन्द की ओर है। भक्तिकालीन साहित्य की भावभूमि भी यही है। आनन्द ही नही वरन परमानन्द मे अनुभूति की अभिव्यक्ति ही इस काल के साहित्य मे पूर्णत व्याप्त है। कवि परमानन्द विषयक व्यक्तिगत अनुभूतियो को कभी सार्वभौमिक बनाकर तो कभी व्यक्तिगत सुखानुभूति हेतु अभिव्यक्त करता रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक कला अथवा साहित्य के विषय मे यह कहा जा सकता है कि कलाकार अथवा साहित्यकार अपने व्यक्तित्व का प्रक्षेप अपनी अभिव्यक्त कविता मे करता है। कलाकार अपने व्यक्तित्व को अपनी इच्छा, वासना, भावना आदि को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। भक्तिकालीन भक्त कवियो के विषय में यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट है। जैसी भगवत-विषयक भावना भक्त-कवियो के अपने हृदय मे थी वैसी ही अभिव्यक्ति उनके गीति-पदो मे दृष्टिगत होती है। भक्ति यद्यपि व्यक्तिगत है किन्तु यह भक्त कही भी समाज को त्याग कर उससे मुख मोडकर नही रह सका है। तुलसी ने रामचरित मानस में, "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" कहकर अपनी अनुभूति के सम्बन्ध मे स्पष्ट घोषणा ही कर दी। किन्तु क्या वे अपने काव्य को अथवा अपनी भक्त्यात्मक अनुभूति को केवल अपने तक सीमित रख सके ? स्पष्ट उत्तर है नही। आज वह सबसे बडे समाजवेत्ता व्यक्ति माने जाते हैं उनकी भक्ति आदर्शों एव मर्यादा पर दृढ़ थी यही कारण है कि

उनके द्वारा अभिव्यक्त प्रबन्ध-काव्य अथवा गीतिकाव्य समष्टि के लिये है। समाज की सुख प्राप्ति हेतु विनय पत्रिका के पद-पद मे आग्रह एवं आकुलता है। भक्ति-कालीन संत भी जो व्यक्तिगत साधना करते-करते पूर्ण सन्त हो चुके थे, व्यक्तिगत भावनाओं को अनेक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करते है तथा समाज से सदैव अपने को जुडा हुआ मानते तथा समझते हे। यही कारण है कि लोग कबीर को अनेक अंशो मे समाज-सुधारक कह देते है। सूर का कृष्णचरित वर्णन यद्यपि व्यक्तिगत अनुभूति की गीति-पदात्मक अभिव्यक्ति है तथापि इनका वर्णन लौकिक जीवन के इतना निकट है कि भक्त जीवन सामाजिक संदर्भ मे अपने को अलग नही रख सकता। मीरा की व्यक्तिगत भावनाओं की कोई सीमा नही थी। उनके एक-एक पद मे अपने प्रियतम भगवान कृष्ण के लिये कही वेदना का असीम बादल है तो कही सयोग का अथाह समुद्र। इसी प्रकार सभी कृष्ण भक्तो का भगवत चरित वर्णन व्यक्तिगत अनुभूति एवं अभिव्यक्ति मे परिपूर्ण है किन्तु लौकिक जीवन मे अत्यधिक साम्य होने के कारण साहित्य एव समाज पर, इनकी व्यक्तिगत अनुभूतियो के वैविध्य का, अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

काव्य-रचना-प्रक्रिया में कवि का मानसिक जगत वस्तु-विशेष मे इतस्तत विचरण करता हुआ सुप्तावस्था से चेतन अवस्था मे धीरे-धीरे आने लगता है। जैसे-जैसे कवि की चेतना तीव्रतर होती जाती है वैसे-वैसे कवि का मानसिक सघर्ष भी बढता जाता है। मनोवृत्तियों के पारस्परिक मानसिक द्वन्द्व प्रमुख होकर वस्तु-विशेष के स्वरूप के ऊपर अपना आवरण डाल देते हैं। ऐसे समय स्पष्टत वस्तु गौण होती है और कलाकार की आत्माभिव्यंजना रागात्मक अनुभूति के कारण प्रमुख हो जाती है। कलाकार जब अपनी इस रागात्मक अनुभूति को अभियक्ति देता है तब गीति-की सृष्टि होती है। इस गीति-काव्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति कलाकार की वैयक्तिकता की विशेषता मे ओतप्रोत रहती है। गीतिकाव्य की अधिकरण निष्ठता का यही रूप है। यद्यपि कलाकार गीतिकाव्य को पूर्ण वैयक्तिकता के साथ अभिव्यक्त करता है तथापि यह अपनी कृति को विश्वजनीन बनाने के लिये वैयक्तिकता—जिसके कारण कलाकार का मानसिक जगत आत्माभिव्यजित होता है—को आदर्श एव भावात्मक रूप प्रदान करता है। वस्तुत आत्मचेतना की जागृति ही गीति-काव्य की अन्तर्आत्मा है। गीतिकाव्य की आत्माभिव्यक्ति सम्पूर्ण भाषा मे होना आवश्यक है। प्रत्येक कलाकार भिन्न-भिन्न माध्यमो मे अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है और भावात्मक साहित्य इसी प्रकार की आत्माभिव्यक्ति का आधार लेकर चलता है। इस प्रकार आत्माभिव्यंजना का अर्थ "मनोवेगो के तीव्र आवेश का आग्रह" के रूप मे लिया जाता है। कवि के अन्तर्जगत मे चेतन अनुभूति का सन्तुलित रूप गीतिकाव्य मे प्रकट होता है। अन्तत: यह कहा जा सकता है कि गीति-काव्य मे कवि के व्यक्तित्व का प्रक्षेप होता है'

कलाकार अपनी कृति का अनुभूतिमय चित्र पाठक या श्रोता के हृदय मे उत्पन्न करने मे यदि असमर्थ होता है तो उसकी कविता की संवेदन शक्ति नही मानी जा सकती । इसके साथ ही साथ दूसरी ओर पाठक अथवा श्रोता के हृदय मे कलाकार के हृदय के अनुरूप ही अनुभूतिप्रयता नहीं है तो वह कविता या कृति पाठक अथवा श्रोता पर कोई भी प्रभाव या छाप नहीं छोड़ सकती । समान रसानुभूति के लिये समान अनुभूति का होना आवश्यक है या कलाकार की कृति ही इतनी सम्प्रेषणशील होनी चाहिये कि वह उसी प्रकार की अनुभूति जाग्रत कर सके । इसी सन्दर्भ मे यह भी कहा जा सकता है कि यदि कवि अथवा कलाकार स्वयं ही उद्देश्य बनकर कृति का निर्माण करेगा तो उसकी कृति न तो सम्प्रेषणशील हो सकती है और न वह पाठक या श्रोता से अपना सीधा सम्पर्क अर्थात तादात्म्य स्थापित कर सकता है । रसोद्रेक के लिये तो सस्कार रूप से मनोरागो की आवश्यकता होती है । परम्परागत रूप मे अनेक राग मनुष्य को मिले है । ये मनोराग मानव के मन मे अपनी क्षीण आभा रखते है । कलाकार अथवा कवि की वैयक्तिक अनुभूति उस क्षीण मनोराग को तीव्रतर करती है और वह उसी वैयक्तिक मनोराग को अभिव्यक्त करता है । जहा कवि का उद्देश्य एक ओर तो आत्मप्रकाश होता है वही दूसरी ओर वह सप्रेषणीयता का भी अभिलाषी होता है । कारण यह है कि प्रत्येक कलाकार यह जानता है कि सप्रेषणीयता के बिना उसकी कृति का कोई महत्व नही है । अथवा इसे हम यों कह सकते है कि कला जितनी अधिक संप्रेषणशील होगी उसकी भाव प्रवणता एव महत्ता उतना ही अधिक होगी । यद्यपि कवि व्यक्तिगत विगलित भावनाओं का चित्रण अपने गीति-काव्य मे करता है, वह अपनी सुख-दुखात्मक अनुभूति की सम्यक अभिव्यक्ति करता है किन्तु ऐसे समय मे भी वह विषयवस्तु के प्रति सचेष्ट अवश्य रहता है । तुलसी ने "स्वान्त सुखाय" लिखा है तथा उन्होने कही भी अपनी कृति में दैन्य और नैतिकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं किया है, परन्तु उन्होने अपनी भावनाओ को सार्वभौमिक बनाकर अभिव्यक्त किया है । प्रत्येक कलाकार का मुख्य अभिप्रेत यही होता है कि वह अपनी कला को सबके उपयुक्त बना सके । इसके लिये वह विषय प्रतिपादन स्वयमेव अपनी भावना, इच्छा एव संवेदनशीलता के अनुसार सचेष्टता से करता है ।

कवि का व्यक्तित्व जैसा होता है उसके काव्य की सवेद्यशक्ति, संप्रेषणीयता भी वैसी ही होती है । व्यक्ति के दृष्टिकोण, विचार, भावना आदि उसकी अनुभूति मे जुड़े रहते है । यह अनुभूति उसके व्यक्तित्व के अनुसार ही छिछली, गम्भीर, कृत्रिम अथवा प्रभावशाली होती है । गीतिकाव्य कवि व्यक्तित्व को पूर्णरूपेण स्पष्ट कर देता है । मध्यकाल के कवि केशवदास की कविता उनके गम्भीर व्यक्तित्व की सूचना देती है । रामचन्द्रिका लिखने पर भी उन्हे कोई भक्त स्वीकार नही कर सकता । इसी प्रकार विद्यापति को दार्शनिक अथवा ८ कवि नही कहा जा सकता सूर तुलसी कबीर आदि भक्त कवियो मे भावोन्मेष की तीव्र क्षमता है उनकी

कविताओ मे व्यक्तित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति के अभाव मे भी उनकी मनोवृत्ति का भेद छिपा नही रहता। सूर की सवेदनशीलता और तुलसी की गम्भीरता तथा व्यापकता मे किसी को संदेह नही हो सकता। सूर में जहाँ गम्भीरता है तुलसी मे वहाँ व्यापकता है, सूर मे जहाँ स्वच्छन्दता है, वहाँ तुलसी में संयम। मीरा मे तल्लीनता नही वरन आकर्षण का तीव्र आग्रह है, विशदता नही लेकिन प्रभाव है। कबीर का व्यक्तित्व तो इन सबसे अलग-अलग है, कबीर मे दर्शन का आग्रह और आध्यात्मिकता का आवेश अधिक है। यद्यपि कबीर मे कर्म काण्डवादी धर्मो के विरोध का स्वर तीव्र है तथा तर्क और विचार का अवलम्बन, चमत्कार प्रदर्शन तथा कृत्रिम गम्भीरता का आरोप लगाया जाता है तथापि इसके तह में कबीर का सहज, स्वाभाविक, सरल औरअकृत्रिम व्यक्तितत्व और निश्च्छल प्रेम भी है। अत कवि की मानसिक प्रवृत्ति को उसकी परिस्थिति और युग की पृष्ठभूमि में देखना आवश्यक है।

रसाभिव्यंजना के लिये कलाकार विपय और उद्देश्य दोनो का समन्वय करता है। गीति-काव्य की एकनिष्ठता और प्रभाव उत्पादन के लिये यह आवश्यक सा है। इस प्रकार कलाकार काव्य का विपय भी परोक्ष रूप मे हो सकता है। वह अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का आरोपण दूसरो पर भी कर सकता है। कवि अथवा कलाकार प्रत्यक्ष रूप से जहाँ अपना आत्म-प्रकाशन करना चाहता है वहाँ वह अन्य अनेक परिस्थितियो की कल्पना अपनी अनुभूति के अनुरूप उसी के साथ-साथ कर लेता है। कोई भी कलाकार जितना अधिक स्वानुभूति को सत्य के निकटतर करके वर्णन करता है उसकी कृति का महत्व उतना ही अधिक हो जाता है।

भक्तिकालीन सम्पूर्ण साहित्य का यदि हम इस दृष्टि से अवलोकन करते है तो साहित्य स्वानुभूति निरूपक ही दृष्टिगत होता है। कबीर की स्वानुभूति की चर्चा करते हुये आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कहते है—"सन्त काव्य की लोकप्रियता उसके काव्यत्व की प्रचुरता पर निर्भर नही। वह जन साधारण के अंग बने कवियो (या क्रान्तिदर्शी व्यक्तियो) की स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा जन साधारण की भाषा है। उसमे साधारण जन सुलभ प्रतीकों के प्रयोग है और वह जनजीवन को स्पर्श करता है। वही सभी प्रकार से जन काव्य कहलाने के योग्य है।"[17] वस्तुत यह सन्तो की स्वानुभूति एवं उसके स्पष्ट कथन का ही परिणाम है कि उन्हें भक्त की अपेक्षा समाज सुधारक कह दिया जाता है। अनुभूति एव उसकी तीव्रतम अभिव्यक्ति के द्वारा ही सन्तों ने सहस्रो वर्षो की सामाजिक एवं धार्मिक रूढियों को चुनौती दी। सडी गली मान्यताओ का विरोध करके ढोंगियो पाखण्डियो को बुरी तरह फटकारा और सम्पूर्ण भेदो-प्रभेदो मे कही ऊपर उठकर मानस-सत्य को पहचान कर अपनी वाणी का आधार बनाया। सत्यान्वेषण के लिये स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अनुभूति आवश्यक है और यह स्वतन्त्र अनुभूति जीव की सत्ता को कर देती है कबीर ने इसी आनन्द का अनुभव करके अपनी वाणी मे एक

अनिर्वचनीय रस भर दिया है। अनुभूति तो गीतिकाव्य का प्राणतत्व है, जो वाणी को अमृतमय बना देती है। अनुभूतिहीन कविता निष्प्राण होती है। यही कारण है कि भक्तिकालीन कवियो ने अनुभूति को विशेष महत्व दिया है।

गीति-काव्य अन्तर्मन की अभिव्यक्ति है। मन जब अनुभूति की गहनता मे युक्त होता है तो गीतिकाव्य का सृजन होता है परन्तु गीति-काव्य में सघन रागात्मक अनुभूति के समय कलात्मक अभिव्यक्ति सम्भव नही हो पाती। सघन रागात्मक अनुभूति के समय कलाकार इस अवस्था मे नही रहता कि वह अपनी अनुभूति को उसी क्षणतूलिका से उतार दे। यदि वह ऐसा करता है तो कलाकार की कविता का चित्र भले ही स्पष्ट हो जाय परन्तु वह अपनी कला की संवेदनशीलता को विनष्ट कर देगा। यह भी तथ्य है कि जितनी तीव्रता हृदय मे रहती है उतनी तीव्रता गीतिकाव्य मे व्यक्त नही हो पाती। अनुभूति के तीव्रतम क्षणो में कवि उसी भावावेश की रागात्मकता मे खोया रहता है। धीरे-धीरे अपनी वैचारिकता के निकट उसे ले जाकर उसे समन्वित कर, सघन रागात्मक अनुभूति को सवेदनात्मक अभिव्यक्ति देता है। इस प्रकार उसकी सघन रागात्मक अनुभूति से प्रसूत कविता उसके बाद ही चित्रित हो पाती है। गीति-काव्य का उद्गम स्थल तो मानव हृदय का व्याकुल प्राण है। हृदय की अन्तर्ज्वाला के अन्तर्दहन के विशेष क्षणो मे गीति-काव्य का प्रणयन होता है। भिन्न-भिन्न मानव हृदय मे भिन्न-भिन्न अनुभूति होती है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कलाकारो की रागात्मक अनुभूति एवं संवेदनशीलता भिन्न-भिन्न होती है। कवि की कलात्मक भावना के अन्तर्गत ही उसका व्यक्तित्व, वैयक्तिकता तथा अधिकरण निष्ठता झलकती है। स्वाभाविक अनुभूति और उससे प्रसूत अभिव्यक्ति को कवि की कलात्मक भावना अपने मे ढाल लेती है। गीति काव्य मे इसी मानसिक घटनाओ से उत्पन्न मानसिक मूर्त-विधान का मूल्य होता है न कि वाह्य घटनाओ का। सफल गीतिकार वही है जो अपनी अनुभूति के तीव्रतम क्षणो को अभिव्यक्ति देता है। क्योकि अनुभूति के जितने तीव्रतम क्षणो में काव्य रचना होती है उसकी संवेदनशीलता एव काव्य की सम्प्रेषणीयता उतनी ही तीव्रतर होती है। भक्तिकालीन कवियो के गीतो की संवेदनशीलता एवं भाव-सम्प्रेपण का यही मर्म है। भक्तिकाल के सूर का काव्य जितना संवेदनप्रवण है उतना कबीर का नही। इसी प्रकार मीरा जितनी तीव्र बिरह विदग्धता से युक्त होती है उतनी सूर की गोपियाँ नहीं। कबीर का काव्य वैचारिकता से अत्यधिक ओतप्रोत है। अनुभूति प्रवणता उतनी तीव्र नही है, इसी प्रकार तुलसी का विरह-वर्णन बोझिल है। उदाहरणार्थ सूर की यशोदा कृष्ण के मथुरा गमन मे दु खित होती है और पथिक से कहती है—

संदेसो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो।[18]

सूरदास के इस पद मे माता यशोदा के हृदय मे पुत्र-स्नेह की
दु ख की   का सजीव चित्रण किया है यशोदा को सन्देश देना है अत

भावातिरेक मे वे पुत्र से वियोग-जन्य-दु ख की कातर वाणी नही कहती हैं वरन् अपने पुत्र के सुख के हेतु उसकी बाल लीलाओं का स्मरण कर अनेक बाते उससे कहती है। देवकी को सन्देश देते हुए अपने को उसके सुत की धाय कहती है। यद्यपि माँ देवकी अपने पुत्र के सुखो का ध्यान रखती होगी यह भी उन्हें विश्वास है तथापि उनकी ममता सयमित नही हो पाती। वात्सल्य प्रेम हृदय की सभी सीमाओं को तोड देता है और वे किसी पथिक से कहने लगती है—'सदेसो देवकी सो कहियो'। वियोग-जन्य वात्सल्य प्रेम का उत्कृष्ट वर्णन भक्त कवि सूर ने इसमे किया है। यशोदा के मातृ-हृदय की करुणा, पुत्र के प्रति उसकी मगलाकाक्षा और उसकी दयनीयता इन पक्तियों मे मूर्तिमान हो उठी है किन्तु देवकी को सन्देश देने के पूर्व एक विचार उसके मस्तिष्क में कौंध उठता है कि कृष्ण की असली माँ तो देवकी है ही अत वह अपने पुत्र का ध्यान रखती होगी। इसी से कुछ कहने के पूर्व तुरन्त ही कह उठती है—'हौ तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो।' भक्त कवि का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है साथ ही वैचारिक दृष्टि से भी सत्य है। अत भावुक कवि विचार-साम्य उपस्थित करने के उपरान्त आगे बढता है और भावानुभूति का वर्णन करने लगता है। इसी प्रकार तुलसी भी कौशल्या द्वारा मर्मस्पर्शी चित्रण करते है—

> मेरे बालक कैसे धौ मग निबहिंगे ?
> भूख, पियास, सीत, स्रम सकुचनि क्यो कौसिकहि कहहिगें ?
> को भोर ही उबटि अन्हवैहै, काढि कलेऊ देंहै ?
> को भूषन पहिराइ, निछावरि करि लोचन सुख लैहै ?[19]

उपर्युक्त पद मे कौशल्या के आकुल प्राण यही सोचकर व्यथित है कि मेरे बालक कठिन मार्ग पर कैसे चलेंगे, कैसे वन-पथ की कठिनाइयो को सहेगे ? पुन उन्हें विचार उठता है कि मैं माता हूँ अत पुत्र की कठिनाइयो को स्वाभाविक रूप मे बिना उसके कहे ही समझ जाती किन्तु वहाँ तो उनके साथ 'कौशिक'' मुनि है जिन्होंने जीवन भर त्याग, तपस्या और कठोर-जीवन-यापन मे ही अपना समय व्यतीत किया है। उनको बालकों के कष्टों की अनुभूति भला कैसे हो सकती है दूसरी ओर हमारे बालक भी उनसे संकोचवश सम्भवत नही कहेगे। इन पंक्तियो के उपरान्त की पंक्तियो में कौशल्या के वात्सल्य विरह की कातरता की ध्वनि व्यंजित नही होती जितनी इस तथ्य की, कि पुत्र यदि मेरे पास या निकट होता तो उसके श्रृंगारिक सौन्दर्य से अपने नेत्रों को सुख देती। इस प्रकार बालक के सामीप्य की आकाक्षा के साथ उसके सामीप्य-जन्य अपनी सुख की आकाक्षा अधिक है न कि उसकी असुविधाओ का, बाललीलाओं का स्मरण कर विरहानुभूति का कथन का तात्पर्य यह कि तुलसी मे विचार-बोझिल-भावात्मकता का आधिक्य है किन्तु यह भावात्मकता गीति-भावना मे कही भी बाधक या अवरोधक नही है वरन् सरल प्रवाह में सहायक है।

इसी प्रकार कबीरदास का आत्मा ८ का विरहभाव का सम्बन्ध भी

विरह की करुणा मे भरा हुआ है—कबीर परमात्मारूपी प्रियतम को पुकार कर कहते हैं—

> बालम, आव हमारे गेह रे,
> तुम बिन दुखिया देह रे।
> सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकों इहै अदेह रे,
> एकमेक ह्वै सेज न सोवे, तब लग कैसा नेह रे।[20]

कबीर की वाणी मे जीवात्मा की याचना की करुण गाथा भरी पड़ी है जो अपने प्रियतम परमात्मा से विलग होकर उसे अपने घर बुला रही है। विचार की दृष्टि से यदि आलोचना की जाय तो जीवात्मा के इस विरह मे स्त्री-पुरुष के सासारिक सम्बन्धो का स्पष्ट संकेत मिल जाता है किन्तु भक्ति को दृष्टि मे रखने मात्र से अर्थ स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है और भक्त की जीवात्मा रूपी स्त्री का रूपक प्रत्यक्ष हो जाता है जिसके माध्यम से शुद्ध विरह की सृष्टि भक्त कवि अपनी वाणी मे कर रहा है। विचार के स्थान पर अनुभूति का आग्रह इस प्रकार के पदो मे अधिक है जहाँ कवि सीधी अभिव्यक्ति करता है। मीरा की वेदना मे, तडप मे यह व्यंजना और अधिक तीव्र है। मीरा की आत्मा के तल से उठकर आने वाला ऐसा मोहक असन्तोष है जो अथाह वेदना को उद्भासित करने वाला है। विरह-भाव के गीति-पदो मे ऐसी निरपेक्ष, तल्लीन-आत्म-विस्मृति, ऐसा बहा ले जाने वाला आत्म-बोध और आत्मप्रतीति मीरा की कविता में जिस केन्द्रीय वेदनानुभूति से छनकर आती है, उसकी कुछ झलक निम्नलिखित पद में देखी जा सकती है—

> दरस बिन दूखन लागे नैन,
> जबसे तुम बिछुरे प्रभु मेरे कबहुं न पायो चैन ॥
> कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।
> मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटण सुख दैन ॥[21]

वस्तुत इस काल के कवियों ने स्वय अनुभव करके तब वर्णन किया है, और जिसने जैसा तीव्र या तीव्रतर अनुभव किया उसका वर्णन भी वैसा ही, उसी के अनुरूप है। यह सम्प्रेषणीयता काव्य की सहजाभिव्यक्ति के ऊपर निर्भर है।

कवि अपने व्यक्तिगत अनुभव, विचार, रागात्मक आकाक्षा एवं आदेश को स्वानुभूति निरूपक आत्मनिष्ठ काव्य मे अभिव्यक्ति देता है। उस काव्य मे स्पष्टत कवि का व्यक्तित्व एवं उसका अस्तित्व वर्तमान रहता है। कवि के आन्तरिक क्षोभ अर्थात् अन्तर्द्वन्द्व की वृत्ति ही गीति-काव्य को जीवन-शक्ति देती है। उसे नवीन रूप देती है। जिस प्रकार शरद-कालीन सरिता के निर्मल जल के भीतर सतह की सभी वस्तुयें स्पष्ट परिलक्षित होती है उसी प्रकार गीतिकाव्य में कवि का व्यक्तित्व साफ झलकता है। किसी भी गीतिकाव्य में कवि की व्यक्तिगत आशा-निराशा, आकाक्षा-लालसा अनुभूति एव विचार आदि का चित्र रहता है कभी-कभी कवि वस्तुनिष्ठ

बाह्यार्थ निरूपक कविता मे अपने व्यक्तित्व और आकाक्षाओ को गुप्त रखकर किसी अन्य पात्र के माध्यम से अभिव्यक्त करता है अर्थात् वह परोक्ष रूप मे रहता अवश्य है ।

एक ही व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न समयों मे अनुभूति की विभिन्नता होती है एव गहनता भी भिन्न होती है । यही अनुभूति की विविधता और गहनता के स्तर उसकी अभिव्यक्ति मे भी दिखाई देते है । कही गहन अन्तर्वेदना अभिव्यक्ति का कारण बनती है तो कही भावुकता ही अभिव्यक्त होती है । भक्तिकालीन कवियों मे यह तथ्य विशेष रूप से उपलब्ध होता है । भक्तो ने एक ही विषयवस्तु को अनेक बार प्रस्तुत किया है और प्रत्येक अवसर पर रेखांकन का अलग-अलग सफल प्रयास हुआ है । अन्तर केवल इतना है कि कही गीति पदो मे रंगो का मेल प्रथम दर्शन मे ही हृदय को प्रभावित करता है तो कही उसका भडकीलापन व्यक्ति को आकर्षित करता है । सन्त कबीर ने प्रकृति के क्रूरतम सत्य, मृत्यु पर अनेक बार अनेक प्रकार से कहकर सामाजिक को समझाने का प्रयास किया है । सासारिक सम्बन्ध मिथ्याजन्य है । शरीर क्षणभंगुर है किन्तु जब तक प्राण है तब तक भगवान् का ध्यान कर लेना चाहिये । इस मिथ्या सम्बन्ध मे रमने से कोई लाभ नही है—

मन फूला फूला फिरे जगत मे कैसा नाता रे ॥
माता कहै यह पुत्र हमारा, बहिन कहे बिर मेरा ।
भाई कहै यह भुजा हमारी, नारि कहे नर मेरा ॥
× × × ×
× × × ×
घर की तिरिया ढूढन लागी, ढूढ़ि फिरी चहुँ देसा ।
कहै कबीर सुनो भाई माधो, छाडो जग की आसा ॥[22]

भक्त कवि कबीर सासारिक सम्बन्धो की निरर्थकता के विषय मे सीधे-साधे शब्दो मे कहते है । इस पद मे भक्त कवि कबीर का स्वर उपदेशात्मक है । चेतावनी की प्रखरता के कारण कवि की बौद्धिकता अधिक सजग है । अनुभूतिगत भाव गौण हो गया है । इसी विषय-वस्तु के एक अन्य पद का अवलोकन करने से स्थिति और स्पष्ट हो जायेगी—

चारि दिन अपनी नौबति चले बजाइ ।
उतानै खटिया गड़िलै मटिया सगि न कछु ले जाइ ॥
देहरी बैठी मेहरी रोवै द्वारै लगि सगी माई ।
मरहट लौ सब लोग कुटुम्ब मिलि हंस अकेला जाई ॥
वहि सुत वहि चित वह पुर पाटन बहुरि न देखे आई ।
कहत कबीर भजन बिन बन्दे जगत अकारथ जाई ॥[23]

इस पद में हृदय की सरसता एवं सरलता स्वयमेव झलक रही है । भक्त कवि सासारिक के दुख को देखकर पीड़ित होता है और पीड़ा की गहन अनुभूति

कविता में परिणत होती है। विषय-वस्तु वही है किन्तु कथन की शैली मे अन्तर है जिसका कारण अनुभूतिगत क्षणों की गहनता का अन्तर है।

इसी प्रकार सूर के सूरसागर मे तो अनेको पद एक ही भाव के भरे पडे है। सूर तो अनुभूति-प्रधान-भावात्मक गीतिपदो का वर्णन करते-करते, एक ही विषय का अनेक चित्र, अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करके, इति वृत्ति प्रधान लम्बे-लम्बे वर्णनात्मक पदो की रचना करते है। एक ही कथा के चित्र का अंकन अलग-अलग करने के उपरान्त सबको एक ही स्थल पर समेट कर वर्णित कर देते है किन्तु कही भी गीति की संगीतमयता अथवा प्रवाहमयता मे अन्तर नही है। सूर तो गीति-पदो का निर्माण करने मे अत्यन्त कुशल है ही। किन्तु जिन विषयों का सम्बन्ध उनकी निजी आत्माभिव्यक्ति से नही है वे कोरे वर्णनात्मक बन कर रह गये है। ऐसे प्रसंगों[24] को ''गायक'' सूर ने छन्दो मे ढालकर उनका वर्णन कर दिया है। इस प्रकार के लम्बे-लम्बे पद कीर्तन हेतु रचे गये होगे। पदो मे संगीतात्मक प्रवाह होते हुये भी गीति की अनुभूति एवं अभिव्यंजना नही रहती। कवि का विचार पक्ष अधिक प्रबल रहता है। ऐसे पदो को दृष्टि में रखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि एक ही कवि की अनेक गीति-रचनाओ में अनुभूति एवं संवेदन की क्षमता कही कम तो कही अधिक रहती है। इस तथ्य पर विचार करते हुये यह भी दृष्टि मे रखना आवश्यक है कि कवि परोक्ष रूप मे किसी के माध्यम से जब अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन करता है तो उस माध्यम विशेष की स्थिति के अनुकूल भावप्रवणता अथवा अनुभूति की गहनता उस विशेष कविता मे मिलती है। अर्थात् कवि पात्र विशेष के रागात्मक आवेश को दृष्टि मे रखते हुये गीतिकाव्य का सृजन करता है।

भक्तिकालीन काव्य की सम्यक आलोचना करते समय उपर्युक्त तथ्य को अवश्य दृष्टि मे रखना होगा। सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य मे भक्ति के विभिन्न मार्गो पर भक्त विचरण करते हुये, भगवत-भक्ति की लालसा मे, गीति-पदो की रचना मे प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकार भक्ति काल का सम्पूर्ण गीति-साहित्य ज्ञानमार्गी सन्तो, राममार्गी एवं कृष्णमार्गी भक्तो का है। यद्यपि भक्तो की भक्ति भावना भगवान के लिये है तथापि भक्तो की अनुभूति सार्वभौमिक है। समाज का त्याग करके भगवत भक्ति मे लीन रहने वाले भक्त कही सामाजिक आडम्बरो पर कुठाराघात करते हुये दृष्टिगत होते है तो कही समाज सुधार हेतु आदर्शवादी रामराज्य का निर्माण चाहते और कही लौकिक जीवन मे व्याप्त काम-वासना को परमात्मोन्मुखी करके वासना-जन्य विकार का परिष्कार करते हुये दिखाई देते है। ऐसे विचारधारा वाले भक्त चाहे वे कबीर, नानक, दादू, रैदास, धरमदास आदि निर्गुणमार्गी सन्त हो या तुलसी, सूर, परमानन्द, कुम्भनदास, हरिराम जी व्यास, श्री भट्ट स्वामी, हरिदास या मीरा आदि सगुण मार्गी भक्त हो कभी किन्ही प्रतीकों के पीछे छिपकर तो कभी किसी

पात्र के ब्याज से अपने हृदयोद्गारों की अभिव्यक्ति करते है किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कवि किसी पात्र के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति के समय किसी विशेष परिस्थिति अथवा अवस्था का चित्रण करता है। सूर के सूरसागर के कृष्ण-चरित का कही भावात्मक तो कही वर्णनात्मक गीति-पदो मे कथन इसी अनुरूप मे देखा जा सकता है। इसी प्रकार तुलसी की कवितावली और गीतावली में रामचरित्र का तथा कृष्ण गीतावली में कृष्ण चरित का गीति-मय-पदो मे यह तथ्य उपलब्ध होता है। इन दोनों भक्त कवियो ने पात्रों की व्यक्तिगत अनुभूति के साथ अपनी अनुभूति सम्पृक्त करके अभिव्यक्त किया है।

सूर के पदो मे तो एक से बढ़कर एक चित्र हैं और सभी चित्रों में आडम्बर या कृत्रिमता नाममात्र भी नही है। आश्चर्य तो इस बात का है कि बाह्य दृष्टिविहीन होते हुये भी सूर को यह सब अनुभव कैसे हुआ। प्रत्येक भावात्मक चित्र वर्णन मे ऐसा प्रतीत होता है कि कवि वही कही माँ, सखा या गोपियो के पास खड़ा है। और दृश्य का अवलोकन करके ही कहता जा रहा है। इसी प्रकार—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो।[25]

पद मे बालक की नटखट प्रवृत्ति से सूर पूर्णतया परिचित कवि ही नही है वरन जब बालक कृष्ण माता से शिकायत कर रहे थे तो वही कही सूर भी उपस्थित थे। इसी से तो कृष्ण की एक-एक बात को सुनकर गीत मे ढाल दिया। कृष्ण के हँसने, बोलने, खेलने, दौडने सब मे वे साथ-साथ है कही उनको छोड़ा नहीं। उनके क्रियाकलाओ की अनुभूति करके ही वर्णन किया है यही कारण है कि उनके चित्र इतने सटीक, मर्मस्पर्शी और प्रभावी हैं।

तुलसीदास ने तो विनयपत्रिका के अतिरिक्त अन्य रचनाओं मे पात्र के माध्यम से अपनी व्यक्तिगत अनुभूति का वर्णन किया है जैसा कि पहले कहा गया है कि कवि की यह अभिव्यक्ति उसकी व्यक्तिगत रुचि अथवा मान्यता के अनुकूल है। ऐसे प्रसंगो में यह तथ्य भी स्पष्ट है कि किसी न किसी घटना या कथा का आश्रय कवि लेता है। कथाश्रय लेता हुआ भी कवि अपने मानसिक विकारो की अभिव्यक्ति कथा के पात्रो पर आरोपित करता है। इस प्रकार कवि-निबद्ध पात्रोक्ति मे कवि की व्यक्तिगत मानसिकता ही प्रमुख रहती है। गीतावली के सर्वप्रथम पद में भक्त कवि तुलसीदास ने मानसिक हर्ष का वर्णन किया है न कि उत्पन्न होने की घटना का वर्णन करने मे—

आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई।
रूप-सील-गुन-धाम राम नृप-भवन प्रगट भये आई॥
× × × ×
सुनि दसरथ सुत जनम लिये सब गुरुजन विप्र बोलाई।
वेद विहित करि क्रिया परम सुचि उर न समाई[26]

रामजन्म मे उत्पन्न समाज पर हुई विविध प्रतिक्रियाओं का वर्णन ही मुख्यत गीतिपद में हुआ है। सम्पूर्ण पद मे भक्त कवि तुलसी की व्यक्तिगत प्रसन्नता की स्पष्ट छाप दिखाई पड रही हैं।

स्वानुभूति निरूपक गीति-काव्य मे कवि किसी भी अनुभूति को "स्व" अर्थात अपनी कहकर चित्रित करता है और अन्तर्वृ त्ति निरूपक काव्य मे भी कवि किसी भी अनुभूति को अपनी कहकर यद्यपि चित्रित नही करता है तथापि वह अपनी कहने मे संकोच का अनुभव भी नही करता। परन्तु उसके मानसिक उद्रेक का कारण पदार्थ अर्थात वस्तु और आत्मनिष्ठ अर्थात भाव दोनो है। ऐसी परिस्थिति में सफल गीति-काव्य में वस्तु और भाव, वाह्यार्थ निरूपक काव्य और स्वानुभूति निरूपक काव्य का भेद समाप्त हो जाता है। वस्तुत सफल गीतिकार वह है जो अनुभूति के गहनतम क्षणो को सर्जन की प्रक्रिया में, वस्तु और भाव का एकात्म स्थापित करके रूप दे देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कला न तो वस्तुगत ही होती और न आत्मगत ही, वरन दोनो के सम्यक सन्तुलन में ही कला की पूर्ण एवं सफल परिणति मानी जाती है। कला का जन्म तब होता है जब भावना अथवा विचार मे तीव्र संवेदन शक्ति ही कलाकार की अन्त चेतना इतनी जागरूक हो कि वह उस संवेदना को आत्मसात करके उसकी सम्यक अभिव्यक्ति कर सके।

गीति-काव्यात्मक वृत्ति पर विचार करते हुये इच्छा शक्ति की ओर भी दृष्टि डालना आवश्यक है गीति-काव्य के विषय में कहा जा चुका है कि वह क्षणिक आवेश और अनुभूतिमय वाणी है। प्राकृतिक विवेक कही अधिक काव्यात्मक होता है। कृत्रिम विवेक अथवा इच्छा शक्ति अधिक काव्यात्मक नही होती। कोई भी परिस्थिति चाहे यह सामान्य हो या विशेष, गीतिकाव्य के लिये वही तक उपयोगी है, जहाँ तक वह वस्तु विशेष विशिष्ट अनुभूति उत्पन्न कर सकने मे समर्थ है। कवि तीव्र संवेदन के क्षणो मे उस वस्तु को भूल जाता है जिससे संवेदनशीलता उत्पन्न हुई है। वह उसी अनुभूतिजन्य सत्यता में खोया रहता है। जब उसका आवेग क्षीण अर्थात् कम होता है तो विषय अथवा वस्तु का क्षीण प्रकाश उसके रागात्मक आवेग के बिम्बो के साथ उभरता है। परन्तु यदि अत्यन्त क्षीण रागात्मक आवेग के क्षणो मे काव्य का सृजन होता है तो ऐसे गीतो मे यद्यपि कवि के अन्तर्वृ त्ति के दर्शन होते है तथापि विषय का स्पष्ट रूप प्रत्यक्ष लक्षित होने लगता है। अत क्षोभ की या रागात्मक आवेग की क्षीणावस्था मे मनोविकार पूर्णरूपेण जागृत नहीं होते और ऐसे समय जिस काव्य का सृजन होता है उसमें विषय की प्रधानता अवश्य रहती है जैसा कि भक्तिकालीन कवियो के वर्णनात्मक एवं कथात्मक गीतो मे यह तथ्य देखा गया। किन्तु गीतिकाव्य पर विचार करते समय कवि की रागात्मिका वृत्ति की जागृति की अवस्था देखना होता है। विषय की आवश्यकता या अपेक्षा यही तक मानी जाती है जहा तक वह अन्त क्षोभ अथवा रागात्मक वृत्ति को जागृत कर सके। एक ही विषय

अनेक व्यक्तियो मे अथवा एक ही विषय किसी एक ही व्यक्ति के हृदय मे विभिन्न परिस्थितियो में विभिन्न मात्रा मे अर्थात कम या अधिक रागात्मकता उत्पन्न कर सकता है । इसी को हम यो भी कह सकते है कि अनेक परिस्थितियों में अन्त क्षोभ को क्षुब्ध करने की मात्रा, व्यक्तियो में अथवा एक ही व्यक्ति मे, अलग-अलग होती है। अत: गीति-रचनाकारो के लिये विषय महत्वपूर्ण नही होता । प्रेमी के लिये प्रेमिका अथवा प्रियतम का व्यक्तित्व ही सर्वप्रमुख होता है । किसी से प्रेम आदेश देकर, इच्छाशक्ति के द्वारा, नही कराया जा सकता । प्रेमी अथवा प्रेमिका को देखकर नायक अथवा नायिका के हृदय मे विभिन्न समयो मे विभिन्न मात्रा मे रागात्मक आवेग उत्पन्न होता है । लगभग यही दशा गीति-काव्य की भी होती है । गीतिकार मे वस्तु के प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त रागात्मक तत्व उद्वेलित होता है । सारांशत यह सत्य है कि एक ही विषय या वस्तु समान रूप से सभी परिस्थितियो मे प्रभावित नही कर पाती है परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि गीति-काव्यात्मक वृत्ति के लिए मानसिक क्षोभ की चंचलता अपेक्षित है । इसीलिये गीतिगत तीव्रता और सकुलता बदलती रहती है । इसी तथ्य को हम कबीर और सूर की गीति-रचना मे देख चुके हैं ।

अनुभूति के विषय में एक तथ्य और विचारणीय है । अनुभूति की तीव्रता सम्बन्धों की घनिष्ठता पर भी निर्भर है । मानव के मन को जो कुछ भी प्रतीत होता है, वही अनुभूति है । अनुभूति का सम्बन्ध भावात्मकता से है । एक विशेष अवस्था मे अनुभूति रागात्मकता से युक्त होती है । मानव समाज में रहने के कारण नित्य-प्रति सहस्र वस्तुओ का साक्षात करता है । यहाँ तक कि एक प्रकार के दृश्यों को कई बार साक्षात करता है परन्तु उसका मानस यदा-कदा ही उद्वेलित होता है । कारण यह कि कलाकार या कवि का सम्बन्ध विषय-वस्तु से जब जुडता है तो रागात्मक उद्वेलन उसके मानस में प्रारम्भ हो जाता है । यह रागात्मक उद्वेलन वस्तु से प्रगाढ सम्बन्धो के होने पर तीव्र होता है । कवि का सम्बन्ध जितना ही वस्तु से कम रहता है उतना कम मानसिक क्षुब्धता या मानसिक उद्वेलन उत्पन्न होगा । सासारिकता मे हम अनेक कारुणिक दृश्यो को देखते है परन्तु प्रभाव उस दृश्य का अधिक पड़ता है जिससे हमारा कोई घनिष्ठ मित्र या सम्बन्धी सम्बन्धित रहता है । उस विशेष दृश्य से उत्पन्न अनुभूति की गहनता तथा अन्य सामान्य विषयवस्तु से उद्वेलित हृदय की अनुभूति जन्य गहनता मे अन्तर स्वाभाविक है । यह तथ्य कृष्ण-भक्त सूरदास द्वारा वर्णित राम-चरित के गीति पदो मे स्पष्ट देखा जा सकता है ।

स्वानुभूति, अनुभूति अथवा सहजानुभूति की दृष्टि से यदि भक्तिकालीन गीति साहित्य का अवलोकन करें तो कुछ भी इतर कहना व्यर्थ होगा । यह तो उसी प्रकार सर्वसिद्ध सत्य है जैसे सूर्य पूर्व की ओर से उगता है और पृथ्वी अपने ही केन्द्र पर घूमती है । सूर्य का उगना तो सभी देखते है उसकी प्रत्यक्षानुभूति करते है किन्तु पृथ्वी का अपने ही केन्द्र मे घूमने की अनुभूति किसे होती है ? अर्थात् नहीं होती है ।

किन्तु जिन्होंने विज्ञान की कसौटी पर परखा है उन्हें निश्चयपूर्वक ज्ञात है कि पृथ्वी घूम रही है। उसी प्रकार भक्तिकाल के भक्तो ने इन लौकिक वैज्ञानिक सत्यो से भी कही आगे भगवत सत्ता को देखा, परखा एव उसे जीव के मोक्ष की कसौटी पर कस कर ही उसमे पूर्ण आत्म विश्वास किया। यही कारण है कि जो कुछ भी उसने वर्णन किया अथवा जो कुछ भी उसने अपनी सहज वाणी में अभिव्यक्त किया वह छिछला नही वरन हृदय की गहराई से नि सृत सत्यानुभूति की अद्वितीय अभिव्यक्ति रही। स्वानुभूति के कारण ही ''मसि कागद', न छूने वाले कबीर ज्ञान के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की घोषणा करते है और ''सूर'' जैसा सूर तो विश्व साहित्य में एक भी अन्य नही प्राप्त होता जिसने अपनी बन्द आँखो से ही भगवत लीलाओ के साथ खेल खेला तथा सूरसागर जैसे वृहद गीति-प्रबन्ध की रचना की। वर्गीकरण के आधार पर गीतिपदो का विवेचन करते समय इस तथ्य पर विशेष प्रकाश डाला गया है अत अनावश्यक विस्तार व्यर्थ समझकर यह कहना पर्याप्त होगा कि सम्पूर्ण भक्तिकालीन गीतिकाव्य स्वानुभूति निरूपक काव्य है। बिना किसी अनुभूति के उस निर्गुणातीत अथवा सगुणातीत ब्रह्म का उल्लेख सहज भाव से नहीं किया जा सकता। उससे घनिष्ठ जान-पहचान करके ही भक्तो ने अपनी-अपनी अनुभूति का वर्णन गीति पदो मे किया है। गीति पदो के विषय-वैविध्य का कारण भी यही रहा है। जिस भक्त ने उसे जैसा देखा वैसा ही वर्णन किया है। इस स्वानुभूति के महत्वपूर्ण तथ्य की सहजाभिव्यक्ति के कारण ही बेजोड़ एवं उत्कृष्ट गीति-पदो की रचना भक्तिकाल मे हुई है साथ ही जिस समय भगवत अनुभूति जैसी रही, वैसे ही गीति-पदो का निर्माण हुआ है। कही केवल वर्णन प्रधान गीति-काव्यो का निर्माण हुआ और कही अनुभूति-गुजार-युक्त गीति-पदो का।

मानव-मन मे मनोविकार प्रसुप्तावस्था में सदैव रहते है। परिस्थिति विशेष मे मानव इनकी अनुभूति करता है। अनुभूति की सामान्यतया तीन अवस्थाये या स्थितियाँ होती हैं। अनुभूति अपनी प्रथमावस्था मे विषयवस्तु से अथवा परिस्थिति-विशेष से सहज स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करती है। शृंगार, करुण अथवा वीर आदि मनोविकार हृदय मे स्थित रहते है। परन्तु ये तभी जाग्रत होते है जब उसी अनुकूल परिस्थिति, वातावरण या वस्तु के साक्षात्कार होता है। इस प्रकार जब तक यथार्थ, सत्य या वस्तु से प्रथम सयोग न होगा, तब तक तदनुरूप भाव या मनोविकार जागृत नही होगे। उससे साक्षात्कार होते ही मानसिक क्रियाये स्वयमेव होने लगती है अर्थात अनुभूति की गुजार प्रारम्भ हो जाती है।

द्वितीयावस्था मे अनुभूति अपने प्रकट होने के लक्षण स्पष्ट करती है अर्थात इस अवस्था मे कवि या कलाकार के मनोविकार स्पष्ट परिलक्षित होने लगते हैं। इसके उपरान्त का समय अभिव्यक्ति का होता है। कलाकार अनुभूतिग्रस्त होकर व्याकुल होता है यह व्याकुलता अथवा क्षोभ अभिव्यक्त होना चाहती है

अपनी तृतीयावस्था मे अनुभूति विचार से सामंजस्य स्थापित करके शब्द-चित्र के माध्यम से धीरे-धीरे अवतरित होती है। इस प्रकार अनुभूति मे विचार अर्थात बुद्धि का समन्वय इस अवस्था में होता है। विचार समन्वित होकर अनुभूति अभिव्यक्त होती है। यह अनुभूति और विचार अथवा बुद्धि से समन्वित अभिव्यक्ति सामाजिक अथवा पाठक या श्रोता से सहजानुभूति स्थापित करती है।

इस प्रकार रागात्मिका वृत्ति द्वारा वस्तु की प्रकृति की सूचना नही मिलती वरन हमारे क्षुब्ध, अनुभूतिग्रस्त, मानसिक प्रक्रिया की प्रकृति की सूचना देती है। रागात्मिकता वृत्ति नियन्त्रण एवं आत्मबोध का मार्ग खोलती है। स्वानुभूति की अवस्थाओ एवं अलग-अलग स्थितियों के कारण ही गीति-काव्य की अनेक अनुभूतिपरक कोटियाँ होती है तथा गीति-काव्य के प्रभाव मे अन्तर आता है। भक्तिकालीन गीति-पदों की अनुभूति और विचारात्मकता का कारण यही है। भक्तिकालीन जनता धार्मिक समस्याओ और सामाजिक विषमताओ से अत्यन्त दु खी थी। अत. भक्तों ने अपने आसपास के पीड़ित जनमानस को निजी पीडा का रूप देकर भगवत भक्ति की आकाक्षा की। कही मन को सम्वोधित किया तो कही जीव को सम्वोधित किया। सामाजिक पीडा की अनुभूति अर्थात सहजानुभूति ने गीति-पदों के निर्माण मे प्रथम चरण का कार्य किया है। समाज-सुधारक भक्त या समन्वय-दृष्टि रखने वाले भक्तो के गीति-पदो की अनुभूति का मुख्य कारण यह रहा है। अनेक कृष्णभक्त कृष्ण-लीला की अनुभूति करते है। इसी प्रकार रामभक्त रामलीला की अनुभूति करते हैं। न तो सन्त भक्त भगवान से जिस प्रकार का सम्बन्ध रखकर अपने मानस को तृप्त करते है वैसे ही सम्बन्धो की अनुभूति प्रथमतः वे करते है। कवि के मानस में उठी हुई भावधारा की ओर तीव्रता से अनुभूति प्रवाहित होती है। उससे अनुभूति को प्रसार मिलता है उसमे तीव्रता आती है वह अपने गाम्भीर्य को उपस्थित कर चित्र स्पष्ट कर देती है यह अनुभूति की द्वितीयावस्था होती है। अन्तिम अवस्था मे विचार का आश्रय लेती हुई प्रकट हो जाती है। सन्तों के गीति-पदों में जहाँ ज्ञान कथन का आधिक्य है वहाँ विचारात्मकता अधिक लक्षित की जा सकती है किन्तु अनेक स्थलो पर विचार शून्य रहता है केवलभगवत अनुभूति प्रेममय पद-रचना मे सहायक होती है।

अपने इष्ट देव के रूप-सौन्दर्य मे भक्तों का मन खूब रमा है। गीतावली में मुनि विश्वामित्र के साथ बन की ओर जाते हुये दोनो राजकुमार कितने सौन्दर्यमण्डित प्रतीत हो रहे है—

दोउ राजसुवन राजत मुनि के संग।
नखसिख लोने, लोने वदन, लोने लोचन दामिनि-बारिद-बरबरन अंग॥

× × ×
× × ...

करत छाँह घन बरवैं सुमन सूर छवि बरनत अतुलित अनंग।
तुलसी प्रभु विलोकि मग-लोग खग-मृग प्रेम मगन रंगे रूपरंग[27]

इस पद में कवि अपने इष्ट के सौन्दर्य को निहार भाव विह्वल हो जाता है। इष्ट का सौन्दर्य सर्वोपरि है, वह अप्रतिम सौन्दर्ययुक्त है। यह भावानुभूति उसके मानस को उद्वेलित करने में पर्याप्त है।

सौन्दर्यानुभूति धीरे-धीरे भक्त कवि के मानस मे अनेक रूपों में अभिव्यंजित होता हुआ विस्तार पाता है। जिसे कवि व्यक्त करते समय विचार द्वारा सजोकर कभी उपमा और कभी उत्प्रेक्षा के माध्यम से प्रकट करता है। इस प्रकार दूसरी भाव-विस्तार की और तीसरी भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया हो जाती है। प्रथम पंक्ति के उपरान्त कवि इष्ट के सौन्दर्य का वर्णन करते हुये अपनी सौन्दर्यानुभूति को विस्तार देते हुये कहता है कि वे नख से सिख तक सुन्दर है, उनके मुख और नयन अत्यन्त मनोहर है तथा शरीर बिजली और मेघ के समान अति सुन्दर गौर एवं श्यामवर्ण है। इसके उपरान्त वह रूप विस्तार करता है। भगवान के रूप सौन्दर्य को सत्र के बाद एक एकत्र करता हुआ वर्णन करता हैं। यह हम भाव के साथ-साथ विचार का सामजस्य करना, स्पष्ट देख सकते है। अन्त मे वह कहता है देवता फूल बरसाते हैं तथा उनकी छवि कामदेव से भी अतुलित बतलाते हैं, तुलसीदास के प्रभु को देखकर मार्ग के मनुष्य, पक्षी और मृग भगवान के रूप रग मे रगकर प्रेम मग्न हो जाते हे।

गीति रचना की प्रक्रिया चाहे जिस रूप मे हो परन्तु मेरा प्रतिवेदन है कि ये सभी प्रक्रियाये अर्थात् अनुभूति गुजार-विस्तार-अभिव्यक्ति, इतनी तीव्रता के साथ एक दूसरे के साथ सामजस्य स्थापित कर अभिव्यक्त हो जाती है कि वे एक दूसरे से घुलमिल जाती है। अत. भक्तिकालीन गीतो मे इनका पृथक-पृथक अस्तित्व मान-कर गीति-पदो की व्याख्या-आलोचना नही करनी चाहिये।

इस प्रकार अनुभूति की तृतीयावस्था से ही 'अनुभूति और वैचारिकता' के सम्बन्ध मे विचारणीय तथ्य प्राप्त होता है। बुद्धि तो वैचारिक जाल है जो तार्किकता का आधार लेकर चलती है। मनोवैज्ञानिको के अनुसार मानसिक विविधताये मन की अलग-अलग धाराये है। बुद्धि इच्छा और अनुभूति भी एक मन की तीन धाराये हैं। एक ही मन परिस्थितियों के अनुकूल विचार-विवेकयुक्त होता है और कभी वही अपनी धुन मे मदमस्त हो जाता है। इस प्रकार वैचारिकता तथा मादकता एक ही मन की दो अवस्थाये है। वस्तुत गीतिकाव्य मे इस बुद्धि या बोध वृत्ति, इच्छा और अनुभूति का अत्यधिक सम्बन्ध है। अन्तर्वृत्ति का प्रस्फुटन जब इनके समन्वय से होता है तभी श्रेष्ठ गीतिकाव्य की रचना होती है। यह अन्तर्वृत्ति ही गीतिकाव्य का प्राण है। इसके समक्ष इच्छा और बुद्धि अन्तर्वृत्ति अर्थात् अनुभूति की सहायिका बनकर उसे तुष्ट करती है तथा उसकी महत्ता प्रदान करती है। बुद्धि द्वारा हम सोच समझकर अनुभूति जाग्रत नही कर सकते। इसी प्रकार इच्छा शक्ति के द्वारा रागात्मक किया अनुभूति को जाग्रत नही किया जा सकता। इच्छा और बुद्धि द्वारा लाभ-हानि या अपने आनन्द या सुख का तथ्य जान, समझ और सोच सकते है किन्तु रागात्मक अनु-भूति जाग्रत नही कर सकते। वह तो स्वयमेव जाग्रत होती है यह तथ्य उसी प्रकार

है जैसे किसी से सोच-विचार कर प्रेम नही किया जा सकता। प्रेम तो वह रागात्मक अनुभूति है जो हृदय को अनायास ही क्षुब्ध करती है। विचार द्वारा तो प्रियतम की मंगल कामना या अपने प्रेम की परितुष्टि के लिये अनेक कार्य हो सकते है। इस प्रकार आधार तथा नीति-शास्त्र मे तथा रागात्मिका-वृत्ति मे प्रकृति रूप में या स्वभावत. विरोध हो उठता है। रागात्मिका-वृत्ति चूँकि आचार या नीति के द्वारा उत्पन्न नही होती अत इनके सहयोग से यह मृत हो जाती है। नैतिकता सहजानुभूति का न तो रूप ग्रहण कर सकती है और न वह उसे उत्पन्न कर सकती है। अत नैतिकता गीति-काव्य की स्वाभाविक सीमा के अन्तर्गत नही आ सकती है। इस प्रकार अनुभूति भावना का रूप ग्रहण करके गीति-काव्य मे आती है। मानव शरीर से हृदय और मस्तिष्क सम्पृक्त है। दोनो को अलग-अलग नही किया जा सकता। गीतिकाव्य भावात्मक होता है। भाव का हृदय से सम्बन्ध है मस्तिष्क से नही। किन्तु कविता मे केवल भाव ही होता है बुद्धि शून्य यह कथन अनुपयुक्त एवं अतार्किक है। वस्तुत काव्य का बुद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नही है कि काव्य बौद्धिक बोझ से आक्रान्त रहता है वरन् भाव बुद्धि का आश्रय लेकर धीरे-धीरे प्रकट होता है। कवि का मानस क्षुब्ध होकर धीरे-धीरे अनुभूतियुक्त होता है। यह अनुभूति अत्यन्त तीव्र होती है। परन्तु यह तीव्रता का आवेश अधिक समय तक नही रहता है। प्रभाव जैसे ही कम होना चाहता है विचार तत्व उत्पन्न हो जाता है और अनुभूति से मिलकर अनुभूतिक भावना का रूप ग्रहणकर अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार गीतिकाव्य में बौद्धिकता स्थान पाती है। बौद्धिकता का कार्य केवल अनुभूति को लयात्मक वाणी मे प्रत्यक्ष करना है और यह अचेतन मानसिक प्रक्रिया है। अतः गीतिकाव्य का प्रतिफलन बौद्धिक चेतना है। दूसरे शब्दो में हम कह सकते है कि ज्ञान के द्वारा भावो का संचरण होता है तथा ज्ञान ही भावाभिव्यक्ति का माध्यम है। इसी से प० रामचन्द्र शुक्ल 'कविता क्या है?' निबन्ध मे लिखते है—"जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे भाव का आलम्बन कहना चाहिये। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ मे ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती है। फिर ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त सामग्री मे भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अत यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावो के संचार के लिये मार्ग खोलता है ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।"[28] कवि जहाँ चुन-चुन कर ज्ञान की बातो का उल्लेख करता है वहाँ उसकी कविता की सवेदन शक्ति क्षीण होती है और वह उपदेशक बन जाता है। कवि सत्य उद्घाटित करने के लिये घटनाओ की सत्यता पर बल न देकर अनुभूति की सत्यता को प्रकट करता है। यही कारण है कि सूर की गोपियाँ भ्रमरगीत प्रसंग मे उद्धव के ज्ञानात्मक योग का सहज, स्वाभाविक एव अनुभूतिजन्य उत्तर देती है जो हृदय को संवेदित किये बिना नही रहता। सूर की गोपियो मे जो स्वाभाविकता उपलब्ध होती है वह नन्द दास के पाण्डित्य प्रदर्शन करने वाली तथा तर्कपूर्ण उत्तर देने वाली गोपियो में नहीं है वे सहज एव

रूप मे अपनी मनोदशा का वर्णन करती है। परन्तु ऐसा नहीं है कि वे तर्क से अपरिचित है तथा अज्ञानी एवं मात्र गाँव की छोहरियाँ है। वस्तुत. गोपियाँ बुद्धिवादिता का त्याग कर अपनी एकान्तिकता की अभिव्यक्ति करती है।

कबीर के गीतो मे बुद्धि के साथ-साथ अनुभूति चलती है। दोनों के एक साथ समान स्तर पर चलने के कारण रागात्मकता का क्षीण प्रकाश लक्षित होता है। जहाँ कबीर विचार व्यक्त करते है वहाँ बुद्धि प्रबल है अर्थात् विचारक के रूप मे अपनी भावनाओ की अभिव्यक्ति करते है वहाँ बुद्धि प्रबल है और भाव गौण अर्थात् बौद्धिकता अपने प्रखर रूप में प्रकट हुई है। इसी प्रकार तुलसी के गीतो मे सूर की अपेक्षा अधिक बौद्धिकता का आग्रह दृष्टिगत होता है। तुलसी के विनय के पदो मे बौद्धिकता का आवेश कम है किन्तु गीतावली और कृष्ण गीतावली में बौद्धिकता का आग्रह स्पष्ट लक्षित होता है। किन्तु सूरदास के चरित सम्बन्धी पदो मे उनके हृदय की पीडा भरी हुई है। यह पीडा गीतो की सृष्टि के समय भी उनके हृदय मे विद्यमान अवश्य थी। ऐसे गीति-पदो मे वैचारिकता अत्यन्त सूक्ष्म और भावप्रवाह अत्यन्त तीव्र है। अर्थात् सूर ने अपने हृदय के क्षोभ को किसी ब्याज से अथवा सीधे-सीधे गीतो मे उडेल दिया है किन्तु तुलसीदास अपने हृदय की व्यथा को अपने गीतो मे उतनी सक्षमता से नही उतार सके है। यही कारण है सूर के गीतो की (सवेदन शीलता) संवेद्य शक्ति तुलसी की अपेक्षा अधिक है। दूसरी ओर जहाँ इन भक्तो ने किसी ब्याज से अभिव्यक्त किया है वहाँ मीरा ने समाज के सभी बन्धनो को तोडकर अपनी सामाजिक परिस्थितियो से विद्रोह करके अपनी हार्दिक वृत्ति का बिना किसी माध्यम के चित्रण किया। यही कारण है कि मीरा के गीतो मे सरलता, स्वाभाविकता, सहजता एवं हृदय की स्पष्ट तथा निडर व्यजना है वही दूसरी ओर आवेश, उत्तेजना, तीव्रता, प्रखरता एवं संवेदनशीलता अत्यधिक है। मीरा की इस कविता—

दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नही कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब वेद सँवरिया होय॥

मे बौद्धिकता का सूक्ष्म तन्तु है। वस्तुत. कवि के काव्य का परिवेश अर्थात् उसकी परिस्थितियो को देखना आवश्यक होता है। क्योकि कवि उसी वातावरण मे पग कर कविता का सृजन करता है। इस प्रकार की कबीर की पक्ति—

"कहै कबीर दाग कब छुटि है, जब साहब अपनाय लिये"

मे रागात्मकता का स्पष्ट संकेत है किन्तु इस रागात्मकता की अनुभूति को प्राप्त करने के लिये उनकी विचार परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। भक्तिकालीन गीतिकाव्य का उच्छलतम और सघनतम विकास स्वच्छंद प्रेम प्रकरणो मे मिलते है। रामकाव्य मे मर्यादा के बन्धन मे गीति दब गया है, कृष्णकाव्य में लीला वैचित्र्य मे मुखर हो उठा है।

८ पर विचार करते हुये यह कहा जा चुका है कि प्रगीत का जन्म अनुभूति की ८ अवस्था से होता है अनुभूति जितनी ही तीव्र होगी अभि

व्यक्ति उतनी ही संक्षिप्त होगी। रागात्मक अनुभूति के तीव्रतम प्रभाव के लिए गीति-काव्य का आकार संक्षिप्त होना चाहिये। प्रभाव की एक अन्विति के लिये यह आवश्यक है। संक्षिप्त गीति-काव्य में एक ही समाहित भावना के कारण एक ओर जहाँ पाठक अनुभूतिमय होता है वहीं कविता की संवेदनशीलता से वह प्रभावित होता है और कविता का चित्र भी स्पष्ट होता है। जितने समय तक यह अनुभूति का प्रभाव कवि के मस्तिष्क पर गुंजरित होता रहता है कविता स्फुरित होती है परन्तु ऐसे समय मे भी कवि की दृष्टि विषय के प्रति सचेष्ट रहती है और वह अपनी कविता को अधिक से अधिक संवेदनशील बनाना चाहता है। यह संवेदनशीलता दूसरे को भी प्रभावित एवं संवेदित कर सके, इसके लिये वह अपने चित्र को यथासम्भव स्पष्ट करता है तथा आद्योपान्त प्रभाव को बनाये रखने के लिये कृति की संक्षिप्तता पर भी दृष्टि रखता है।

कवि की अनुभूति की तीन अवस्थाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है। गीति के विकासक्रम मे प्रेरणा, अनुभूति और भावात्मक वैचारिकता आते है। ये सभी मन की सूक्ष्म क्रियायें होती है। इन तीनो के समुचित समन्वय से स्फुरित कविता अत्यन्त संवेदशील होती है। वस्तुत भाव-प्रवाह एवं प्रभाव की अन्विति, संक्षिप्त गीति-कविता में पर्याप्त मात्रा में रहती है।

तीव्र संवेदनशीलता हेतु गीति को संक्षिप्त होना चाहिये। सोद्देश्य रचित काव्यो में कवि अपने उद्देश्य के स्पष्टीकरण मे अत्यधिक व्यस्त रहता है। उसके लिये संवेदनशीलता या भावना आदि का उतना मूल्य नहीं है जितना कि विषय स्पष्टीकरण का। इसी प्रकार काव्य की अन्य विधाओ मे यथा महाकाव्य, खण्डकाव्य या मुक्तककाव्य मे कवि अपनी रुचि के अनुसार जीवन के विस्तृत क्षेत्र से विषय का चुनाव कर सकता है उसके लिये वर्ण्य-वस्तु विशेष से अनुभूतिग्रस्त होना आवश्यक नहीं है, वह अपने शब्दज्ञान से ही रचना प्रक्रिया मे लिप्त होता है। किन्तु गीतिकाव्य में कवि वर्ण्य विषय का चुनाव करके सृजनक्रिया में अनुरक्त नहीं होता। कवि की विचार-धारा, उसकी मानसिकता या उसकी प्रवृत्ति यद्यपि अनेक अंशो मे विषय निर्धारित कर देती है किन्तु जब वह किसी वस्तु-विशेष से प्रेरित होकर अनुभूतिग्रस्त होता है, उसी समय कविता का भावमय स्फुरण होता है। न तो कवि की विषयवस्तु विस्तृत होती है और न वह वर्णन-विस्तार को महत्व देता है। अनुभूतिमयता के क्षण सीमित होते हैं, यही कारण है कि कवि की कविता का रूप भी सीमित होता है। संसार मे अनेक वस्तुओं से प्रत्यक्ष हुआ करता है परन्तु किसी विशेष क्षण मे अथवा किसी विशेष वस्तु के द्वारा अनुभूति प्रेरित होती है। उन विशेष क्षणो की अथवा विशेष वस्तु का भावात्मक रूप गीति-काव्य में प्रकट होता है और वह गीति-काव्य रूप की दृष्टि से संक्षिप्त होता है।

गीति कविता मे भावना, विचार और कल्पना का समन्वित प्रभाव प्राण सचार करता है तथा लघुत्व प्रभाव की एकान्तता का वर्धन करता है। गीति-काव्य का अनावश्यक विस्तार जहाँ उसकी लयात्मकता को क्षति पहुँचाता है वही पाठक अथवा श्रोता पर न तो समाहित प्रभाव पड़ता है और न वह कवि की अनुभूति से आद्योपान्त आन्दोलित ही होता है। कवि का काव्य-विस्तार कविता की सरसता मे बाधक होता है। इस प्रकार सफल गीति-काव्य को संक्षिप्त होना चाहिये।

कबीर, सूर, तुलसी या भक्तिकाल के किसी भी सन्त, भक्त के सम्पूर्ण पद साहित्य पर एक आलोच्य दृष्टि डाले तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि भाव की अन्विति हेतु तथा रागात्मक अनुभूति के एकत्व हेतु सक्षिप्तता एक विशेष गुण है। कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि सन्तो के सिद्धान्त कथन के पद अथवा उपदेशात्मक पद कही अत्यन्त लम्बे-लम्बे रचे गये हैं तो कही भाव-प्रवाह मे कुछ दूर ही लाकर समाप्त हो जाते है। जहाँ लम्बे-लम्बे कथ्य हैं वहाँ भाव गौण है, वर्णन मुख्य है। भक्त की अनुभूति भले ही हो किन्तु वह बिखरी हुई है। परन्तु जहाँ पद संक्षिप्त हैं वहाँ भाव-प्रवाह मे चाहे कवि ने सिद्धान्त, उपदेश या व्यंग्य किसी की बात कही हो, अनुभूति का समत्व प्राप्त होता है। गीति पदो की संप्रेषणीयता में भी अन्तर आ जाता है। सूरदास के सूरसागर के लम्बे कथाप्रधान गीतो का उतना प्रभाव पाठक अथवा श्रोता पर नही पड़ता जितना छोटे-छोटे भाव एवं अनुभूति प्रधान गीति-पदो का। यही बात गोस्वामी तुलसीदास के गीति-पदो मे दृष्टिगत होती है। कृष्णभक्त स्वामी हरिदास जी के पद अत्यन्त सक्षिप्त है। इसका कारण यही है कि भक्त कवि ने भाव एवं अनुभूति को अत्यधिक महत्व दिया है साथ ही उच्च कोटि के सगीतज्ञ होने के कारण भाव अन्विति बनाये रखने के लिये एक पद मे अत्यन्त सक्षिप्त भावोन्मेष किया है और उसी अनुरूप पदो की रचना की है।

अस्तु भक्तिकालीन गीति उद्गीत आत्मन्-अनुभव का एक क्षण है, कही-कही वायवीय प्रहर्ष के हल्केपन मे वेदना के, हर्ष के या मिले-जुले भाव के मार्मिक आनन्द में अथवा क्षिप्र गम्भीरतम उत्कर्ष मे सक्षिप्त है, कही लम्बी और उसी स्वर को दुहराती हुई, किसी केन्द्रीय प्रेरणा से व्यंजित हो अभिव्यक्त हुई है। भक्ति-गीति आत्मा के अन्दर से उमडती हुई सरल राग-रागिनियों के संगीत से युक्त है। इस काल की गीति-रचना की एक अन्यतम विशेषता यह भी है कि वह एक ओर जहाँ अपने अन्तर्गत सहज एवं स्वाभाविक भाव-प्रवाह का भार वहन करती है वही दूसरी ओर विचार एवं मननशीलता के बोझ से बोझिल होकर अपने पैरों को भारी बनाकर धीरे-धीरे प्रवाहित होती हुई चलती है कभी किसी कर्म का क्रमिक क्षण गीतिमय हो उठा

है तो कभी हृदय की आत्मा अकुला कर, शान्त होकर या चित्कारकर गीति-पदो में अभिव्यक्त हुई है।

1—सूर की काव्य कला, पृ०-86.

2—तुलसी काव्य मीमांसा, पृ०-446.

3—गीति-काव्य, पृ०-36

4—भावी कविता, श्री अरविन्द, अनु० मीरा श्रीवास्तव, पृ०-271.

5—कबीर ग्रन्थावली, सभा पद-19.

6—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-24.

7—वाक्यं रसात्मकम् काव्य, साहित्य दर्पण।

8—कबीर ग्रन्थावली, पद संख्या-121, पृ०-126.

9—वही, पद संख्या-163, पृ०-146.

10—अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग-2, पृ०-62 से 65.

11—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-710.

12—वही, पद-728.

13—विनय पत्रिका, पद-11, 18, 26 आदि।

14—तुलसी का प्रगीत-काव्य, विनय कुमार, पृ०-56.

15—भक्तिकालीन काव्य मे राग और रस, दिनेश चन्द्र गुप्त, पृ०-7.

16—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, अध्याय 5, पृ०-258 से 262.

17—कबीर साहित्य की परख, पृ०-19.

18—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-3793.

19—गीतावली, 1-99

20—कबीर ग्रन्थावली, पद-307

21—मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पद-103

22—कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-261.

23—कबीर-संग्रह; हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पृष्ठ-14, पद-33

24—सूरसागर सभा, प्रथम स्कन्ध—129, 260, 261, 285, 289.
द्वितीय स्कन्ध—पहला पद,
तृतीय स्कन्ध—पहला पद 394

चतुर्थ स्कन्ध—1, 3, 5, 9, 12.

पंचम स्कन्ध—1, 3, 4.

षष्ठ स्कन्ध—1, 4, 5.

सप्तम स्कन्ध—1, 2, 7, 8.

अष्टम स्कन्ध—1

नवम स्कन्ध—2 5

दशम स्कन्ध—2, 4, 309.

एकादश स्कन्ध—3, 4.

द्वादश स्कन्ध—1, 2, 3, 4, 5 आदि सभी पद-'हरि हरि हरि सुमिरन करौ' के टेक पर रचे गये है।

25—*सूरसागर, ना० प्र० सभा, पद-633*

26—गीतावली, पद-1/1

27—वही, पद-53

28—चिन्तामणि भाग 1, रामचन्द्र शुक्ल, पृ-156.

वर्गीकरण
(क) आधार

चतुर्थ अध्याय

भक्तिकालीन गीति-काव्य के वर्गीकरण का आधार एवं वर्गीकरण

भक्तिकालीन गीति-काव्य का वर्गीकरण करने के पूर्व गीति की मन स्थिति को अवश्य समझ लेना चाहिये। कवि के विभिन्न मनोवेगो की सहजाभिव्यक्ति गीति-काव्य का प्रणयन करती है। गीति-कविता मे भाव मुख्य हैं, बुद्धि गौण है अर्थात् उसमे भाव प्रवणता अधिक होती है। बौद्धिकता अपेक्षाकृत न्यून रहती है। अत भावो की विविधता के फलस्वरूप गीति-काव्य के विविध वर्ग बनाये जा सकते है। कवि के मनोवेगो का अन्त नही अत. गीति के भेदोपभेदो का अत्यन्तिक वर्गीकरण नही किया जा सकता। यही कारण है कि हृदयस्थ कार्यव्यापारो ने एवं अभिव्यंजना की विभिन्नता ने पश्चिम और पूर्व दोनों ही आलोचको को विभाजन की कठिनाई का अनुभव कराया है।

अध्ययन की सुविधा हेतु भाषाओ के साहित्य का वर्गीकरण होता है अत भक्तिकालीन बृहत् गीति साहित्य के अध्ययन हेतु इसका भी वर्गीकरण आवश्यक सा है। हिन्दी साहित्य के आलोचको ने काल विभाजन एवं नामकरण मुख्यत प्रवृत्ति विशेष के आधार पर किया है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक वीर एवं शृंगार प्रधान साहित्य के उपरान्त ईश्वरोन्मुख सामाजिक परिष्कार एव मानव की रागात्मकता से युक्त भगवद्भक्ति सम्बन्धी अगाध साहित्य मिलता है। भक्ति के वृत्ति के आधार पर इस काल का नामकरण भक्ति-काल रखा गया है। भक्तिकाव्य से अभिहित किये जाने वाले सम्पूर्ण साहित्य को निर्गुण और सगुण, कहकर दो साफ वर्गो मे सुविधा-पूर्वक नही बाटा जा सकता। भक्ति की मनोवृत्ति प्रेममूलक होने पर भी कभी-कभी ज्ञान की कम अपेक्षा नही रखती। अत इस मनोवृत्ति एवं तज्जन्य साहित्य मे दोनो तत्वो का अनुपात मिलेगा। सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य, काव्यविधा के अनुसार मुख्यत दो रूपो मे अभिव्यक्त है—

(1) प्रबन्ध काव्य, और

(2) गीति-काव्य।

यद्यपि दोहो के रूप मे मुक्तकाव्य का भी एक रूप प्राप्त होता है। सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसीकृत "पद्मावत" तथा गोस्वामी तुलसीदासकृत "रामचरितमानस" प्रबन्ध काव्य की प्रतिनिधि रचना है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण राम-भक्ति-साहित्य, कृष्णभक्ति साहित्य एवं सन्तों का साहित्य गीतिमय पदो में रचा गया है। सगुणभक्ति में चरित या लीला के कारण इस काल के गीति-काव्य में कथा

की प्रधानता रही है। कृष्णचरित एक विराट स्तर पर सूरसागर में अभिव्यक्त हुआ है। सूरसागर को जो भक्तिकालीन गीतिकाव्य की एक प्रतिनिधि रचना है, न हम शुद्ध गीति कह सकते है और न शुद्ध प्रबन्ध। उसमें न तो आद्यन्त शुद्ध गीति का भावोच्छ्वास है न सुसम्बद्ध क्रमागत प्रबन्धात्मकता। कथा की अन्विति गीति मे भी है। यदि सम्पूर्ण कृति को कट्टरता से न देखा जाय तो सूरसागर को गीति-प्रबन्ध कहा जा सकता है। यह ऐसा प्रबन्ध महाकाव्य है जिसमें प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र है, किन्तु मुक्त नही, गीति की कही हलकी और कही सघन भावात्मकता से भरपूर। इस प्रकार इसको गीति महाकाव्य माना जा सकता है। कुछ-कुछ इसी शैली पर आगे चलकर जयशकर प्रसाद की कामायनी का प्रणयन हुआ है।

गीति के लिये भावोच्छ्वास या भावाकुलता का आग्रह अंग्रेजी के रोमाटिक कविता-काल की देन है। क्लासिकी साहित्य के ठडेपन या निष्प्राणता से उबरने के कारण इस प्रकार भाव की उच्छलता पर बल देना ऐतिहासिक कारणो से सम्भव भी था। आज हम गीति-काव्य के लक्षण वहीं मे आयातित करके उसे देशकाल निरपेक्ष मानक के रूप मे प्रस्तुत करने के आदी हो गये है। युग मानस का विश्लेषण किये बिना इस प्रकार के प्रतिमानो को सर्वकालिक या सार्वजनीन बना डालना अदूरदर्शिता तो होगी ही, भारतीय दृष्टिकोण एवं मानस् को परखने की सही दृष्टि भी नही बनेगी। कारण यह कि भारतीय मनस सदैव संश्लेषपरक और समन्वयवादी रहा है, प्रतिक्रियावादी नही। एकान्तिकता उसका आगन्तुक [स्वभाव है, प्राकृतिक नही। अत गीतिकाव्य मे भावाकुलता या भावतीव्रता पर नितात बल देने से मध्य-कालीन भारतीय मनस् का विश्लेषण अपूर्ण रह जायेगा। भावुकता का यह लक्षण अंग्रेजी के रोमाटिक काव्य ने बहुत अधिक उभारा था। मध्यकाल का भक्ति-साहित्य साधनात्मक भी है, केवल रोमाटिक नहीं। प्रेममूलक होने पर भी भक्तिसाधना का एक ही रूप रोमाटिक रहा—कृष्ण भक्ति का। उसके दूसरे रूप पर्याप्त गहन गम्भीर रहे है, जिनमें भावोच्छलन के पहले या साथ-साथ मनन किंवा मनीषा का भी हाथ रहा है। जिस तरह वैदिक कवि मनीषी हुआ करते थे, उसी तरह भक्त कवि साधक गीतिकार होता था, केवल पदकार या कीर्तनिया नही। इसलिये समूचे भक्ति-काव्य का वर्गीकरण मात्र भावुकता के आधार पर नही किया जा सकता। ऐसा करना उस पर पश्चिमी दृष्टि और मनस् का आरोपण होगा। एक ऐसी दृष्टि का अतिरंजित आरोप जो लौकिक गीतियों को परिभाषित और वर्गीकृत करती रही है। भक्ति भाव भी है और साधना भी। इसलिये भक्ति की सपूर्ण भाव-साधना की समग्रता को दृष्टि में रखकर वर्गीकरण का आधार खोजना ही तर्क संगत होगा। इसी तरह हम भक्तिकालीन गीतिकाव्य के साथ न्याय कर पायेगे, अन्यथा नही। अंग्रेजी आलोचको के वर्गीकरण को हिन्दी कविता के लिये अनुपयुक्त मानते हुये विद्वान आलोचक डा० राम खेलावन पाण्डेय कहते है -
'अंग्रेजी का पूरा विधान हिन्दी कविताओं में नही अत केवल अंग्रेजी के आधार पर उनका वर्गीकरण उपयुक्त नहीं हो सकता [1]

भक्ति का आधार भाव है, अतः भावात्मक अभिव्यक्ति तो उसका मुख्य रूप है ही किन्तु गौण रूप मे भाव के साथ-साथ अन्य साधनापरक तत्व भी मिश्रित होकर उपस्थित हुये है। ऐसी अभिव्यक्ति को भी गीति के अन्तर्गत लेना उचित होगा क्योंकि यह साधक कवि के गीति-पद है। यह बात और है कि रागात्मिक भक्ति अथवा प्रेममूलक साधना की प्रबलता के कारण भाव की तीव्रता अनिवार्य रूप से भक्तिकालीन गीतियो में पाई जाती है। यह भाव सघनता या तीव्रता गीति का आज सर्वस्वीकृत लक्षण है। उस पर से, भारतीय काव्य तो अनादिकाल मे संगीत के साथ एकमेक होकर अपने को प्रस्तुत करता रहा है। सामगान हो चाहे रासक सभी मे गेयता अनिवार्य रूप से उपस्थित है, और भाव का उद्रेक तो स्वयं स्वर-द्रवित होता है। इसलिये भक्तिकाल की गीतियाँ परम्परा और निजी प्रेरणा के कारण स्वयं संगीतमय है। साथ ही उसे कवि-प्रतिभा का इतना समृद्ध वैभव मिला है कि गीतियाँ शब्द-संगीत से भी समन्वित होती चली गयी। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य दोनो तरह का संगीत भक्तिकालीन गीतिकाव्य में आ गया।

यह स्पष्ट है कि गीति के ये दो अनिवार्य लक्षण—भावमयता और संगीत-मयता भक्तिकाल मे उपस्थित ही है। भाव की एकान्विति का निर्वाह चाहे न भी हुआ हो, किन्तु वह मूल मे या केन्द्र मे अवश्य रहा है। भाव की साधना ही भक्ति है। इसलिये भक्ति साधना का विश्लेपण आवश्यक हो जाता है, भक्ति के गीति की विशिष्ट रचना-प्रक्रिया को समझने के लिये।

भक्ति का लक्ष्य आनन्द की भुक्ति है—शान्त या मोक्ष नही। यह भक्ति सच्चिदानन्द की प्राप्ति पर ही सम्भव है। उसी के साथ रहने, उसका गुणगान करने, उसी मे संलग्न रहने और सासारिक द्वन्द्वो से सदा के लिए मुक्त होने से आनन्द प्राप्त होता है। शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का यह साधनापथ ही भक्ति मार्ग कहलाता है। ईश्वर के प्रति उस भक्त के मन मे अत्यधिक रति होती है। उस भावना से ही ओत-प्रोत होने पर अपने को भक्ति रस मे डूबा हुआ पाता है। इस प्रकार भक्ति प्रेमस्वरूपा एव अमृत स्वरूपा है। भक्ति निष्काम भावना से पूर्ण है आनन्दजन्य उन्मत्तता उसमें निहित है। आनन्द से पूरित अनन्य प्रेम सम्बन्ध भक्त और ईश्वर के पारस्परिक प्रेम मे पोपित है।

सच्चिदानन्द की प्राप्ति के मुख्य साधन मार्ग है—कर्म, ज्ञान और भक्ति। परमसत्ता से युक्त होने के साधन को योग की सज्ञा दी गई। इस प्रकार कर्म योग, ज्ञान योग एवं भक्ति योग साधन मार्ग के रूप मे प्रसिद्ध है। मध्यकाल मे कर्म और ज्ञान के ऊपर भक्ति की प्रतिष्ठा हुई। क्योंकि भक्तो ने रस या आनन्द के सधान मे अपने को निचोड़ कर समर्पित कर दिया। भक्ति का यह आनन्द अपनी एकाकी निविडता में सत्-स्वरूप और चित्स्वरूप ज्ञान के प्रति बेखबर होता रहा है। पर त्रिगुणात्मक प्रकृति की भाँति भी केवल नही सत और चित भी

है। भक्ति की सघन वृत्ति विशेष के कारण उसके आनन्द मे वे दोनों उसी प्रकार अन्तर्भुक्त हो जाते है जैसे सत्व मे रज और तम। कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तियोग के अंग मात्र बन गये। किन्तु सच्चिदानन्द का आनन्द सहज सुलभ नही होता इसलिये भक्ति के लिये जो साधना की जाती है उसमे ज्ञान का आश्रय भी आवश्यक हो जाता है। कर्म का आश्रय लेकर जिस सत् स्वरूप की प्रतिष्ठा भक्ति क्षेत्र मे होती है वह कार्य-व्यापार की जटिलता के कारण प्रबन्ध-काव्य मे अधिक मूर्त होता है। वहाँ अन्तर्यामी से अधिक प्रतिष्ठा बहिर्यामी की है। भक्ति योग मे ईश्वर को अन्तर्यामी परम सत्य मानकर उसी पर दत्तचित्त रहना सुलभ रहा है। वासनाओं का उपशमन, परिष्करण अथवा उदात्तीकरण किये बिना इष्ट का ध्यान असम्भव है। निष्काम भावना मे प्रेरित कर्मानुष्ठान ही वासनाओं को दबाकर ज्ञान का पोषण कर सकता है वस्तुत निष्काम कर्म ईश्वर विषयक ज्ञान की वृद्धि मे और वह-ज्ञान सच्ची भक्ति की प्राप्ति मे सहायक बन जाता है। ऐसा ज्ञान भक्ति साधना द्वारा आनन्द-धाम-भगवान से वरिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

भक्ति साधन और साध्य दोनो है। प्रभु की प्राप्ति मे भक्ति अंतिम सोपान है। ज्ञान, कर्म एवं योग आदि समस्त साधन भक्ति के पोषक मात्र है।[2] भक्ति फलस्वरूपा है।[3] भक्ति मार्ग ज्ञान-निरपेक्ष भी हो सकता है और ज्ञान-सापेक्ष भी। प्रेममूलक भक्ति से यदि ज्ञान उत्पन्न होता है तो वह लीला प्रवेश का साधक है। भक्ति के व्याख्याताओं और आचार्यो ने इस प्रेममूलक भक्ति के फल के रूप मे भक्ति को ही माना है।[4]

भागवत मे भक्ति के दो रूपो का उल्लेख है -सगुण रूप और निर्गुण रूप। भगवान के प्रति सगुण भक्तों की अनुरक्ति एक अनुपम आसक्ति है। मानव जाति मे सुलभ प्रेम-सम्बन्धो से तुलना करके इस अलौकिक आसक्ति को स्पष्ट करने के प्रयास हुये हैं। भगवान का भक्त अपने प्रभु की नित्य उपासना मे मग्न होकर रहना ही अपना लक्ष्य मानते हैं। भक्ति मे प्रविष्ट कर देने वाली भावनाओं को सत, रज और तम तीनो रूपों मे सगुण भक्तो ने स्वीकार किया है। इसलिये तामसी, राजसी एव सात्विक भक्तियाँ भी कही गई है। किन्तु भक्तिकाल निष्काम भक्ति का खोजी होने के कारण इन तीनो प्रकार से ऊपर है और इन तीनो से ऊपर उठने की सतत चेष्टा में उसने दैन्य से लेकर मर्यादाभंग तक को आनन्द साधना मे स्वीकार किया है।

निर्गुण भक्तो के भगवान उनके हृदय मे निवास करते है। आराध्य के गुणो का श्रवण होने पर वे निष्काम भाव मे और प्रेमपूर्वक उनपर लगे रहते हैं। निर्गुण भक्त अनन्य प्रेम के साथ ध्यान और सेवा करना ही चरम लक्ष्य मानते है।[5] भक्त भगवान की भक्ति के लिए मोक्ष का तिरस्कार करते है। भक्ति की साध्यावस्था यहाँ भी प्रकट होती है। साध्यरूपा भक्ति में आस्था रखने वाला सर्वश्रेष्ठ है क्योकि उसका तन, मन, धन सब कुछ परमात्मा का हो जाता है।[6] प्रभु के रूप मे वह परम प्रेम को ही प्राप्त करता है अपनी साधना की पा मे अर्थात भगवान

मे शुद्ध प्रेम रखने वाले, सच्चे भक्त सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म मे भेद की दृष्टि नही रखते। ब्रह्म की निर्गुणता आनन्द को गुणमय प्राकृतिक तत्व से ऊपर रखने मे समर्थ होती है। किन्तु फिर वही त्रिगुणातीत आनन्द जब त्रिगुणात्मिकता प्रकृति या सृष्टि मे अवतरित या प्रवाहित होती है तब वह मानुषी चरित्र या लीला का माध्यम लेकर (अथवा इनके बिना भी) सगुण भी बन जाता है। इस तरह निर्गुण और सगुण तत्व भक्ति की अखण्ड अनुभूति मे परस्पर ओतप्रोत है।

भक्ति भाव भगवत प्रेम से उत्पन्न होता है। प्रेम आनन्द की पुजीभूत किरण है। प्रत्येक व्यक्ति अखण्ड आनन्द की वाछा करता है। आनन्द की वाछा ईश्वर प्रेरित है। आचार्य बल्लभ के अनुसार प्रत्येक जीव मे, प्रत्येक सृष्टि-तत्व मे, आनन्दाश-प्रधान अन्तर्यामिनी अनुप्रविष्ट होकर उसका संचालन कर रहा है। आनन्द की यह पिपासा जीवमात्र में स्वभावत है क्योंकि अश मे अशी का गुण विद्यमान है। सम्पूर्ण सृष्टि व्यापक परमानन्द के आकर्षण मे बँधी है। ब्रह्म जो स्वयं पूर्ण-स्वतन्त्र एव मुक्त है, अपनी समस्त गतियो का स्वामी है, वह भी अपनी अखण्ड एकता नानारूपता को केवल आनन्द के लिये देता है। पूर्ण प्रकाम के आत्मरमण की प्रेरणा केवल आनन्द है। यही कारण है कि वेदान्तियों के सत की अनुभूति उपनिषदकारो ने निराकार सच्चिदानन्द के रूप में की है। सत का आनन्द आत्मस्थिति (self existe) एव वस्तु निरपेक्ष है। उसका आनन्द चित की निर्द्वन्द्व स्थिति मे निवास करता है। जब सत का आनन्द सभूति मे अपनी उपलब्धि करना चाहता है, जब अक्षर आनन्द क्षर में भी अपना प्रतिबिम्ब देखता है तब वह व्यक्ति मे अहं की सीमा से बाधित होकर सुख-दुख के रूप मे अनुभूत होता है, कामनाओ, इच्छाओ का साम्राज्य जब ध्वंस हो जाता है तब आनन्द प्रच्छन्न होता है। कामनारहित आनन्द ही विशुद्ध आनन्द है।[7] आनन्द की अभीप्सा प्रेम कहलाती है। यही प्रेम भक्ति मे ग्राह्य है। प्रेम का सार भाव मे है और भाव-परक-भक्ति कृष्ण भक्ति की विशिष्ट देन है। प्रेम आनन्द की पुजीभूत किरण है। यह आत्मा का नित्य गुण है। आनन्द को पाने का प्रबलतम साधन प्रेम है, किन्तु देह, मन और प्राण आदि के विकारो से ग्रस्त होने के कारण आत्मा आनन्द की अखण्डता नही प्राप्त कर पाती है। वस्तुत पुरुष के सभी कार्यो का प्रयोजन ही सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति है। यह अखण्ड सुख भगवत प्रेम से ही सम्भव है। क्योकि परमात्मा सत्य है, वह नित्य है, अत उससे उपलब्ध सुख भी नित्य एवं शाश्वत है। भगवान परमानन्द स्वरूप है। अत. उसके प्रति उन्मुख प्रेम ही नित्य आनन्द स्वरूप हो सकता है। परमात्मा मे लीन होकर, अज्ञान की वृत्तियो के स्तब्ध होने पर योगी जिस नीरव, निश्चल आनन्द का अनुभव करता है, उससे भी बढकर आनन्द का अनुभव भक्त पुरुषोत्तम मे स्थित होकर करता है। भगवान मे देह, मन और प्राण का ज्ञान स्तब्ध नही रूपान्तरित होकर आनन्द का उपकरण बन जाता है।[8] भगवान के प्रेम मे भाव विह्वल होकर भक्त अपने हृदयानन्द को अभिव्यक्त करता है निगुण सन्तो और सगुण राममार्गी तथा कृष्ण

मार्गी भक्तों की भाव-प्रवणता मे अन्तर की हेतु भागवत आनन्द की विशिष्ट भंगिमायें ही है। जिसने जितनी सन्निकटता का अनुभव किया, उसके पद का भाव गाम्भीर्य एव भाव विह्वलता उतना ही अधिक मुखरित है। रामभक्त तुलसी के आत्मनिवेदन मे आत्माभिव्यक्ति अत्यन्त शुद्ध, परिष्कृत एव तीव्र होने पर भी सूर के माधुर्य वर्णन अथवा मीरा की कान्ता भक्ति के पदों की भावाकुलता के सम्मुख दब जाती है। गीति कविता के लिये जिस अत्यन्त तीव्र उद्गार की आवश्यकता होती है वैसी व्यजना मीरा के पदो में ही उपलब्ध होती है। "दरद दिवानी" मीरा की अनुभूति प्रेम की दीवानगी, भावप्रवणता की सद्य. स्फूर्ति है। इसलिए हृदय घायल की पुकार है, और समय-समय पर उसे ही वे अभिव्यक्त करती रही है। यह दीवानगी ज्ञान की संज्ञा का अन्त है। मध्यकाल के पहले भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानकर भाव की संज्ञा दी गई थी। आचार्य भरत ने नौ रसों —शृंगार, करुण, रौद्र, वीर, अद्‌भुत, भयानक, विभत्स, हास्य तथा शान्त में भक्ति को स्थान न देकर भाव मे स्थान दिया है। सभी काव्य शास्त्रियो ने नायक-नायिका जन्य "रति" को ही शृंगार का स्थायी भाव कहा है। अन्य प्रेम के रूप यथा पुत्र, बन्धु, गुरु, देवता आदि को शृगार के अन्तर्गत नही माना। भक्ति का प्रेम ईश्वर विषयक है अत इसे शृगार के अन्तर्गत नही रखा। काव्य प्रकाशकार मम्मट ने देवता, गुरु पुत्रादि विषयक रति से उत्पन्न आनन्द को रस की सज्ञा न देकर भाव की सज्ञा दी है।[9] दूसरी ओर भक्ति को शान्त रस के अन्तर्गत भी नही रखा गया। क्योकि जहाँ भक्ति का स्थायी भाव रति अथवा अनुराग होता है वहाँ शान्त रस का निर्वेद, 'जो वैराग्य प्रधान है। पण्डित राज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ "रसगगाधर" मे भक्ति की आलोचना करते हुये रस मानने की शका की अभिव्यक्ति अवश्य की है किंतु भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के इतर कथन वे न कर सके अत भक्ति को पुन भाव कहकर छोड दिया।[10]

ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति के आनन्द की अनुभूति किये बिना उसके रस की परिकल्पना आचार्यो द्वारा न हो सकी। हिन्दी के भक्ति काल के उदय के पूर्व धर्म में ज्ञान एवं कर्मकाण्ड को विशेष महत्ता दी गई थी। यही कारण है कि लोग भक्ति की स्वाभाविक एवं सुखद रसप्लावित अनुभूति न कर सके। यद्यपि भागवत, पुराणो और महाभारत आदि मे भक्ति रस को ब्रह्मानन्द से अधिक सुखकारी बताया गया है, तथापि, सम्भवत काव्यशास्त्र में भक्ति रस को स्वतन्त्र रस-संज्ञा न देने का कारण एक तो काव्यशास्त्र परम्परा का पालन रहा है, दूसरे भक्ति रस व्यापक लोकानुभूति का आनन्द न होने के कारण विलक्षण समझा गया। भक्तिकाल के पहले तक भक्ति अपने पूर्ण रसात्मक रूप मे प्रकट भी नही हुई थी। इसलिये उसकी साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ या तो दर्शन अथवा ज्ञान से बोझिल हो गई अथवा कर्मकाण्ड से ध्वस्त। उसमे भाव का दबा रूप ही अभिव्यक्त हो सका। 'उसका उच्छल अन्तर्बाह्य व्याप्त रूप भक्ति के रूप में इससे पहले व्यक्त ही नही हुआ जब लक्ष्य ग्रन्थ

ही नहीं तो लक्षण कहाँ से निर्धारित किये जा सकते है। भक्ति की प्रमुख रागात्मकता मध्यकाल में ही प्रकट हुई।

वैष्णव भक्तों के द्वारा भक्ति रस का विवेचन किया गया है। श्री रूप गोस्वामी के "हरि-भक्त-रसामृत-सिन्धु" मे भक्ति रस दो प्रकार का बताया गया है—

1—मुख्य भक्ति रस,

2—गौण भक्ति रस।

मुख्य भक्तिरस को पाँच वर्गों मे विभाजित किया—शान्त, प्रीति, प्रेम, वात्सल्य और मधुर। प्रीति और प्रेम को दास्य और सख्य भक्ति के रूप मे विवेचित किया है। गौण भक्तिरस के सात भेद किये—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा विभत्स।[11] भक्ति की निष्पत्ति के विषय मे वे एक स्थल पर कहते है—विभावानुभाव आदि की परिष्कृति से भक्ति परम रस-रूपा हो जाती है। विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावो से भक्तो के हृदय मे भगवत-रति की प्राप्ति होती है यही भक्ति मे परिणित हो जाता है।[12] भक्त की यही अनुभूति जब शब्दों में समर्पित होकर अभिव्यक्त होती है तो उत्कृष्ट गीति रचना का सृजन होता है तथा यह रचना सहृदय पाठक अथवा श्रोता मे भी रसानुभूति कराती है।

काव्याचार्यो ने इतना तो माना ही है कि भगवद् विषयक भाव "रति" है—भाव की प्रगाढ़ आसक्ति-अवस्था, भले ही उसे रस न माना हो। भाव की यह गाढ़ता या अनुरक्ति मूलकता उसे गीति की द्रवित अनुभूति तो प्रदान कर ही सकती है। भगवद् विषयक यह रति कई भावो में अभिव्यक्त होती है। वस्तुतः मानव प्रेम के जितने भी रूप हो सकते हैं उन सभी प्रीति सम्बन्धों को भक्तो ने परमात्मा से जोड़ा है और उसी के अनुसार भक्ति के भावो का नामकरण किया है—

(1) परमेश्वर को पिता-माता और स्वामी मानना तथा अपने को आज्ञाकारी पुत्र तथा स्वामिभक्त दास के रूप मे मानना। यह दास्य-प्रीति के अन्तर्गत आता है। यही भाव विकसित होकर पूर्ण समर्पण की भावना से जब ओत-प्रोत होता है तो आत्म-निवेदन में परिणत हो जाता है।

(2) परमात्मा हमारे सुख-दुःख, आमोद-प्रमोद मे सहयोगी है तथा वह परम मित्र, साथी और बन्धु है उसके अतिरिक्त मेरा कोई भी मित्र अथवा साथी नहीं है। यह भाव सख्य-प्रीति या सख्यत्व का माना जाता है।

(3) परमेश्वर बालक है, पुत्र है तथा मै उसकी पालक माता, धात्री तथा पिता हू। शिशु के प्रति यह भाव वात्सल्य-प्रीति माना जाता है।

(4) परमेश्वर पति है, मै उसकी पत्नी हूँ अथवा परमेश्वर प्रिय है और मैं उसकी प्रेयसी या प्रेमिका हूँ, यह शृंगार का भाव है तथा भक्ति में यह माधुर्य प्रीति है।

इस प्रकार भक्ति-रस के स्थायी भाव के मुख्य रूप चार हैं—दास्य वात्सल्य सख्य और माधुर्य भिन्न भिन्न भक्ति सम्प्रदायो ने इनमे से किसी एक दो अथवा

सभी का अनुगमन करते हुये अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त किया। गीति काव्य के विकास में इन भावानुभूतियों का विशेष सहयोग है। सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य चाहे ज्ञान का गर्व करने वाले निर्गुण सन्तों की वाणी हो या रामभक्त तुलसी की दैन्य-आत्माभिव्यक्ति अथवा कृष्ण-भक्तो का मधुर प्रेम, इसी प्रकार की भक्ति भावना की प्रेरणा से रचा गया है। यही कारण है कि इसी भाव के आधार पर गीति-काव्य का वर्गीकरण करते हुये भक्ति के विभाग को दृष्टि मे रखा गया है।

यही पर एक तथ्य और स्पष्ट कर देना आश्वयक समझता हूँ। भक्ति की जो बिवेचना रस और भाव को लेकर किया गया है उसका प्रयोजन भक्ति को रस अथवा भाव की कोटि मे स्थापित करना कदापि नही है वरन् यह तथ्य उजागर करना है कि गीति मे जो अनुभूतिमय तल्लीनता होनी चाहिये वह तल्लीनता भक्ति मे अत्यधिक है। भक्ति के जिस भाव वात्सल्य, सख्य, माधुर्य, दास्य अथवा शान्त की अभिव्यक्ति भक्तो ने की उसमें वे पूर्णरूपेण विभोर हो कर, उसके रस में आकण्ठ डूबकर, रोम-रोम मे उस विशेष भक्त्यात्मक भाव के रस को पिरो कर अर्थात् भक्त्यात्मक प्रेम में मदहोश होकर अपने हृदयोद्गारो की, संगीत की स्वर लहरियो के माध्यम से अभिव्यक्ति किया। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य मे श्रेष्ठ गीतियों का उद्धरण भक्तिकाल में ढूढ़ने से अनायास ही पग-पग पर मिल जाता है। वर्गीकरण विवेचन मे लीला विषय गीति-पदो के विवेचन के पूर्व भी वात्सल्य, सख्य और माधुर्य की मान्यताओं के विषय मे अल्प उल्लेख करने का अभिप्राय भी यही है। भक्तो ने उसी लीलात्मक भावों की विशेष अवस्था में विचरण करके ही इस प्रकार के मौलिक गीति की विशेषताओ से युक्त गीतिमय पदो की रचना की।

भक्ति विवेचन के साथ-साथ एक विचारणीय तथ्य स्वयमेव उपस्थित हो जाता है कि भक्ति की अभिव्यक्ति गीति मे ही क्यो हुई ? सूफी सन्तो की प्रबन्ध कृतियो एव गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित "रामचरितमानस" को छोडकर भक्ति-काल की रचनाधर्मिता गीति पदो मे व्यक्त हुई। सम्भवत गीति की संगीतमयता एव अनुभूतिमय भाव प्रवणता जैसे विशिष्ट गुणों के कारण ही भक्त्यात्मक अभिव्यक्ति इस विधा में हुई। वर्गीकरण की दृष्टि से इस तथ्य को विवेचित करना अप्रासंगिक न होगा।

मैथिल कोकिल विद्यापति, अमीरखुसरो, सिद्ध नाथ, जैन सन्तो एवं रासो काव्य परम्परा के उपरान्त जो साहित्य उपलब्ध होता है उसमे गीति का पूर्ण एव सर्वोत्तम विकास दिखाई पड़ता है, जो हमारे शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित है। वीर अथवा शृंगार के वृहद् उपलब्ध साहित्य के उपरान्त भगवत् भक्ति के विषय-वस्तु से सम्बन्धित साहित्य अपरिमित मात्रा मे मिलता है। भक्ति मे गीति-भावना के पूर्ण प्रतिफलन का अवसर तभी मिला है। गीति का उद्भव-स्थल हृदय है भक्ति का भी मूल स्थान हृदय है बुद्धि अथवा विवेक के द्वारा भक्ति नही हो सकती

वह तो श्रद्धा और प्रेम का संयुक्त रूप है। इसी से आचार्य प्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने कहा भी है—श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब किसी व्यक्ति में कुछ विशिष्ट गुण या प्रतिभा लक्षित होती है तो उस व्यक्ति के प्रति एक आनन्दमयी भावना हृदय मे आ जाती है। इसे ही श्रद्धा की संज्ञा देते है। श्रद्धा मे बुद्धि या विवेक का कार्य केवल व्यक्ति के गुणों का परीक्षण तक ही है उसके प्रति आनन्द एवं आदर का भाव हृदय अभिव्यक्त करता है। उसमें चेतावनी या फटकार दोनो का तिरस्कार हो जाता है। द्वन्द्व से रहित, किसी भी इतर प्रेरणा से मुक्तकाव्य का यह स्रोत निश्चित ही गीति को शुद्ध रूप मे प्रतिष्ठित करने मे समर्थ हुआ है। स्तुति, उद्‌बोधन आदि में रागात्मक तत्व क्षीण रहता है, यद्यपि श्रद्धा का अश होता है। पर मात्र श्रद्धा गीत उद्‌बुद्ध कर सकती है, उसकी तन्मयता नही ला सकती है।

प्रेम पूर्णतया हृदय से सम्बद्ध है। प्रेम में तो बुद्धि का अश मात्र भी योगदान नही होता। व्यक्ति के रूप, गुण या अन्य किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष करके उसके प्रति प्रेम अनायास स्फुरित होता है। केवल अच्छा लगने मात्र से ही प्रेम हो जाता है। अर्थात् प्रेम का मूल उत्स हृदय है। इस प्रकार भक्ति मे श्रद्धा एवं प्रेम के तत्व स्वयमेव एक साथ मिलकर आते है। क्योकि भक्तिमूलक प्रेम अपने मे महनीय के प्रति होता है, सम के प्रति नही।

वस्तुत भक्तो के पद गेय है। इनमे संगीतात्मकता का विशेष आग्रह है। सगीत के प्रति तो प्रत्येक काव्य का अनुराग रहा है। इसके साथ ही हृदय का तथा मन की एकाग्रता का संगीत से सीधा सम्बन्ध है। यही कारण है कि भक्तजनो ने सगीत को साधना के रूप में अपनाया। सगीत का सम्बन्ध सीधे हृदय से होता है। हृदय शब्दों से उतना सम्बन्धित न होकर सगीत से घनिष्ठता रखता है। भारतीय जीवन मे प्रत्येक कला की प्राप्ति को मूल उद्देश्य आध्यात्मिक आनन्द रहा है। भारतीय कला का मुख्य लक्ष्य सासारिक आनन्द की तृप्ति अथवा कोई वैषयिक लाभ या शृ गारिकता को उद्दीप्त करना और विषयोपभोग मे प्रवृत्त करना नही माना गया, वरन वह धर्म एवं उपासना प्रधान रहा है। भारतीय विद्वान् कला का उपयोग लोकरजन हेतु न करके, आध्यात्मिक उत्थान हेतु ही करते आये है। इस प्रकार कलाओं का विकास धर्म की छत्र छाया मे हुआ है।

गीतिकाव्य का मूल सगीत भी धर्म का आधार लेकर विकसित हुआ है। सगीत या गीत का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति, आत्मा से परमात्मा का मिलन और परम शान्ति को प्रदान करना माना गया है। सगीत रत्नाकर मे कहा गया है—
उस गीत के माहात्म्य की कौन प्रशंसा करने मे समर्थ है। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त करने का एक यही साधन है।"[13]

इसी प्रकार संगीत-परिजात में स्वय विष्णु नारद से कहते है—"हे नारद! न तो मैं बैकुण्ठ में रहता हू और न योगियो के हृदय मे अपितु मेरे भक्त जहाँ गान

करते है वही मे निवास करता हूँ ।"[14] ईश्वर प्राप्ति के लिये संगीत प्रधान साधन है । इसीलिये भागवत में ईश्वर के कीर्तिमान वाले सगीत को आध्यात्मिक महत्व दिया गया है—"दोष-निधि कलियुग मे महान गुण है कि भगवान कृष्ण के कीर्तन से मनुष्य लौकिक आशक्ति से छूट जाता है ।"[15] कृष्णभक्ति सम्प्रदाय के आचार्य वल्लभ के मतानुसार तो भगवान के गुणो के गान से भक्तो मे ईश्वरीय गुण आ जाता है । उनका कथन है—"जब तक भगवान अपनी महती कृपा भक्तो को दे तब तक साधन-दशा मे ईश्वर के गुण-नाम के कीर्तन ही आनन्द देने वाले है । ईश्वर के गुण गान मे जो आनन्द है, वह लौकिक पुरुषो के गुणगान मे नही होता तथा जैसा सुख भक्तों को भगवान के गुणगान मे होता है, वैसा सुख भगवान के स्वरूप ज्ञान की मोक्ष-अवस्था मे भी नही होता। इसलिए सदानन्द ईश्वर मे भक्ति करने वाले भक्तो को सब लौकिक साधन छोडकर भगवान के गुणों का गान करना चाहिये । ऐसा करने से भक्त मे ईश्वरीय गुण आ जायेंगे ।[16]

प्रसिद्ध संगीतज्ञ सियाराम जी, तिवारी का मत है कि "सगीत दैवी विधा है । यह चंचल चित्त-वृत्ति के निरोध के द्वारा योग-साधना का सा आनन्द देती है ।[17] वस्तुत साध्य और साधक के एकाकार के लिए सगीत की स्वर लहरी अत्यन्तावश्यक है । यही कारण है कि भक्तो की कविता मे सगीत-तत्व घुलमिल गया है । इसी से ओंकारनाथ ठाकुर कहते है—"भक्त के लिये सगीत मुख्य साधन है । भक्ति मे तन्मयता, तद्रूपता पाने के लिये स्वर में तल्लीन होना पडता है, भक्तो की कविता मे सगीत घुलमिल गया है ।"[18]

ब्रह्मा के कण्ठ को फोडकर "ओऽम्" की स्वत अभिव्यक्ति हुई । यह ओऽम् नाद का मूल है और नाद संगीत का मूल है । सगीत, गीतिकाव्य का सर्वप्रमुख और महत्वपूर्ण तत्व है । सगीत का अध्यात्म से परस्पर-सम्बन्ध विवेचित करने पर यह तथ्य उपलब्ध होता है कि आध्यात्मिक विकास मे संगीतात्मकता का अपूर्व योग होता है तथा ईश्वर प्राप्ति मे सहायक भी होता है । यही कारण है कि भक्ति काल के भक्तों की कवितायें संगीतात्मकता से पूर्णतया आवेष्ठित है और भक्तो की वाणी, उनके हृदय के उद्‌गार, सगीत का आधार लेकर गेय पद शैली में व्यक्त हुये । वस्तुत भक्तों के जीवन का चरम लक्ष्य अपनी आत्मा का परमात्मा से सामंजस्य स्थापित करना है । अत. परमतत्व के साक्षात्कार के लिए वह अपने चचल चित्त को एकाग्र करता हुआ इष्ट की ओर उन्मुख करके सांसारिक विषय-वासनाओं से दूर करता है । उसका चिन्तन और श्रवण, ज्ञान तथा गुरु उपदेश परब्रह्म के अनन्त रूप की झाकी दिखाते है जिससे उसकी वृत्ति सासारिकता से विमुख होती जाती है तथा परम सत्ता की ओर अग्रसर होती है। भक्त की मन वृत्ति को भागवत प्रेम की ओर तीव्रतर करने के लिये संगीत का आश्रय लिया गया है । सगीतमय काव्य के से ही वह अपने हृदय की चित्तवृत्ति को भगवान की साधना में

लीन रहता है। भक्तिकालीन साहित्य की मूल प्रेरणा इसी संगीत के आध्यात्मिक प्रभाव से जुडी हुई है।

काव्य जब निविड संगीत का आधार लेकर अभिव्यक्त होता है तो उसका एक अन्यतम स्वरूप उपस्थित होता है जिसे गीतिकाव्य की संज्ञा दी जाती है। अति भावुक, सहृदय भक्त काव्यकार सभी बन्धनों को अस्वीकार कर सीधे-सादे पदो मे गा उठता है—

झीनी-झीनी बीनी चदरिया

या

दुलहिन गावहु मंगलाचार,
घर आये हो हमारे राजा राम भरतार—कबीरदास

सम्पूर्ण उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारो को उपेक्षित करके उसका व्याकुल हृदय उद्विग्नता से भर उठता है—

कहाँ लौं बरनो सुन्दरताई—सूरदास

उसका विरह विदग्ध हृदय आक्रोश से भर उठता है—

मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के, ठाढे क्यो न जरे।
—सूरदास

इसी विरह वेदना के विषय मे वह कहने लगता है—

घायल की गति घायल जानैं—मीरा

तथा भाव-विभोर होकर उसका मन-मयूर सभी बन्धनो को तोडकर नाच उठता है—

पग घुंघरू बाँध मीरा नाचि रे

या

मैं तो गिरिधर आगे नाचूगी—मीरा

भक्तिकाल का एक सशक्त कवि एवं भक्त जब सभी छन्दों का प्रयोग अपने "मानस" मे करके संतुष्ट न हो सका तो कवितावली मे कवित्त सवैया का उपयोग किया परन्तु उसका अन्तरतम अब भी तृप्त न हो सका तो गीतावली की रचना करके अपने हृदय को शान्त किया और विनयपत्रिका मे अपने हृदय की गहन अन्तर्वेदना को उड़ेल दिया—

अब लौ नसानी अब न नसैहौ—तुलसीदास।

उपर्युक्त समालोचना का उद्देश्य केवल इतना ही स्पष्ट करना है कि "भावों की चरम अभिव्यक्ति" गीति-काव्य मे ही सम्भव है। भक्त कवियो के गीतों की सवेदनशीलता एवं प्रेषणीयता का कारण यही है कि उन्होने गीति को संगीत के गीत

(Song) क्षेत्र मात्र से निकालकर वाणी-सुलभ बनाया। गीतिकाव्य की आडम्बर-हीन शैली मे ही उसके मानस का उद्वेलन अभिव्यक्त हो सकता था। भक्तिकाल मे गीति शैली के व्यापक प्रयोग का कारण यही रहा होगा। संगीत के इन्ही विशिष्ट गुणो को लक्ष्य कर डॉ० राम खेलावन पाण्डेय ने तो गीति-काव्य के वर्गीकरण की मुख्य कसौटी स्वीकार किया है—"गेय काव्य मे जहाँ गेयता और सगीत के शास्त्रीय निर्वाह का आग्रह है वहाँ गीतो मे सगीत की नही संगीतात्मकता की अपेक्षा रहती है। गीतिकाव्य के इस प्रकार के वर्गीकरण मे संगीत मुख्य कसौटी है। संगीत को ही विभाजक रेखा समझना चाहिये।"[19]

अनुभूति की दृष्टि से तो भक्तिकाल का सम्पूर्ण साहित्य स्वानुभूति पर आधारित है। परमात्मा की अनुभूति ही भक्त-कवियो के लिये सर्वोपरि है। परमात्मा की अनुभूति ही भक्त का लक्ष्य है, आनन्द है और मोक्ष है। चाहे ज्ञानाश्रयी सन्त अथवा राममार्गी तुलसी या कृष्णमार्गी भक्त सभी ने परमात्मा विषयक अनुभूति पर विशेष बल दिया है। सन्तो के अग्रज कबीर ने तो साफ-साफ कह दिया है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढे सो पण्डित होय॥

वेद, पुराण, उपनिषद् आदि सभी की मान्यताओ का इन्होने खण्डन किया। सन्त कबीर ने तो यहाँ तक कह दिया कि शास्त्र-ज्ञान के अहंकार के बोझ से साधक साधना-क्षेत्र मे पहले डूब जाता है और जो इस प्रकार का बोझ रखता ही नही वह तर जाता है—

हलके-हलके तिर गये डूबे जिन सिर भार।

वस्तुत दर्शन का दर्पण जब तक अनुभूति की आभा से आलोकित नही होगा, तब तक साधक के आत्मस्वरूप का प्रतिबिम्ब देख पाना दुर्लभ होता है।

सन्तो मे अग्रज कबीर के मत, विचार नही अनुभव थे जो मन ही मन उस परम तत्व को गुनते-गुनते, समझते-समझते स्वयमेव स्फुरित हुये थे। इसके लिये वाह्य जगत मे उन्हे भटकना नही पड़ा था। इस अनिर्वचनीय तथ्य की कथा भी सभी सन्त भक्तो के लिये अकथनीय है क्योकि जिनके हृदय मे यह "सहज-भाव" से उत्पन्न होता है, वह उसमे रमण करता हुआ लीन हो जाता है।[20] यही कारण है कि कबीर की आध्यात्मिकता पर विचार करते हुये आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि—"कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकाक्षा विश्व-ग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नही चाहती, इसीलिये वह ग्रहणशील है वर्जनशील नही।"[21] कबीर के विषय में कही गई उपर्युक्त लगभग सभी निर्गुणमार्गी सन्तों पर खरी उतरती है

चाहते है। विनयपत्रिका में तो राम दरबार मे अपने विनय की पत्री दरबारियो के माध्यम से राजा राम तक भेजकर हस्ताक्षर करवाते है। यहाँ कवि दैन्य की भावना का अनुभूतिक वर्णन करता है। दैन्य भाव मे पूर्ण आसक्त होकर कवि ने उसका गीतिमय वर्णन किया है। भक्त कवि का वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली, संवेदनशील एवं हृदयग्राही है।

अनुभूति की अभिव्यक्ति अष्टछाप के कवियो में अत्यन्त सुन्दरता से हुई है। आठो कवियों की भक्ति-भावना की अनुभूति एवं शैली विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से लगभग एक ही प्रकार की है। किन्तु उनकी अनुभूति की गहनता में विविधता है। यही कारण है कि "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में कहा गया है कि "ताते वाणी तो सब अष्टकाव्य की समान है और ये दोऊ परमानन्द स्वामी और सूरदास जी सागर भये।"[22] कृष्ण का चाहे सखा रूप हो या बालरूप अथवा यौवन युक्त रस-माधुरी प्रदान करने वाला रूप सभी स्थलो पर भक्त ने भगवत सान्निध्य की अनुभूति सखा के रूप में, माता के रूप में अथवा गोपी के रूप में की है। अनुभूति की विशिष्टता लक्षित कर दीनदयाल गुप्त अष्टछाप के कवियों के विषय में कहते है कि "आठो कवियो ने बाह्य विषयात्मक (Objective) शैली का अनुकरण न करके आत्म-विषयात्मक (Subjective) शैली का प्रयोग किया है।"[23] केवल अष्टछाप ही नही सभी कृष्णभक्त कवियो की कविता गहन अनुभूति से द्रवित है।

गीतिकाव्य की मूल आत्मा अथवा तत्व पर विचार करते हुये यह कह चुका हूँ कि गीतिकाव्य भावात्मक होता है। भाव का सम्बन्ध हृदय से होता है। हृदय के अनुभूतियुक्त होने पर मनोराग उत्पन्न होते हैं, और ये मनोराग लयात्मक वाणी का आश्रय लेकर अभिव्यक्त होते है। यदि मनोराग उत्पन्न नही होंगे तो उनकी अभिव्यक्ति गीति-कविता के रूप मे नही हो सकती। इस प्रकार प्राथमिकता संगीत या संगीतात्मकता या लयात्मकता की न होकर मनोरागो से उत्पन्न भाव विशेष की है। अस्तु सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य पर आलोच्य दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की भावभूमि आत्मपरक है चाहे कबीर की वाणी हो अथवा तुलसी का संयमित एवं मर्यादित भक्तिस्वरूप, चाहे सूर की गोपियाँ हो अथवा मीरा की वेदना सभी आत्मानुभूति के अनन्तर ही भावाभिव्यक्ति करते है। मानसिक वृत्ति जिस ओर रमी है, भाव प्रवाह भी उसी दिशा की ओर हुये है। यही कारण है कि कबीर की वाणी मे कही उनकी उपदेश-प्रवृत्ति झलकती है तो कही प्रेममय सरल हृदय का प्रवाह, कही ज्ञान का पिटारा खोलकर एक-एक प्रतीक को पिरोने लगते है तो कही अपने प्रियतम भगवान का साक्षात्कार कर नाच उठते हैं। तुलसी अपनी दैन्य भक्ति का सर्वत्र एकरसता के साथ विनय-पत्रिका में पालन करते हुये भी गीतावली एवं कृष्ण गीतावली में राम एवं कृष्ण के चरित्र के वैविध्य में अपनी प्रवृत्ति रमाते हैं कृष्ण भक्तो मे भी यही प्रवृत्ति देखी जाती है मीरा तो अपने हृदय से ही विवश हैं

अपनी पीड़ा व्यथा की व्यजना गीतो मे साकार कर देती हैं। इस प्रकार अनुभूति का गीति कविता में विशेष महत्व है। कला की परख का मूल इसी अनुभूति में है। गीतिकाव्य के वैविध्य एवं परख पर इससे अधिक स्पष्ट दृष्टि और क्या हो सकती है?

अस्तु, गीतिकाव्य भाव-प्रधान तो है ही यह अवश्य है कि मनोरागो के वैविध्य के कारण कभी भावो की गहनता, कभी मद्धिमता प्राप्त होती है तथा मनोवृत्तियो एव व्यक्तित्व की विविधता के कारण वैविध्य प्राप्त होता है। भाव की प्रमुखता के कारण ही हमने गीति-काव्य के वर्गीकरण का मुख्याधार "भाव" माना है। भक्तिकालीन साहित्य के भाव भक्त्यात्मक है अतः "भक्त्यात्मक भाव" ही वर्गीकरण के मुख्य आधार बने है। इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि "भाव" कह देने से जिस सहज "उद्रेक" का बोध उपस्थित होता है वह भक्त्यात्मक भाव मे सदैव नही रहता, क्योकि भक्ति साधना है, मात्र भाव नही। साधना की सिद्धि मे ही भाव का एकान्तिक उद्रेक सम्भव है। उसके पहले अन्य तत्वो के संयोग से "राम रसायन" का स्थायी भाव बनता रहता है जिससे "लीलारस" का स्फुरण होने से पूर्व ही क्रीडाओ का बोध होता चलता है।

(ख) **वर्गीकरण**—वर्गीकरण का आधार स्थिर हो जाने के उपरान्त कुछ एक भारतीय विद्वानों द्वारा दिये गये वर्गीकरण के आधार का औचित्य-विवेचन कर लेना आवश्यक होगा। डॉ० राम खेलावन पाण्डेय ने अपनी पुस्तक गीतिकाव्य में गीतिकाव्य के वर्गीकरण के आधार का विवेचन करते हुये कहा है कि वर्गीकरण के कई आधार हैं और इस प्रकार भिन्न आधार के अनुसार वर्गीकरण भी भिन्न होगे। मानसिक चेतना के आधार पर गीतिकाव्य के विचारात्मक, भावात्मक, रागात्मक, कल्पनात्मक आदि रूप दिया जा सकता है।[24] अन्त में वे कहते है—"अंग्रेजी क आलोचकों ने वर्गीकरण का विस्तृत प्रयास किया है, अंग्रेजी साहित्य मे प्रचलित गीतो के आधार पर हिन्दी मे वर्गीकरण की चेष्टाये हुई है। अंग्रेजी का पूरा विधान हिन्दी कविताओं मे नही है अतः केवल अंग्रेजी के आधार पर उनका वर्गीकरण उपयुक्त नही हो सकता।"[25] इतना स्पष्ट करने के उपरान्त गीति विवेचन हेतु वीरगीत (Ballads), करुण-गीति (Elegy), व्यंग्य-गीति, समाज-गीति, उपालम्भ-गीति, गीति-नाट्य, रूपक-गीति, विचारात्मक-गीति, सम्बोध-गीति (ओड्स), चतुर्दशपदी-गीति आदि के रूप में वर्गीकरण किया है।

हिन्दी साहित्य कोश मे गीतिकाव्य के अनेक भेदोपभेद किये गये है। यथा—गीत, भावगीत, सम्बोध-गीत, शोक-गीत, वर्ग-गीति या समाज-गीति, राष्ट्रीय-गीति आदि।[26]

डॉ० शिवमंगल सिह "सुमन" ने अपने डी० लिट० के **शोध-प्रबन्ध** गीति काव्य उद्भव, विकास और भारतीय काव्य में इसकी परम्परा मे

गीतो पर विशेष दृष्टि रखते हुये गीति-काव्य के तीन भेद किये है—

(1) बाधित

(2) आरोपित; और

(3) शुद्ध

इसी सन्दर्भ मे उनका कथन है कि "किसी भी कवि के प्रगीत काव्य को परखने के लिये हमने उसे सुविधा की दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभाजित कर दिया है बाधित, आरोपित तथा शुद्ध। आगे इन तीनो की व्याख्या करते हुये वे लिखते है कि "बाधित के अन्तर्गत गीतों के उस स्वरूप को लिया गया है जिसमे सगीत और पदावली का सौन्दर्य गीति के अनुकूल होते हुये भी उसमें किसी अन्त-र्भावव्यंजक स्वरूप का अभाव है अथवा अति अलौकिकता के समावेश के कारण रस परिपाक में बाधा पड जाती है। ऐसे गीत अधिकाश रूप-वर्णन आदि के अलंकार-बहुल स्वरूपों में पाये जाते है।

"आरोपित के अन्तर्गत उन गीतो को लिया गया है जिनमे किसी मानसिक रति की तन्मयतापूर्ण आवेश मे वर्णन है किन्तु वे कथा-प्रसंग के अंश होने के कारण स्वयं रचनाकार की अनुभूति की व्यजना नही करते वरन् किसी माध्यम द्वारा व्यंजित किये जाते है। कौशल्या, यशोदा आदि के विलाप अथवा अन्य पात्रों की आत्मविह्वलता अभिव्यक्ति इसी श्रेणी के अन्दर की गई है।

"शुद्ध गीतिकाव्य की संज्ञा उन अन्तर्वादी उद्गारो को प्रदान की गई है जो स्वयं रचनाकार की व्यक्तिगत विह्वलता की व्यंजना करते हैं और जिनमे अलौकिक भाव-भूमि पर आकर पूर्णत. सहृदय संवेद्य हो जाता है।"[27]

बचनदेव कुमार "तुलसी के भक्त्यात्मक गीत" में तुलसी के गीतो का विभाजन पहले दो रूपो में करते हैं—

(1) कथाप्रधान गीत

(2) अध्यात्मप्रधान गीत

आगे वे लिखते हैं कि "कथा-प्रधान गीतो के अन्तर्गत प्रधानतया गीतावली और कृष्ण गीतावली और अध्यात्म-प्रधान गीतो के अन्तर्गत प्रधानतया विनयपत्रिका के पद गृहीत होते है। अध्यात्म-प्रधान मे भी स्तोत्रात्मक गीत और विशुद्ध आध्या-त्मिक गीतो जैसा विभाजन किया जा सकता है। इस प्रकार तुलसी के भक्त्यात्मक गीतों के तीन प्रकार हुये—

(1) कथा-प्रधान भक्त्यात्मक गीत

(2) स्तोत्र-प्रधान गीत

(3) शुद्ध आध्यात्मिक गीत।"[28]

इसी प्रकार डॉ० मनमोहन गौतम सूर के गीति-पदो को कलागीत की संज्ञा

देते हुये कहते है—"सूरदास जी के समस्त गीतो की गणना कलागीतो मे की जाती है। इसका कारण यह है कि इसमे भाव, भाषा, अलंकरण तथा सगीतात्मकता की दृष्टि से कलात्मक परिमार्जन प्राप्त होता है।"[29] आगे वे सूर के पदो का वर्गीकरण करते हुये 5 वर्गों मे उसे विभाजित करते है—[30]

(1) कला गीत
(2) शुद्ध गीत
(3) परिष्कृत लोकगीत
(4) छन्दात्मक पद
(5) दृष्टिकूट पद।

उपर्युक्त सभी वर्गीकरण भक्तिकालीन गीतिकाव्य हेतु अपर्याप्त एवं अपूर्ण है। सभी आलोचको की दृष्टि भक्त-कवियों की रचना शैली पर रही है अथवा विषय-वस्तु की ओर भक्ति-गीति की विशिष्ट आत्मा को विस्मृत कर जाने के कारण ये वर्गीकरण समीचीन नहीं है। यद्यपि पाश्चात्य काव्यशास्त्रियो द्वारा दिया गया वर्गीकरण हिन्दी भक्ति साहित्य के लिये अनुपयुक्त है तथापि अनेक आलोचकों ने न तो अपना नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया है और न उनके विरुद्ध कुछ कहने का साहस ही कर सके है। वस्तुत हिन्दी-साहित्य के गीतिकाव्य का विवेचन नितान्त पश्चिमी वर्गीकरण के आधार पर नहीं हो सकता। उस पर भी भक्तिकालीन गीतिकाव्य तो इस क्षेत्र में प्रथम स्फुरण होने मे अपनी निजता के कारण अत्यन्त विशिष्ट है। यह सत्य है कि गीति मानव मन की सर्वजनीन अभिव्यक्ति होने के कारण पूर्वी-पश्चिमी किसी भी खाने मे नही बाँटी जा सकती। किन्तु पूर्वी मनस की अभिव्यक्ति, पश्चिमी मनस से निश्चय ही अपनी अलग पहचान रखती है। इसलिये गीतितत्वो का निरा पश्चिमी विश्लेषण पूर्वी मनस की अभिव्यक्तियों के लिये समीचीन और पूरी तरह सटीक नही हो सकता। आत्माभिव्यंजना का तत्व ही ले लिया जाय, जिस देश मे कवि अपने विषय (नाम, जाति, जीवनवृत्त सभी दृष्टि से) मे मौन रहना श्रेयस्कर और वरेण्य समझते हो वहाँ कवि की आत्माभिव्यजना नितान्त निजी व्यक्तित्व को लेकर प्रायः नही होगी। किन्ही असावधान क्षणो मे या आत्मविगलित क्षणो मे निश्चय ही उसका निजी "आत्म" फूटकर अभिव्यक्त हो पड़ेगा, अन्यथा वह अन्य आवरणों मे ही प्रकट होगा, सार्वजनिक जीवन के साथ एकीकृत होकर या प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से या सामूहिक भाव प्रतीक में रच-पच कर। इसलिये भक्तिकालीन कवियो की गीतिभावना अपनी आत्माभिव्यक्ति के लिये नाना रूपकारों को अपनाती है। ऐसा मध्यकालीन मानस के लिये स्वाभाविक भी था, क्योकि वह व्यक्तिवाद का पक्षधर नहीं रहा है। कही न कही, किसी न किसी मात्रा मे सामाजिकता या सामूहिकता विद्यमान है, शुद्ध भावना के स्तर पर भी चाहे वह मर्यादा से समष्टि के योग्य बने चाहे स्वच्छन्द भावो के समाजीकरण (लीला) से शुद्ध वैयक्तिक भावो की

अभिव्यक्ति को वह भक्ति की जनसुलभता के लिये अनुपयुक्त मानता है। अपवादस्वरूप मीराबाई के कुछेक गीति-पदो को लिया जा सकता है जैसे रहस्यवादी गीतियाँ या सगुण के प्रति आत्मविसर्जित गीतियाँ आदि। हिन्दी साहित्य का मध्यकालीन भक्ति-भाव जन-आन्दोलन के रूप में स्फुरित हुआ। इसलिये भक्ति की इन सिद्ध अवस्थाओ के अतिरिक्त जनमानस को आन्दोलित करने वाली भक्ति से सम्बन्धित विविध मन-स्थितियों और मानसिक गतियो का समाहार भी उसमें स्वतः हो जायेगा। गीति शुद्ध भावात्मक न रहकर विरति-विवेक के माध्यम से भाव के उद्बोधन का आधार भी बन सकती थी। इसलिये उसमे विचारात्मकता का समावेश भी सम्भव ही नही, अवश्यम्भावी है। पश्चिमी धारणा मे गीति चाहे शुद्ध भावपरक रचना रही हो, भारत मे यह अनादि काल से आध्यात्मिक सत्ता से जुडी होने के कारण उस सत्ता द्वारा जाग्रत विविध भावों और मन.स्थितियो या मानसिक गतियो से सम्बद्ध होती रही है। मनीषा का भी इसमे अंश-दान मिलेगा। इसलिये तत्वबोध या तत्व विचार तक के गीति-पद भक्तिकाल में मिलते है। निर्गुणियाँ पद इसके उदाहरण है। निर्गुण के प्रति भक्ति आसान नही है, वह निर्गुण जो मन वाणी से अगम तो है ही, अगोचर भी है, निराकार होने के नाते। इसी से निर्गुण ब्रह्म का पल्ला छोड़कर सूरदास सगुण ब्रह्म का गुणगान करने लगे थे—

अविगत गति कछु कहत न आवै।

× × ×

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु, निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते "सूर" सगुन लीला पद गावै॥[31]

ऐसा तत्व मन की भावात्मक सत्ता की पहुँच से परे होकर भावातीत तो हो ही जाता है, अविज्ञेय होने के नाते प्रांजल अभिव्यक्ति की पकड़ में नही रहता। इसलिये निर्गुण पदों में गीति की भावधारा प्रवाहित (जो भावों के उद्रेक की अनुगामिनी होती है) न होकर अक्सर अटपटी वाणी, यहाँ तक कि उलटबाँसी तक का अनुगमन करने लगती है। भावोद्रेक या भावोत्तेजना का तत्व जहाँ उपस्थित ही न हो वहाँ भाषा सगीतमयी, प्रवाहमयी कहाँ हो सकती हैं? शान्त रस भी जहाँ न हो, अद्भुत का विराट, अबूझ तत्व झलक मारता हो वहाँ रस या भाव-प्रवण आत्माभिव्यक्ति या भावाभिव्यक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्तो ने दार्शनिकता को गीतो का विषय जहाँ बनाया है वही उसे लम्बे गीतो में उसकी व्याख्या करनी पड़ती है अथवा उसे उन्हीं दार्शनिक सकेतो से काम चलाना पड़ता है जिसके कारण बुद्धि-चमत्कार अथवा ज्ञान की ओर ध्यान अवश्य जाता है, लेकिन रागात्मक आवेश प्राप्त नही होता।

कबीर की उलटबाँसी और सूर के दृष्टि कूटपदो के लिये उपर्युक्त कथन सत्य है यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि गीति की आत्मा इन पदों में

अप्राप्य है। इस प्रकार के पदो के अतिरिक्त भक्तिकालीन गीति-साहित्य मे अनेक पद ऐसे भी उपलब्ध है जिनमे दार्शनिकता का अल्प आग्रह है किन्तु भाव और भाषा की दृष्टि से गीतिमयता कुछ अंशो मे सुरक्षित रहती है। अत ऐसे गीति-पदो को स्वयं भक्त कवि ने "गीति" की सज्ञा दी है। इसी से तो कबीर कहते है—

तुम्ह जिनि जानौ गीत है यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया आतम साधन सार रे॥

इसमें "गीत" का हल्का फुल्कापन निवारित करते हुये भी अपने ब्रह्म विचार या निज आत्म साधना को साधक कवि "गीत" के माध्यम से ही प्रस्तुत करता है। मध्ययुगीन भक्तिकाल भक्ति के निर्गुण-सगुण सारे परिप्रेक्ष्यो के विराट जन भावों को समेटने के कारण विचार प्रधान से लेकर शुद्ध भाव तक की कोटियो को "गीत" की सीमा मे समेट लाया। इस प्रकार के गीति-पदों मे चाहे सारे आधुनिक तत्व बाधित हो जाय, पर दो तत्व अक्षुण रूप से विद्यमान रहते है—"गेयता" या संगीत-मयता का जो उसे कभी शब्द संगीत और कभी नाद संगीत दोनो देता है, कभी केवल नाद संगीत ही एवं भक्ति की अटूट आस्था से जुडी हुई भावात्मकता का। अत: ये पद भले ही गीति की आधुनिक कसौटी पर खरे न उतरते हों, गीति-पद की संज्ञा मे अवश्य अभिहित किये जायेगे।

यहाँ एक तथ्य और दृष्टि मे आता है। वह यह कि "ब्रह्म विचार" के लिये या "आत्मसाधन सार" को समझाने अथवा व्याख्यायित करने के लिये "गद्य" अधिक उपयुक्त माध्यम होता है। जैसा कि बृहदारण्यक, छन्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, माण्डूक आदि उपनिषदों ने अपनाया। किन्तु भक्तिकाल मे ब्रह्म विचार या आतम साधन सार जब भक्ति से जुडकर अभिव्यक्त हुआ तो भाव के स्तर पर। विचार के भीतर यह भाव पंक्ति-पंक्ति में संकेतित होता है चाहे वह वैराग्य या विरति का ही क्यों न हो। ऐसे निर्गुनिया पदो का जनमानस पर अत्यधिक प्रभाव पडा। बंगाल के "बाऊल" गीतों की भाँति लोक-मानस ने इसे भी गीत के रूप में स्वीकार किया है। विचार-प्रवण भाव और भावप्रवण विचार के छोरो के बीच डोलता भक्ति का जन-आन्दोलन सभी सम्भावित गीति रचना करता रहा है।

अस्तु विचार की, भाव की, दोनों के विविध परिमाणो मे सम्मिश्रण की, दोनों को उद्बुद्ध करने वाले उदाहरणो, कथाओं या घटनाओ (लीला) सभी की अभिव्यक्ति भक्ति-काल के गीति क्षेत्र मे हुई। इसका कारण है—भक्ति का विविध रूप। यही कारण है कि भक्ति के विविध रूपों को वर्गीकरण का मुख्य भाग-उपभाग माना है।

भक्ति के साधन पक्ष से लेकर सिद्धावस्था तक का भक्तिकालीन गीति-काव्य में निरूपण है। इसलिये श्रवण, मनन, कीर्तन आदि के लिये उपयुक्तता से लेकर निर्भ्रान्त आत्म निवेदनपरक तल्लीनता के पद उसमे मिलते है। "रस" उसके केन्द्र

मे है अवश्य चाहे वह शान्त हो या मधुर या केवल अद्‌भुत । यह भाव-वैविध्य अपना सही प्रतिबिम्ब आधुनिक वर्गीकरण के दर्पण मे नही देख सकता । इसलिये गीति की नई कोटियाँ स्वीकारनी पड़ती है । भक्तिकाल की रचना-प्रक्रिया से ही कुछ नये रूप कुछ अलग तत्व का सन्धान प्राप्त होता है ।

भक्ति का सार, उसका निकष आनन्द है । यह आनन्द ही भक्ति-गीतियो मे विद्यमान है । इसका साधारणीकरण सर्वसाधारण के लिये आसान नहीं है । इसलिये सर्वस्वीकृत गीति तत्वो की परिधि मे कतिपय भक्ति-गीतियो को बहिष्कृत कर देना सुरक्षा या आत्मरक्षा का उपाय भले ही हो वह उनके विवेचन का आधार कभी नही हो सकता । भक्ति-गीतो की विवेचना के लिये नई विश्लेषण-प्रक्रिया अपनानी होगी और उनके वर्गीकरण का आधार नया गढ़ना होगा । यह आधार एकमात्र "भक्ति" ही हो सकता है—चेतना और अभिव्यक्ति दोनो रूपो मे उसे ही पकड़ने की चेष्टा प्रस्तुत शोध में की गई है । गीति की मौलिक दिशाये, नये क्षेत्र या भिन्न अभिव्यक्ति पद्धति को भी स्वीकारा गया है । क्योंकि इसी रास्ते को अपनाकर भक्तिकाल के गीति-काव्य के साथ न्याय करने की आशा की जा सकती है । जैसा कि पहले कहा गया है कि भक्ति दो प्रकार की होती है—निर्गुण और सगुण - भक्तिकाल मे निर्गुण धारा के ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी दो रूप तथा सगुण धारा के राममार्गी तथा कृष्ण मार्गी दो रूप दृष्टिगत होते है । इनके गीति-पदो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(क) ज्ञानात्मक गीतिपद, और

(ख) भावात्मक गीतिपद ।

ज्ञानाश्रय भक्तिकाल का महत्वपूर्ण अंग है । अतः इसके गीति की अलग ही पहचान है । ज्ञानात्मक गीति-पदो को दो तरह से विभाजित करके विवेचन को सुलभ रूप दिया जा सकता है —

(क) 1—ज्ञानात्मक गीतिपद

अथवा

शुद्ध विचारात्मक गीतिपद

अथवा

विचार-प्रवण भावात्मक गीतिपद

2—भाव मिश्रित ज्ञानात्मक गीतिपद,

अथवा

भाव-प्रवण विचारात्मक गीतिपद ।

भावात्मक गीतिपदो को अध्ययन की सुविधा हेतु भावो के आधार पर अनेक

उपभागों मे वर्गीकृत किया जा सकता है—

(ख) 1—वात्सल्य भाव के गीतिपद,

2—सख्य भाव के गीतिपद,

3—माधुर्य भाव के गीतिपद,

4—दैन्य अथवा आत्म-निवेदनात्मक-गीतिपद ।

उपर्युक्त वर्गीकरण भी सम्पूर्ण भक्तिकालीन गीतिपद साहित्य के विवेचन के लिये अपूर्ण एवं अपर्याप्त समझते हुये कुछ अन्य वर्ग भी निर्धारित किये गये है जिनमे गीतो की भावप्रवणता एव अनुभूतिमयता को दृष्टि में रखा गया है—

(1) वैयक्तिक सवेदना के गीति-पद' और

(2) रहस्यवादी या तादात्म्यजन्य गीति-पद ।

कुल मिलाकर भक्तिकालीन सम्पूर्ण गीति-साहित्य का सम्यक् विवेचन, अध्ययन एवं आकलन करने के लिये निम्नलिखित वर्गीकरण किये गये है —

(1) विचार प्रवण भावात्मक गीतिपद,

(2) वात्सल्य भाव के गीतिपद,

(3) भाव प्रवण विचारात्मक गीतिपद,

(4) सख्यभाव के गीतिपद,

(5) माधुर्य भाव के गीतिपद,

(6) दैन्य भाव के गीतिपद,

(7) वैयक्तिक संवेदनात्मक गीतिपद,

(8) तादात्म्यजन्य गीतिपद ।

उपर्युक्त आठ प्रकार के गीतिपदो को तीन अध्यायो में रखकर विवेचन को सुलभ करने की चेष्टा की गई है—

(क) ज्ञानात्मक गीतिपद

(1) विचार-प्रवण भावात्मक गीतिपद,

(2) भाव-प्रवण विचारात्मक गीतिपद ।

(ख) लीला के गीतिपद

(1) वात्सल्य भाव के गीतिपद

(2) सख्य भाव के गीतिपद

3 माधुर्य भाव के गीतिपद

(ग) गीति के अन्य रूप

(1) दैन्य या विनय भाव के गीतिपद
(2) वैयक्तिक संवेदनात्मक गीतिपद
(3) तादात्म्यजन्य गीतिपद।

1—गीति काव्य, राम खेलावन पाण्डेय, पृ०-222
2—नारदीय भक्तिसूत्र, पृ०-25.
3—वही, पृ०-26.
4—वही, पृ०-30
5—श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, अध्याय 29, श्लोक 11-14
6—नारदीय भक्तिसूत्र, पृ०-67
7—मध्ययुगीन हिन्दी कृष्णभक्ति धारा और चैतन्य सम्प्रदाय, डा० मीरा श्रीवास्तव, पृ०-78
8—वही, पृ०-79.
9—काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ०-126
10—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दीनदयाल गुप्त, पृ०-590.
11—हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु, दक्षिण विभाग, लहरी-5, पृ०-308
12—वही, लहरी-1, पृ०-120
13—संगीत रत्नाकर, अध्याय—30, प्रकरण—1
14—संगीत पारिजात, अहोबल, पृ०-5, श्लोक—16.
15—भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय—3, श्लोक—51.
16—निरोध-लक्षण, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रामनाथ शर्मा
17—संगीत, मई—1955, पृ०-30
18—वही, मार्च—1942, पृ०-249.
19—गीतिकाव्य, पृ०-222-223
20—कबीर ग्रन्थावली, पृ०93, पद-14; पृ०96, पद-23.
21—कल्याण योगांक, पृ०-299.
22—अष्टछाप, धीरेन्द्र वर्मा, पृ०-55
23 और वल्लभ भाग-दो पृ० 694

24—गीतकाव्य, पृ०-222

25—वही, पृ०-222.

26 —हिन्दी साहित्य कोश, पृ०-264.

27—गीतिकाव्य : उद्भव, विकास एवं भारतीय काव्य में इसकी परम्परा; डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन', पृ०-308.

28—तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, वचनदेव कुमार, पृ०-94.

29—सूर की काव्यकला, मनमोहन गौतम, पृ०-58.

30—वही, पृ०-59.

31—सूरसागर, सभा, पद-2

(ख) विवेचन

परिशिष्ट (ख)

पंचम अध्याय

ज्ञानात्मक गीति-पद

(क) विचार-प्रवण भावात्मक गीति-पद

अनुभूति अपने तीव्रतम क्षणों मे अभिव्यक्त नही हो पाती। जैसे-जैसे अनुभूतिक आवेश कम होता है, बौद्धिकता सजग होकर विचारों का आश्रय लेती है और विचार-स्वर, लय के माध्यम से अनुभूति मे अभिव्यक्त होता है। अनेक स्थलों पर ऐसा सम्भव है कि अनुभूतिक के समक्ष विचारात्मकता अत्यन्त क्षीण रहती है, अनुभूति या भाव ही प्रमुख रहता है। किन्तु अनेक स्थलों पर विचारात्मकता इतनी प्रखर रहती है कि अनुभूति भाव गौण हो जाता है। किन्तु ऐसा नही है कि कविता का बुद्धि से सम्बन्ध न हो। मध्यकाल के भक्तों में सामाजिक चेतना प्रखर थी। यही कारण है कि भक्त, कवियों के अनेक गीतिपदों में अनुभूति उतनी प्रमुख नही है जितनी विचार-प्रवणता। सामाजिक चेतना के प्रबुद्ध होने या चिन्तन प्रधान कवि-व्यक्तित्व होने मे इस प्रकार की विचार शुष्कता स्वाभाविक भी है। आज की कविता में यह अत्यन्त रेखांकित है।

आध्यात्मिकता बौद्धिकता को भावनात्मक बनाने का प्रयास करती है। काव्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अध्यात्मवाद का सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध और उनके बौद्धिक निरूपण से है। भक्ति रागात्मक वृत्ति का शोधित रूप है किन्तु शोध का कारण ज्ञान और उसकी अपेक्षा है इसीलिये भक्ति के लिये ज्ञान की और ज्ञान के सम्यक् प्रभाव के लिए भक्ति की आवश्यकता है। गीतो मे रागात्मक अनुभूति की नितान्त अपेक्षा है, बौद्धिकता उसकी सम्पूर्ति के लिये ही आ सकती है अत. यदि धार्मिक भावना, आध्यात्मिकता और दार्शनिकता को उपयुक्त रागात्मक वृत्ति का सहयोग प्राप्त हो तो गीतिकाव्य में इन्हें स्थान दिया जा सकता है। कविता के साथ दर्शन का, इतने व्यापक अर्थ मे, सम्बन्ध अक्षुण्ण है। दार्शनिकता, आध्यात्मिकता अथवा धार्मिकता बुद्धि-व्यापार का फल मात्र न होकर रागात्मकता लिये हो, इतना अनिवार्य है। रागात्मक आवेश विचार के साथ मिलकर इस प्रकार की भावना का रूप ग्रहण कर सकता है। अत भक्तिकालीन गीति-काव्य मे दार्शनिकता, आध्यात्मिकता अथवा धार्मिकता की विचाराभिव्यक्ति हुई। इस विचाराभिव्यक्ति में भक्तों का व्यक्तितत्व विशेष सहायक हुआ है। जिसका जैसा व्यक्तित्व रहा है उसके कथन मे स्पष्टता, प्रखरता उतनी ही अधिक रही है। व्यक्तित्व से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के विचार दृष्टिकोण, भावना आदि से है। साथ ही व्यक्तित्व की गम्भीरता का गीति-काव्य की   से विशेष सम्बन्ध है

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य केवल इतना है कि बौद्धिक चेतना का प्रतिफल भक्तिकालीन गीति-काव्य मे पाया जाता है। भारत मे प्राचीनकाल से "उद्बोधन" परम्परा के गीत रहे है। यह उद्बोधन चिंतन-मनन की प्रक्रिया को सहज ही समाहित कर लेता है। यह आध्यात्मिक बौद्धिकता ऐसे गीतो का अनिवार्य गुण रही है। कवि इस बौद्धिक चेतना या आध्यात्मिक चेतना का जितना अधिक समावेश कविता मे करता है उतना ही उसकी कविता की संवेदनशक्ति पर उसका प्रभाव पडता है। जिन गीति-पदों में बौद्धिक चेतना मुख्य एवं अत्यन्त प्रखर है उन पदों को विचार-प्रवण भावात्मक गीतिकाव्य मे रखकर विवेचित किया गया है। मध्यकालीन भक्तो की इस प्रकार की गीति रचनाओ मे कही तो सामाजिक को समझाने का प्रयास किया गया है और कही ब्रह्म की व्याख्या की गई है। भक्त कवि कही अपने व्यक्तित्व की छाप डालने के लिये अथवा अपने-अपने मत-मतान्तरो की सैद्धान्तिक व्याख्या करने के लिये बौद्धिकता का आश्रय लेता है। अत दार्शनिक कथ्य के अनुकूल गीति-पद, उपदेशात्मक गीतिपद, और धार्मिक-सम्प्रदायगत सिद्धान्तो की व्याख्या करने वाले ऐसे गीतिपद जिनमें अनुभूति अत्यन्त क्षीण है, इस वर्गीकरण मे रखे गये हैं।

सन्त कवियो में विचाराभिव्यक्ति की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। इसीलिये उनके पदों में बौद्धिकता इतनी सजग एव सतर्क है कि उनके पद भाव सम्प्रेषण के स्थान पर डाँट, फटकार, चेतावनी का रूप धारण कर लेते है। सामाजिक पर व्यंग्य करता हुये तथा संसार मे शरीर की नश्वरता एव सासारिक सम्बन्धो की निरर्थकता की अभिव्यक्ति एक गीतिपद मे करता हुआ कवि कहता है :—

मन फूला-फूला फिरै, जगत में कैसा नाता रे।
माता कहै यह पुत्र हमारा, बहिन कहै बिर मेरा।
भाइ कहै यह भुजा हमारी, नारि कहै नर मेरा।।
पेट पकरि के माता रोवै, बाँहि पकरि के भाई।
लपटि झपटि के तिरिया रोवै, हस अकेला जाई।।
जब लग जीवै माता रोवै, बहिन रोवै दस मासा।
तेरह दिन तक तिरिया रोवै, फेर करै घर बासा।।
चार गजी चरगजी मँगाया, चढ़ा काठ की घोडी।
चारो कोने आग लगाया, फूक दियो जस होरी।।
हाड़ जरै जस लाह कड़ी, केस जरै जस घासा।
सोना ऐसी काया जरि गई, कोई न आयो पासा।।
घर की तिरिया ढूँढन लागी, ढूढि फिरी चहुँ देसा।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, छाड़ो जग की आसा।।

भक्त-कवि संवेदनशील है- भावुक हृदय वाला है। सासारिक दुख मे फँसे हुये व्यक्ति को देखकर उसका हृदय एक ओर जहाँ करुणापूरित हो जाता

ह वहीं उसकी मानसिक भ्रान्ति को देखकर निर्वेद का भाव बहा देता, किन्तु अत्यंत करुण भावुकता जगाकर।

मन फूला फूला फिरै, जगत मे कैसा नाता रे।

संसार नश्वर है। एक दिन सब कुछ समाप्त हो जाता है। सासारिक सम्बन्ध भी निरर्थक है। जीवित रहने पर भाई-बहन, माता-पुत्र, पति-पत्नी आदि का सम्बन्ध शरीर में प्राण रहते रहता है। चार दिनों का यह नाता जब समाप्त हो जाता है तो आत्मा के साथ कुछ भी नही जाता, वह तो अकेले ही सफर करता है। माँ, बहिन और पत्नी दुखी अवश्य होते है किन्तु कुछ ही दिनो के लिये। लकड़ी की चिता पर रखकर पार्थिव शरीर जला दिया जाता है और हाड माँस जलकर राख हो जाता है। ऐसे नश्वर जग की आशा छोड देनी चाहिये।

सासारिक व्यामोह का सरल, स्वाभाविक शब्दो मे वर्णन करके भक्त कवि अपने विचारो को बिना किसी इतर प्रयास के प्रकट कर देता है। कारण कवि का व्यक्तिगत अनुभव है। वह स्वयं सासारिक सम्बन्धो की व्यर्थता को, संसार के नाते-रिश्ते को, दिखावा-मात्र समझ चुका है। संसार की मिथ्यावादिता का उसे तीव्र व्यक्तिगत अनुभव है। वह अच्छी तरह समझ चुका है कि संसार के सम्बन्धो मे फँसना व्यामोह है, छल है, मोक्ष के मार्ग मे बाधक है जो परमात्मा की प्राप्ति मे कभी भी सहायक नही हो सकता। संसार के सम्बन्ध चार दिनो के है, वे शाश्वत नहीं है और जो शाश्वत नही है उसका भक्त के लिये क्या मूल्य है। सांसारिक असारता की अनुभूति भक्त कवि को पूर्णतया थी। यही कारण है कि उसके कथन का प्रत्येक शब्द अर्थ-गौरव से भरा हुआ है। वह उन्माद-रहित व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति सरल, स्वाभाविक, प्रवाहमय शब्दो मे करता है। सासारिक सम्बन्धों की व्यर्थता के साथ मृत्यु के सस्कार का वर्णन किया गया है जो अत्यन्त मार्मिक है। मृत्यु की सच्चाई से कौन नही परिचित है किन्तु भक्त कवि के लिये उसका रोना नही है। वह तो इसलिये दुखित है क्योंकि वह समझ रहा है, जान रहा है कि सासारिक नातो-रिश्तो मे जो फँसे है, जो सासारिकता को, उसके सम्बन्धों को ही मुख्य मानते है, समझते है वे अपना जीवन व्यर्थ गवा रहे है। अनमोल मानव जीवन को नष्ट कर रहे है। अत व्यक्तियों की नासमझी को देखकर दुखित होकर उसका हृदय रुक नही पाता, समझाने के लिये कह ही उठता है कि अह किस बात का करता है, जगत मे तेरा कैसा सम्बन्ध है—

मन फूला फूला फिरै, जगत मे कैसा नाता रे।

जगत के रिश्ते-नातो की अस्थिरता एवं व्यर्थता बताते-बताते वह अन्तिम पंक्ति मे अपनी बात पुन. कहकर श्रोता अथवा पाठक को और अधिक प्रभावित करना चाहता है—

घर की तिरिया ढूढ़न लागी, ढूढि फिरी चहुँ देसा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो छाडो जम की आसा

सम्पूर्ण पद में कवि की प्रवृत्ति उपदेशात्मक है। सामाजिक की मूढता दूर करने के लिए कवि अपना ज्ञानात्मक उपदेश देता है। उसने जगत के मिथ्यात्व का बोध कराने हेतु जगत से ही पुष्ट-प्रमाण एकत्र किये और उनका उल्लेख सहज और सरल शब्दावली मे करना प्रारम्भ कर दिया। सांसारिकता मे फँसे मानव को देख-कर भक्त कवि अत्यन्त पीडित हो उठता है। इसी से उसका हृदय, मन मे उठते भावो की सहजाभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति बौखलाई हुई न होकर गहन गाम्भीर्य के साथ नैसर्गिक मिठास लिये हुये व्यक्त हुई है।

हृदय की सस्कृति से जो वाणी अभिव्यक्त हुई है, उसकी संगीतमयता मे सन्देह करना निरर्थक है। वह तो स्वयमेव सगीत के अनुरूप अभिव्यक्त हुई है। टेक मे "रे" का प्रयोग करके लोकगीतों की व्यंजना पद मे भर दी गई है। इससे गीतात्मक पद और अधिक प्रभावोत्पादक, मर्मस्पर्शी और संगीतमय हो गया है। मध्यकाल तक गीतो की अन्तिम पक्ति मे अपना नामोल्लेख करने की प्रवृत्ति मिलती है। उसी के अनुकूल कबीर ने भी गीति पद की अन्तिम पंक्ति मे अपने नामोल्लेख के साथ अपनी बात कही है।

अनुभूति जो गीति तत्व का मुख्याधार है, भक्तो के गीतों मे आद्यन्त मिलता है। चाहे ब्रह्मानुभूति के गूढ से गूढ तत्वो का उल्लेख किया गया है अथवा सामाजिक आडम्बरो पर कुठाराघात का, इन भक्तो ने गीति-पदों मे सभी भाव को हृदयगत अनुभूति के आधार पर वर्णित किया है। ब्रह्मज्ञान की गूढ से गूढतर तथ्यो का इतना सरलता एवं स्वाभाविकता से उल्लेख वही कर सकता है जिसे उसका गहन अनुभव है। यह अवश्य है कि ऐसे अनुभव-सत्य का प्रवाहमय एव सहज गीतात्मक उल्लेख भाव-सम्प्रेषण न कर सकना हो किन्तु इसमें पद की गीतात्मक व्यजना का दोष नही माना जा सकता। भक्तिकाल के सभी भक्तो के गीतिपद इस अनुभूति से पूर्ण थे। इस विवेचन के सन्दर्भ मे कबीर एव अन्य भक्तो के दार्शनिक प्रतीको की शब्दावली से युक्त गीति-पद भी लिए गये हैं। कबीर एक स्थल पर कहते है—

जस तू तस तोहि कोई न जान, लोग कहे सब आनहि आन।[2]

कबीर ही नही वरन् सभी भक्त कवियो ने ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान व्यक्तिगत साधना के आधार पर किया है। जिसने परमात्मा की अनुभूति जैसी की है, उसका परमात्म-स्वरूप-वर्णन भी उसी प्रकार का है। मतैक्य होने पर भी अनुभूति मे अन्तर है। इसलिये कबीर कहते है कि जैसा तू है वैसा कोई नहीं जानता सभी लोग अनेक रूपो मे तुझे व्याख्यायित करते है। आगे परमतत्व की गूढता पर प्रकाश डालते हुये कहते है—राम नाम की चर्चा करने वाले सभी है परन्तु उसका वास्तविक रहस्य वे नही जानते। इसलिये जो लोग उस अवर्णनीय तत्व का निरूपण हल्के तौर से ऊपर ही ऊपर करते है उनकी बात मुझे नही जँचती। उसका आनन्द तो वही पाता है जो प्रत्यक्षानुभूति से उसे हृदयगम कर ले। यह बात केवल कहने-सुनने की नहीं है। उस से परिचय प्राप्त किये बिना उसे जाना नही जा सकता

है कोई राम नाम बतावै, वस्तु अगोचर मोहि लखावै।
राम नाम सब कोइ बखानै, राम नाम का मरम न जानै ॥
ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै, गावै तो सुख पावै।
कहै कबीर कछु कहत न आवै, परचै बिना मरम को पावै ॥[3]

भक्त कवि के कथन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि परमात्म अनुभूति आवश्यक है। अत अनुभूति मुख्य है। वह तो सर्वव्यापी है किन्तु अविकल, अरूप, अनाम, अनुपम ब्रह्म का साक्षात्कार होने के कारण उसका वर्णन करने मे उसकी अनुभूति करने मे अधिकाश भक्त असमर्थ होते हैं। एक तो वह गुरु की कृपा से प्राप्त हो सकता है दूसरे वह गूंगे के द्वारा खाई गई मिठाई के समान अवर्णनीय है—

अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान।
सहज समाधें सुख मै रहिबो, कोटि कलप विश्राम ॥
गुरू कृपाल कृपा जब कीन्ही, हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसो दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा ॥

× × ×

अपनै परिचै लागी तारी, आपन पै आप समांना।
कहै कबीर जे आप विचारै, मिटि गया आवन जांना ॥[4]

इसी प्रकार के एक अन्य पद में सृष्टि के कण-कण मे ईश्वर की व्याप्ति बताते हुये कहते है कि गुरु की कृपा से ईश्वर का ज्ञान होता है तथा उसकी प्राप्ति ऊर्ध्व साधना मे अपने ही घट के भीतर झॉकने से होती है अर्थात मन जब सिद्ध हो जाता है तब ईश्वर की प्राप्ति होती है।

मन रे मनही उलटि समाना।
गुरू परसादि अकिलि भई अवरै नातरु था बेगांना ॥

× × ×

तेरी निरगुन कथा कवन सो कहिअै है कोइ चतुर विवेकी।
कहै कबीर गुरू दिया पलीता सो झल्न विरलै देखी ॥[5]

परमात्मा की झल (झलक) देखने के लिये जैसे ज्ञान चक्षु की आवश्यकता है वह सबके पास कहाँ, बिना गुरू की विशेष कृपा के कोई कैसे लक्षित कर सकता है। सन्त कवि कबीर का कथन शुद्ध ज्ञानात्मक है। अनुभूति पर विशेष बल न देकर गुरू द्वारा प्राप्त ज्ञान का एव यौगिक क्रियाओ का वर्णन करने लगते है। पद संगीतमय है किन्तु भाव सम्प्रेषण न करके ज्ञान सम्प्रेषित करना है। यह ज्ञान वर्णन भी भक्त अपनी अनुभूति के माध्यम से करता है।

इसी प्रकार सभी निर्गुणमार्गी सन्तों ने ब्रह्म को अपने ही शरीर के अन्तर्गत स्वीकार करके उसी में खोजने की बात कही है नामदेव अपने एक पद में उपदेश देते हुये कहते हैं कि अपना मन में ही है अन्य कहीं नहीं विषय-वासनाओं

के बन मे ढूँढने से वह नही मिलेगा। माया व्यक्ति को धीरे-धीरे क्षरित करती है। काम, क्रोध आदि का परित्याग कर साधु की सगत न करने से वह अच्छी गति को प्राप्त नही होता—

काहे रे मन विषया वन जाय। भूलो रे ठगमूरी खाय ॥
जैसे मीन पानी मे रहै। काल जाल की सुधि नही लहै ॥
जिभ्या स्वाद लीलत लोह। ऐसे कनिक - कामिनी मोह ॥
ज्यों मधुमाखी संचि अपार। मधु लीन्हों मुख दीनो छार ॥
गऊ बाछ को संचै छीर। गला बाँधि दुहि लेहि अहीर ॥
माया कारन श्रम अति करै। सो माया ले माथै धरै ॥
अति सचैं समझै नहिं मूढा। धन धरनी तन ह्वै गयो धूडा ॥
काम क्रोध त्रिस्ना अति जरै। साधु संगत कबहूँ नहिं करै ॥
कहत नामदेव ता चिआन। निरमय ह्वै महिये भगवान ॥[6]

सम्पूर्ण पद का भाव केवल इतना है कि परमात्मा अपने घट में है। सासारिक माया मे भ्रमित होने मे वह नही मिलता। इतनी ही बात को पुष्ट करने के लिये भक्त कवि मीन, जिभ्या, कनक-कामिनी, मधुमक्खी, गाय आदि का उद्धरण एक के बाद एक प्रस्तुत करता हुआ ब्रह्म की दार्शनिक व्याख्या करता है। अपने इस कथन मे वह न तो बहुत उत्तेजित होता है और न प्रवाहित भावधारा से च्युत ही होता है वरन भाव गाम्भीर्य आदि से अन्त तक सम-भाव का रहता है तथा भक्त की पूर्ण आत्माभिव्यक्ति अन्तिम पक्ति मे "चिआन" शब्द से ही हो जाती है।

अनेक विद्वान दार्शनिकता के बोझ से लदे हुये गीति-पदो को गीति-कविता नही मानते है। यह सत्य है कि दार्शनिकता के अत्यधिक उल्लेख से गीति-भावना दब सी जाती है तथा अनुभूति एव रागात्मकता मे भी कुछ अशो तक रुकावट पडती है किन्तु इस प्रकार के गीतो का आनन्द मन और हृदय का छिछला आनन्द नही होता, वह तो आत्मा की तपती आँच मे पिघले हुये लौह के समान होती है जिसे विचारो के हथौडे से बीच-बीच मे ठोक कर जैसे जड व्यक्तित्व को लचीला बनाया जाकर, अंत में अनुभूति की पात्रता लाई जाती है। ये भक्त कवि उस परमात्मा का उल्लेख चाहे सांकेतिक शब्दों मे करे अथवा किसी भी प्रकार करे वह साधारण जन के लिये दुरूह, अस्पष्ट एवं अटपटी भले ही लगे लेकिन वह वाणी भक्त के हृदय के सघन नाद पर बजकर ही निकलती है। अत ऐसे गीति-पदो को गीति-काव्य के अन्तर्गत अवश्य रखा जा सकता है। अनुभूति भावना एव विचार की सहायता से अभिव्यक्त होती है, कही अनुभूति पर भावना प्रबल हो जाती है तो कही विचार किन्तु गीतिमयता इन दोनो प्रकार की अभिव्यक्ति मे रहती ही है। रागात्मकता का अतिरिक्त आग्रह गीतिमयता की पहचान नही है। एक विशेष प्रकार का आवेश ही उसके उद्रेक का बिन्दु है। यह आवेश "विचार" की मथन-प्रक्रिया से भी आ सकता है। अत

गीतियों का एक वर्ग यह भी है जो जनसाधारण मे उतना ही लोकप्रिय

रहा है जितना सू' और तुलसी के पद। एक अन्य तथ्य भी है—पार्थिवता की अनुभूति तो प्राय. सभी उन्नतशील प्राणियों के हृदय मे रहती है। परन्तु दिव्यता की अनुभूति विशिष्ट है और वह विशिष्ट व्यक्तियों के ही हृदय में हो पाती है। जो वस्तु प्रतिदिन हमारे समक्ष आती है उसको परित्याग कर अनादि, अनन्त, अज्ञात एव अलक्ष्य वस्तु की ओर अग्रसर होना विरले संस्कार सम्पन्न साधकों का काम है। ऐसे दिव्यतायुक्त एवं सूक्ष्म वस्तु की अनुभूति प्रज्ञाचक्षु से करके अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास इन सन्तो ने किया। प्रज्ञा चक्षु से की गई अभिव्यक्ति अनेक स्थलो पर दुरूह, चमत्कारपूर्ण, अटपटी एव साधारण जन हेतु अगम्य हो गई है। किन्तु इस प्रकार के पदो को लक्ष्य कर न तो भक्तो की अनुभूति के विषय मे ही त्रुटि बताई जा सकती है और न तो यही कहा जा सकता है कि इस प्रकार के गीति-पदो मे गीति-तत्वों का अभाव है। उसकी सम्प्रेषणीयता पाठक अथवा श्रोता या सामाजिक की सहृदयता पर निर्भर है। मध्यकालीन सहृदयता इस प्रकार के वैराग्य संदीपित गीतों में भी रस लेती रही है, नही तो लोक-गीतो मे "निर्गुणिया" गीति-पदों का विपुल प्रचलन न हुआ होता। आज हम गीति विवर्जित बौद्धिकता की ओर लौट आये है। मध्यकाल बौद्धिकता को भी गीति में डुबाकर प्रस्तुत करने का अभ्यस्त हो चुका था, इसीलिये विचार भी गीति मे ढलकर भक्त्यात्मक गीतो मे उपस्थित हुये हैं। अत सामाजिक की वृत्ति यदि गीति-पद की भावधारा के अनुकूल है तो कवि की वाणी उसे रस-सिक्त किये बिना नही रहती। ऐसे गीत दुरूह, अटपटे लगने वाले, चमत्कार अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण कथन वाले एव साधारण जन हेतु अबोधगम्य, प्रभावहीन एव आनन्द न प्रदान करने वाले भले ही लगे किन्तु उनमे गीति की संवेदनशीलता की कमी नही है। मध्यकालीन निर्गुण एव सगुण दोनो भक्त कवियो के पदों मे विचार सम्प्रेषण की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष है। एक अन्य पद मे कबीरदास मन साधना का विस्तृत वर्णन करते हुये कहते है—

जो कोइ या विधि मन को लगावै, मन के लगाये प्रभु को पावै।
जैसे नटवा चढ़त बाँस पर, ढोलिया ढोल बजावै।
अपना बोझ धरै सिर ऊपर, सुरति बरत पर लावै॥
जैसे भुवंगम चरत बनहिं मे, ओस चाटने आवै।
कभी चाटै कभी मनितन चितवै, मनि तजि प्रान गंवावै॥
जैसे कामिनि भरे कूप जल, कर छोड़े बतरावै।
अपना रंग सखियन रंग राचै, सुरति गगर पर लावै॥
जैसे सती चढी सर उपर, अपनी काया जरावै।
मातु पिता सब कुटुम्ब त्याग, सुरति पिया पर लावै॥
धूप दीप नैवेद अरगजा, ज्ञान की आरत लावै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो फेर जनम नहिं पावै॥'

नट भवगम कामिनि और सती के उदाहरण के द्वारा भक्त कवि प्रभु में मन

को एकाग्र करने की बात को बार-बार समझाता है। वह स्वयं मन को एकाग्र कर परमात्मा मे लगा चुका है और दूसरो को भी मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रभु मे ध्यान लगाने के लिये कहता है। इसलिये अन्तिम पंक्ति में कहता है–"फेर जनम नहि पावै।" ज्ञानात्मक उपदेश की प्रवृत्ति सहज उद्‌गार के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। कवि सप्रयास विचार तत्व को भरता हुआ नही प्रतीत होता। वरन वह भाव के साथ घुलमिलकर स्वयमेव प्रस्फुटित हुआ है। यही कारण है कि संगीत की लयात्मकता मे, गीति एवं प्रवाह मे कही भी कोई शब्द अथवा व्यंजना खटकती नही है। पावै, बाजावै, लावै, आवै, गँवावै आदि तुक का प्रयोग करके स्वाभाविक गीतिमयता इन पदों में भर दी गई है। साथ ही रागात्मकता आदि से अन्त तक समान बनी रहती है।

भक्त कवियो की उपदेशात्मक प्रवृत्ति अनादि काल मे चलती चली आ रही है। सिद्धो और नाथो मे यह स्वर प्रखर है। भक्ति कालीन ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्तो ने इसका पूर्ण अनुसरण किया है। कबीर की वाणी में यह स्वर अत्यन्त प्रखर है। दादू, नानक, रैदास, धरमदास आदि मे वह ओजस्विता अपेक्षाकृत धीमी है। इन कवियो के गीति-पदों मे उपर्युक्त आलोचित गीति-पदो की विशेषतायें लक्षित की जा सकती हैं—

1—परवै राम रमै जो कोई। या रस परसै दुविधि न होई ॥
जे दीसे ते सकल विनास। सो भगता केवल नि.काम ॥

× × ×
× × ×

कह रैदास यह परम बैराग। राम नाम किन जपहु सभाग ॥
धृत कारन दधि मथै सयान। जीवन मुक्ति सदा निरवार ॥[8]

(रैदास)

2—मूल सींचि बधै ज्यू बेला। सोतत तरवर रहै अकेला ॥
देवी देखत फिरै ग्यूँ भूले। खाइ हलाहल विष कौं फूले ॥

× × ×
× × ×

सत गुरु मिलै न ससा जाई। ये वन्धन सब देइ छुडाई ॥
तब दादू परम गति पावै। सो निज मूरति मोहि लखावै ॥[9]

(दादू)

3—मन तें इतने भरम गँवावो।
चल बिदेस विप्र जनि पूछो, दिन का दोष न लावो ॥
संझा होय करो तुम भोजन, बिनु दीपक के बारे।
जौन कहै असुरन की बिरिया मूढ दई के मारे।

× × ×
× × ×

यह संसार बडा भौसागर, ताको देखि सकाना।
सरन गये तोहि अब क्या डर है, कहत मलूक दिवाना ॥[10]

(मलूकदास)

इस प्रकार के गीति-पदो की संगीतात्मकता का विवेचन करते हुये यह कह चुका हूं कि सन्त-भक्तो ने गीति-पदो की रचना मे शास्त्रीय-संगीत का पूरा-पूरा ध्यान न रखकर पदों की संगीतात्मकता एवं लयात्मकता पर बल दिया है। यही इनके पदो की प्रमुख विशेषता है। अनगढ होने पर भी बेजोड भाषा का भावानुकूल प्रयोग करके पदो को गीत के सर्वथा अनुकूल बना दिया है। कबीर, नानक, दादू, रैदास, धरमदास, मलूकदास आदि के गीति-पदो में जो दो दो पक्तियो की टेक वाले पद है वे नाथो के प्रभाव को स्पष्ट करते है। अत इस प्रकार के गीति-पदो मे गेयत्व तो आद्यन्त विद्यमान है किन्तु गीति का एक गुण "संक्षिप्तता" न होने के कारण रागात्मक एकता की अन्विति नही मिल पाती है किन्तु यह तो है कि भक्ति-भाव का आश्रय ही पदो के निर्माण मे सहायक है तथा पद के वर्णन मे चाहे वह वर्णनात्मक प्रसग ही क्यो न हो सहजता के साथ गीतात्मक प्रवाह है। रैदास, दादू एव मलूकदास के उपर्युक्त पदो में आत्माभिव्यक्ति अन्तिम दो पंक्तियो में है। साथ ही सन्तो का गीति पद लोकगीतो की अत्यन्त सहज शैली के आधार पर निर्मित होने के कारण गीति की कोटि में सहज ही आ जाता है। कबीर की एक अन्य रचना पर नाथो के गीति-पद-रचना का प्रभाव देखा सकता है—

अब मन जागत रहु रे भाई।
गाफिल होइ कैं जनमु गंवायौ, चोर मुसै घरु जाई ॥ टेक ॥
खटचक्र की कीन्ही कोठरी, वस्तु अनूपु बिच पाई।
कुजी कुलफ प्रान करि राखे, करते बार न लाई ॥
पच पहरुआ दरमहि रहते तिनका नहीं पतिआरा।
चेत सुचेत चित्त होइ रहु तौलै परगासु उजारा ॥
नउ घर देखि जु कामिनि भूली वस्तु अनूपु न पाई।
कहै कबीर नवै घर मुसे दसवैं तत्त समाई ॥[11]

इस पद मे टेक परम्परा से प्राप्त गीति पदो के अनुकूल है। पद का भाव शुद्ध ज्ञानपरक होने के कारण इसे इस वर्ग में रखा गया है। भक्त कवि यौगिक क्रियाओ का ज्ञाता है तथा अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूपेण अपने वश में, नियन्त्रण में कर रखा है, बिना उसकी आज्ञा के इन्द्रियाँ कोई भी क्रिया कलाप नही कर सकती। उसे ज्ञान का प्रकाश इन्द्रियो पर अकुश रखकर ही प्राप्त हुआ है। ज्ञान को महत्व देने वाले भक्त कवि को चिदात्मक बोध हो चुका है। वह उसी बोध मे, परमात्म प्रकाश मे भावाविभार होकर दूसरा को भी सतर्क रहने के लिये कहता है जिससे वे उजाले

को, ज्ञान के प्रकाश को देख सके अर्थात ब्रह्म से साक्षात्कार कर सके। "खट-चक्र", "पच-पहरुआ", "नउघर", "दसवें तत्त" आदि पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इन शब्दो मे अपनी अर्थाभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता है परन्तु भावाभिव्यक्ति करने की क्षमता अत्यल्प है अथवा यों कहे कि भाव की व्यंजना केवल उन्ही के हेतु है जो इन शब्दों के अर्थ से पूर्ण परिचित है। इस प्रकार भाव सम्प्रेषणीयता ऐसे पारिभाषिक शब्दो वाले, दार्शनिक कथन से युक्त गीति पदो की अत्यल्प है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के हरिव्यास देवाचार्य उच्च कोटि के भक्त एव गायक थे। उन्होंने सम्प्रदायगत सिद्धान्तो का विवेचन अपनी कृति महावाणी मे "सिद्धान्त सुख" के खण्ड में किया है।[12] सम्प्रदायगत सिद्धान्त व्याख्या करने वाले पदो पर रागो का नामोल्लेख है। रागभैरव, विभास, बिलावत, असावरी, सारंग, गौरी, कल्याण, कान्हरौ, विहागरी, केदारो सोरठ आदि में उन्होंने अपने मन्तव्य को सरलता के साथ अभिव्यक्त किया है। ऐसे पदों मे भक्त कवि का वर्णन जितना उद्देश्यपूर्ण है, भावपूर्ण उतना नही है। हाँ! यह सत्य है कि भक्त कवि उद्देश्य को भाव मे ढालकर वर्णन करता है। राधा का तात्विक विवेचन करते हुये हरिव्यास जी कहते है—

जय श्री राधा-रसिक-रस-मजरि प्रिय शिर मोर।
रहसि रसिकिनी सखी सब वृन्दावन रस ठौर॥
जय-जय रधिका रसिक रस मंजरी रसिक सिरमौर मोहन बिराजै।
रसिकिनी रहसि रस-धाम वृन्दाविपिन रसिक-रस-रसी सहचरी समाजै॥

× × ×
× × ×

प्रान प्रियतम प्रिया प्रियतमा प्रेयसी पद पदस पासु पावन करा जय।
परम रसवर्षिनी कर्षिनी चित्त पिय नित्यहिय हर्षिनी श्री हरिपिया जय[13]॥

शास्त्रीय राग विभास मे रचा गया यह 16 पक्तियों का लम्बा पद है। भक्ति की भावाभिव्यक्ति का आभास सम्पूर्ण पद में कही नही होता। भक्त कवि "रसिक शिरमौर मोहन" के हृदय पर विराजने वाली "रसिक रस मंजरी" राधिका का रस-सिक्त वर्णन करता हुआ तात्विक व्याख्या करता है। इससे राधिका का सैद्धान्तिक वर्णन वह वर्णयोजना की अपूर्ण चयनशक्ति से युक्त, संगीतमय वाणी मे करता है। अनुप्रास की अलकारिक छटा मे सम्पूर्ण पद इस प्रकार आबद्ध है कि आदि से अन्त तक केवल वर्णध्वनि ही गूँजती रहती है। वर्ण की नादात्मकता का बहुतायत मे प्रयोग किया गया है। जिससे अलकारिता का बोझ बढ सा गया है। यही कारण है कि गीति-रचना के उपयुक्त होते हुये भी इस प्रकार के अन्य पदों[14] को भी इसी विवेचन के अन्तर्गत रखा गया है। सभी पदो मे भक्ति भाव के साथ बौद्धिक सतर्कता साफ झलकती है। कवि का झुकाव निम्बार्क सम्प्रदाय की व्याख्या की ओर अधिक है। इस प्रकार वर्णन आग्रह के समक्ष भाव गौण हो गया है ऐसे वर्णनो में

की आत्मा का हनन हुआ है क्योंकि भक्त कवि की विचारात्मकता सतर्क होकर भक्त्यात्मक कथन के साथ-साथ चलती है। साथ ही भक्त का उद्देश्य तत्व विवेचन है न कि भाव सम्प्रेषण अथवा भावाभिव्यक्ति। बौद्धिकता, नाद-सौन्दर्य, शब्द-सौष्ठव सब कुछ मिलकर अनुभूति का प्रवाह बाधित करते है। किन्तु पद-रचना का कारण सवेदना अवश्य है, राधा के प्रति अपनी अतिशय श्रद्धा अथवा उन्मोषित भक्ति का उद्रेक जो कि आराध्य के विशेषणों की लड़ी में पिरोया हुआ बोलता चलता है। भक्ति की रागात्मक प्रवृत्ति के साथ कवि-कर्म की सचेत सन्नद्धता ने इस तरह के पदो मे स्वर सगीत रचते हुये विशेषणो की वर्षा के संगीत में ही तत्व का विद्युत प्रकाश चमकाया है। ऐसे साहित्य गुणयुक्त पदो मे ज्ञान की दीप्ति आँखों को चौंधियाती नहीं, वरन् उसे कही चकित और कही मुग्ध करती है।

विचार प्रवण भावात्मक गीति-पदो की परम्परा सिद्धो नाथो मे होती हुई सन्तो मे आई। भगवत-समक्ष प्रार्थना और विनय के साथ-साथ उपदेश एवं चेतावनी का तीव्र या मद्धिम स्वर सन्तो के पदो मे पहले से ही प्राप्त होता रहा है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि अनेक स्थलों पर इन सन्तो ने गूढ रहस्यात्मक, साधनात्मक प्रतीक वाले शब्दो का प्रयोग अपने गीति-पदो मे नि संकोच किया है। यही कारण है कि ऐसे गीति-पदो मे अर्थ-बोध के माध्यम से भाव-तन्मयता की कमी मिलती है किन्तु जैसा कि समीक्षा मे कह चुका हूँ कि अनुभूति कही भी छिछली नहीं है वरन् तो हृदय की गहराई में गुजरित होकर सगीत के गेयत्व को पकडकर धीरे-धीरे सहजता के साथ वाणी के रूप मे, गीति-पदो मे, अभिव्यक्त हुई है।

1—कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-261

2—कबीर ग्रन्थावली, सभा, पद-47

3—वही, सभा, पद-218

4—वही, सभा, पद-6

5—वही, सभा, पद-8

6—सन्तबानी संग्रह, भाग-2, पृ०-27

7—वही, भाग-2, पृ०-8

.—वही, भाग-2, पृ०-30

9—वही, भाग-2, पृ०-88

10—वही, भाग-2, पृ०-92

11—कबीर-संग्रह, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पद-27

12—महावाणी, हरिव्यास, देवाचार्य, पृ० 171

13 वही, पद-6, पृ०-175

14 —वही पद 2 3 4 5 7 8 10 15 16 37 38

(ख) भावप्रवण विचारात्मक गीति-पद

भक्तिकालीन गीति-साहित्य मे ऐसे गीति-भाव-युक्त अनेक पद है जिसमे भक्त का भक्तिविह्वल-हृदय मात्र ज्ञान का पल्ला न पकडकर भक्ति की भावात्मकता के प्रवाह मे डूबता-उतराता है। किन्तु ऐसे पदो मे भक्त अर्जित ज्ञान को भूलता नही, क्योकि उसी ज्ञान से ही तो उसने परमात्मा को प्राप्त किया है। अत ज्ञान के द्वारा उद्भूत चेतना भगवत-भक्ति अथवा भगवत-आनन्द का विकास हृदय मे करती है। जिसकी अभिव्यक्ति वह सरस वाणी मे करता है। ऐसे गीति-पदो मे वह सामाजिक के अनुकूल प्रवाहमय एवं सरल शब्दावली का प्रयोग करके उसकी बोधगम्यता को सहज बना देता है। अर्थ की क्लिष्टता उसकी रसाभिव्यक्ति एव भावसम्प्रेषण मे बाधक नही होती। ज्ञान की सहजाभिव्यक्ति यदि कही होती है तो वह गीति की प्रवाहमयता अथवा संवेदनशीलता मे बाधक नही होती। इस प्रकार के गीतो की मुख्य विशेषता लोकगीत शैली का प्रयोग है। लोकगीतो मे हृदय को झुमाने वाला गेयत्व विद्यमान होता है। अर्थ की गूढता या उसकी व्यापकता से कोई मतलब नही केवल निविड सगीत का लोकायतन ही गीति की मादकता के लिए पर्याप्त होता है। यह संगीत भी शास्त्रीयता के अनुरूप चाहे हो या न हो उसकी चिन्ता नही किन्तु धुन और सहजता मे कमी नही। ऐसी विशेषताओ से युक्त निर्गुण या सगुण सभी गीति-पद आज भी लोक मे पर्याप्त रसाभिव्यक्ति मे सक्षम है।

परमात्मा की, महाचिति की व्याख्या, उसके रूप, गुण, नाम अथवा उसकी शून्यता का उल्लेख तो अनादिकाल से होता चला आ रहा है। आज भी वह अगोचर है, अनिर्दिश्य एव अज्ञेय है। हाँ! ज्ञात है तो केवल उसे जिसने उसका प्रत्यक्ष दर्शन किया है अथवा जिसने उसकी अनुभूति अपने "घट" के भीतर ही कर ली है। जिसने महासत्ता को प्रत्यक्ष किया है अथवा उसकी अनुभूति की है वह बारबार उसका उल्लेख करता हुआ लोकहिताय उसी को भजने को, जनमानस को प्रेरित करता रहता है। अपने प्रेरणादायक शब्दो मे वह अपनी अनुभूति का, अपने प्रत्यक्षीकृत दर्शन का, अथवा साक्ष्य की प्राप्ति के साधनो का वर्णन करता हुआ भगवद्भक्ति का कही उपदेश देता है तो कही अपनी बातो को कहकर ही संतोप कर लेता है अस्तु, ऐसे गीति-पद जहाँ भक्ति की भावात्मकता के साथ-साथ ज्ञानात्मक कथन आयासरहित आ गये है अर्थात ऐसे गीति-पद जिसमे भक्ति की रागात्मकता की तुलना मे ज्ञान की शुष्कता अपेक्षाकृत कम है, उन्हे भावप्रधान ज्ञानात्मक पद अथवा भावप्रवण विचारात्मक गीति-पद कहकर अभिहित किया गया है। ऐसे पदों में भक्त कवि की दृष्टि विचार सम्प्रेषण की ओर विशेष रूप से न होकर भाव-सम्प्रेषण की ओर होती है। ज्ञान की शुष्कता पदो मे नही आने पाती वरन भाव प्रवाह मे ज्ञानोल्लेख होता रहता है। विचार प्रवण भावात्मक गीति-पद तथा भाव प्रवण विचारात्मक गीति पद मे अन्तर अनुभूति का

है। सन्तो के अनेक पद ऐसे हैं जिनमे एक ही प्रकार के भावो का एव अर्थ के साम्य भी है किन्तु अनुभूति मे अत्यधिक अन्तर है। यथा-मृत्यु-प्रसंग एवं सांसारिक व्यवहार की व्यर्थता का सन्त कवि कबीर ने अनेक स्थलो पर उपदेश के रूप में कथन किया है। किन्तु प्रत्येक पद मे अनुभूति का अतर अवश्य है। इसी अध्याय में प्रसंगानुसार विवेचन किया गया है। यही कारण है कि भगवत् भक्ति की प्राप्ति सबको नही हो सकती क्योकि नुकीले तीर के घाव की पीडा का अनुभव उसी को हो सकता है जिसको चुभा हो। दु:ख की अनुभूति दुखी व्यक्ति को ही होगी सुखी को नहीं—

राम भगति अनियाले तीर।
जेहि लागै सो जानै पीर॥
तन महिं खोजौ चोट न पावौं। ओखद मूरि कहौ घंसि लावौं॥
एक भाइ दीसै सब नारी। न जानौ को पियहिं पियारी॥
कहै कबीर जागे मस्तकि भाग। सब परिहरि ताकौ मिलै सुहाग॥[1]

भक्त को भक्ति की अनुभूति होती है चाहे वह परमात्मा के निर्गुण रूप की हो अथवा सगुण रूप की भक्त उसकी अनुभूति करके ही वर्णन करता है। समग्र भक्तिकालीन साहित्य आनुभूतिक साहित्य है। उपर्युक्त गीति-पद मे भक्त उस अनुभूति को प्रमाण स्वरूप कह भी देता है। परन्तु निर्गुण ब्रह्म की उपासना को कठिन एव जनसाधारण के लिये असाध्य बताने वाले प्रज्ञाचक्षु सूर निर्गुण और सगुण ब्रह्म की अनुभूति करके ही लोकहिताय लोकरंजक सगुण रूप को मान्यता देते है—

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
× × ×
× × ×
रूप-रेख-गुन-जाति जुगति-बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर-सगुन-पद गावैं॥[2]

किसी को मिष्ठान्न प्रिय है तो किसी को नमकीन, किसी को सुखात्मक संयोग प्रिय है तो किसी को दुखात्मक वियोग, किसी को इहलौकिक सम्बन्ध सर्वाधिक प्रिय है तो किसी को पारलौकिक सम्बन्धो के समक्ष सब कुछ गौण प्रतीत होता है। इसी प्रकार किसी को परमात्मा का सगुण रूप प्रिय है किसी को निर्गुण रूप मे ही आनन्द का स्रोत दृष्टिगत होता है—

निरगुन राम, निरगुन राम जपहु रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई॥
चारिवेद जाके सुमृत पुराना, नौ व्याकरनां मरम न जाना।
सेस नाग जाकै गरड़ समांना, चरण कँवल कँवला नही जांनां॥
कहै कबीर जाकै भेदै नाही निज जन बैठे हरि की छांही॥[3]

कबीरदास के उपर्युक्त पद मे जो सहजता एव नैसर्गिक मिठास प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उस निर्गुण राम की अनुभूति उन्होने की है जिसे वेद, पुराण आदि ग्रन्थ नही जान सके है। केवल अनुभूति ही नही वरन साक्षात्कार भी किया है। इसीलिए तो अपने व्यक्तित्व का बलपूर्वक प्रक्षेपण करते हुये ही वे वेदादि को परमात्मा के मर्म को न जानने वाला बता कर कहते है कि उसके भेद नही है। अर्थात वह अभेद तत्व है। साधना की उच्चावस्था मे साधक के लिये तो परमात्मा के विविध रूप समान हो जाते है। साधना की सर्वोच्च स्थिति मे एकत्व की अनुभूति होती है, द्वैत की नही। भक्त तो अत्यन्त सरल हृदय का होता है। साफ-साफ जो उसे दिखाई देता है, अनुभूत होता है वही वह सीधे-सीधे, सहज, प्रवाहमय शब्दो मे कहता है। उसे ईर्ष्या द्वेष आदि से क्या मतलब ? "कविता क्या है" नामक निबन्ध मे रामचन्द्र शुक्ल ने इसी तथ्य पर अपना मत व्यक्त करते हुये लिखा है—"जो केवल अपने विलास या शरीर सुख की सामग्री ही प्रकृति मे ढूढा करते है उनमे उस रागात्मक "सत्व" की कमी रहती है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ-साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्तायें एक ही परमसत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत है। अत बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्व के प्रभाव मे पहुँचता है। इस प्रकार अन्त मे जाकर दोनो पक्षो की वृत्तियो का समन्वय हो जाता है।"[1]

गीतिकाव्य मे व्यक्तिगत अभिरुचि का विशेष महत्व है। कहाँ, कब और कौन सी वस्तु, दृश्य या वातावरण कवि के मानस को क्षुब्ध कर देगा, यह बहुत कुछ कवि की मानसिकता पर उसकी व्यक्तिगत अभिरुचि पर निर्भर करता है। सासारिक व्यामोह में फँसे व्यक्ति को देखकर सभी भक्त कवि दुखित होते हैं किन्तु उसके ग्रहण करने मे तथा अभिव्यक्त करने मे अन्तर है। एक ही वस्तुस्थिति का भक्त अनेक बार वर्णन करता है किन्तु अनुभूति एव अभिव्यक्ति दोनो मे अन्तर अवश्य रहता है। सासारिक सम्बन्धो की व्यर्थता एवं मृत्यु की क्रूर सत्यता पर कबीरदास ने अनेक गीतात्मक पदो की रचना की है किन्तु निम्नलिखित पद मे उनके मानसिक क्षुब्धता के स्वर मे रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति कही अधिक गहरी है—

चारि दिन अपनी नौबति चले बजाइ।
उतानै खटिया गडिलै मटिया सग न कछु लै जाइ॥
देहरी बैठी मेहरी रोवै द्वारे लगि सगी माई।
मरहट लौ सब लोग कुटुम्ब मिलि, हंस अकेला जाई।
वहि सुत वहि वित वहि पुर पाटन बहुरि न देखे आइ।
कहत कबीर भजन बिन बन्दे जनम अकारथ जाइ॥[5]

भक्त कवि के इस पद की गीतिमयता मे तथा प्रथम विभाग मे इसी भाव से

युक्त गीति पद की गीतिमयता मे अत्यधिक अन्तर है। उसके कथन की शैली मे प्रखरता के स्थान पर शान्त गम्भीरता सर्वत्र लक्षित की जा सकती है। आदि से अन्त तक करुण विवेक से उत्पन्न अनुभूति का सन्देश वह बिना किसी उत्तेजना के संगीत की गत्यात्मकता के साथ धीरे-धीरे अभिव्यक्त करता है। इससे अनुभूति कही अधिक गहरी हो गई है। ज्ञान का कथन तो दोनो ही पदो मे है किन्तु कही ज्ञान को बलपूर्वक थोपना चाहते है तो कही ज्ञान को समझा बुझाकर मनवाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस प्रकार के गीति-पदो मे भावाभिव्यक्ति चाहे समान हो किन्तु अनुभूति की मात्रा मे अन्तर अवश्य है, यही कारण है कि ऐसे पदो को अलग-अलग वर्गीकृत करके विवेचित किया गया है। गुरु द्वारा दिये गये ज्ञान से परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला भक्त किंवा सन्त कवि बारम्बार यदि ज्ञान का उपदेश दे तो चौकना कैसा ? उसके अधिकाश पद इसी मानसिकता की उपज है, यह तो उसके व्यक्तित्व का एक अंग है। सन्त कवि जहा अपनी आनुभूतिक भावाभिव्यंजना मे बुद्धि का समावेश अधिक कर देते है वही सूरदास की भावाभिव्यक्ति अनुभूतिगत-मार्मिकता को लेकर चलती है। उसमें चेतावनी अथवा उपदेश की प्रवृत्ति का प्रक्षेप नही है। सूर का निम्नलिखित पद भाव की दृष्टि से कबीर के उपर्युक्त पद से साम्य रखता है किन्तु अनुभूति से अन्तर है। साथ ही वर्णन मे, अभिव्यक्ति मे, अत्यधिक अन्तर है—

जा दिन मन पछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहै।
या देही को गरब न करिये, स्यार-काग-गिध खैहै।
तीननि मे तन कृमि, कै विष्ठा, कै ह्वै खाक उडैहै।

× × ×
× × ×

नर-बपु धारि नाहि जन हरिको, जम की मार सो खैहै।
सूरदास भगवत-भजन बिनु, वृथा सु जनम गवैहै ।।[6]

सूरदास का उपर्युक्त पद वर्ण्यविषय की दृष्टि से कबीर के पद के समानान्तर है किन्तु भाव की ममदोलता सूर के पदो मे अधिक है। रागात्मिका वृत्ति के साथ सरलता एव सहजता से कवि की यह भावाभिव्यक्ति जन-सवेदना के निकटतर हो जाती है।

सासारिक व्यामोह मे फँसे हुये व्यक्ति को देखकर कौन ईश्वर भक्त उसके क्षणिक सुख एव असीम दु:ख से दु ख का अनुभव नही करता। भक्त तो इस माया-जन्य ससार को समझ चुका है इसी से दूसरो को सासारिकता के मिथ्या सुख मे उलझा हुआ देखकर वह बार-बार उसे उपदेश देता है, कभी सीधे-सीधे सामाजिक को सम्बोधित करके तो कभी व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से माया का जगत के

मिथ्या सम्बन्धों का उल्लेख करके। ऐसे गीति पदों में भी भक्त कवि के हृदय की विह्वलता, सहजता के साथ अभिव्यक्त होती है। दैन्य एवं आत्मनिवेदन का भाव भी इस प्रकार के पदों मे आ जाता है। साथ ही गेयत्व की सहजता गीतों की मार्मिकता को अत्यधिक बढ़ा देती है। कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि सभी के पदों मे यह विशेषता देखी जा सकती है—

1 - कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चदवा काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी मोरी माँग सँवारो, दुलहा मोसे रूसल हो।
आये जमराज पलंग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो।
चार जने मिलि खाट उठाइन, चहुँदिसी धू-धू उठल हो।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, जग से नाता छूटल हो॥[7]

2—कहु मन राम नाम सँभारि।
माया के भ्रम कहाँ भूल्यो, जाहुगे कर-झारि।
देखि धौ इहाँ कौन तेरो, सगा सुत नहि नारि।
तोर उतंग सब दूरि करिहै, देहिगे तन जारि।
प्रान गये कहो कौन तेरा, देखि सोच विचारि।
बहुरि येहि कलि काल नाही, जीति भावै हारि।
यहु माया सब थोथरी रे, भगति दिस प्रतिहारि।
कह रैदास सत वचन गुरू के, सो जिवते न बिसारि॥[8]

3—यह जग मीत न देख्यो कोई।
सकल जगत अपने सुख लाग्यो, दुख मे संग न कोई।
दारा मीत पूत सम्बन्धी, सगरे धन सो लागे।
जबहिं निरधन देख्यो नर को, संग छाड़ि सब भागे।
कहर कहू या मन बौरे को, इन सो नेह लगाया।
दीनानाथ सकल भज-भजन, जस ताको बिसराया।
स्वान पूँछ ज्यो भयो न सूधो, बहुत जतन मै कीन्हो।
नानक लाज बिरद की राख्यो, नाम तिहारो लीन्हो॥[9]

प्रथम पद की केवल प्रथम पंक्ति "कौन ठगवा नगरिया लूटल हो" से ही भावाभिव्यंजना की इतनी तीव्र एव असरदार अभिव्यक्ति होती है, वह पद की अन्तिम पक्ति तक चलती रहती है। साथ ही लूटल हो, सूतल हो, रूसल हो, टूटल हो, उठल हो, छूटल हो की तुकान्तता तो पद की गीतिमयता मे अत्यधिक प्राण डाल देती है। रैदास के दूसरे पद का भी वर्ण्य-विषय वही है किन्तु गीति की चरम परिणति पद की अन्तिम दो पक्तियो मे है यहु माया सब थोथरी रे भगति दिस प्रतिहारी मे ही सम्पूर्ण गीति की एव चरम गति मिल जाती है

तृतीय गीति पद में भी भक्त नानक जगत के सम्बन्धो को मिथ्यायुक्त बताये हुये सासारिक व्यामोह मे फँसे व्यक्ति को चेतावनी देते है, तथा समझाते हुये कहते हैं—'या जग मीत न देख्यो कोई।'' इस पद की विशेषता प्रथम पक्ति से ही प्रारम्भ हो जाती है। जो गीति भावाभिव्यक्ति की सहजता प्रथम पक्ति मे है वही स्वान पूँछ ज्यो भयो न सूधो—तक चलती रहती है। भाव की समता देखते ही बनती है। अत उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यही है कि सन्तो के उपर्युक्त पदो में वर्ण्य-विषय की साम्यता है किन्तु अभिव्यक्ति मे अन्तर है। कही सरलता-सहजता मे अपनी बात भक्त कहता है, कही उसके कथन मे प्रखरता एव चेतावनी का स्वर तेज है तो कही वह समझाने के लिये, उदाहरणो को प्रस्तुत करते हुये समभाव मे अपनी भावना को प्रकट करता है किन्तु कही भी गीति-पद की गीतिमयता खण्डित न होकर पूर्णता के साथ अभिव्यक्त होती है। गीति-पद के टेक मे जो केन्द्रीय भाव भक्त कवि अभिव्यक्त करता है उसी का विस्तार पुष्ट प्रमाणो के आधार पर करता है जिससे गीति की समदोलता जहाँ उपलब्ध होती है वही गीति में भक्त कवि की विशेष भावदशा पूर्णता एवं सफलता के साथ मिलती है।

उपदेशात्मक पद सन्त परम्परा में परम्परा से चल रहे थे। माया, अविद्या, तृष्णा आदि का उल्लेख उनके पदो में होता रहा है। ऐसे पदो मे सन्तो ने सगीत की शास्त्रीयता की ओर ध्यान न देकर उसके सहज गयत्व की ओर दृष्टि दिया है जिसमे लोकगीतो की सहजता आ गई है। कृष्ण भक्त सूर के गीति-पद में सगीत की शास्त्रीयता तो उपलब्ध होती है वर्ण्य विषय का साम्य भी मिलता है—

अब मै नाच्यो बहुत गुपाल।
काम, क्रोध को पहिरि चोलना, कण्ठ विषय की माल।
महामोह कै नूपुर बाजत, निन्दा - सब्द - साल।
भ्रम-भोयो मन भयो पखावज, चलत असगत चाल।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाध्यो, लोभ-तिलक दियो भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या, दूर करौ नदलाल॥[10]

सूरदास ने इस प्रकार के वर्ण्य-विषय वाले पद वल्लभाचार्य से मिलने के पूर्व रचे थे। सन्तो के गीति-पदो से कही अधिक भावगाम्भीर्य एव सगीतमयता सूर आदि व्रज के वाग्गेयकारो[11] के गीतो मे उपलब्ध होता है। सूरदास ने एक गीति-पद में माया को सन्तो की भाँति नटिनी बताते हुये परमात्मा से अपनी दीनता का कथन किया है—

बिनती सुनौ दीन की चित्त दै कैसे तुव गुन गावै।
माया नटी लकुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै

दर दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वांग बनावै ।
तुम सों कपट करावत प्रभु जू, मेरी बुधि भरमावै ।।
× × ×
× × ×
मेरे तो तुम पति, तुमही गति, तुम समान को पावै ।।
सूरदास प्रभु तुम्हरे कृपा बिनु, को मो दुख बिसरावै ।।[12]

भक्तिकाल मे भक्तों द्वारा माया का, जगत का, ब्रह्म का अथवा अपने-अपने सम्प्रदायगत मान्यताओं का भावात्मक वर्णन अपने गीति-पदो में किया गया हैं । इस प्रकार के गीति-पदो मे भक्ति की भावात्मकता अवश्य घुली-मिली रहती है । यही कारण है कि भक्त कवि सीधे-सीधे माया, जगत, ब्रह्म की व्याख्या न करके, स्वय को सांसारिक दुख से जोड़कर उसी माध्यम से वर्णन करते है । कहीं-कहीं ब्रह्म की महानता के वर्णन के साथ-साथ उसके बिषय में दर्शन के तथ्य को भी कह जाता है किन्तु न तो भावात्मक प्रवाह मे कहीं कमी आई है और न ज्ञान की प्रमुखता ही स्थापित हुई है । यही कारण है कि इस प्रकार के पदों को भावप्रवण विचारात्मक गीति-पद के वर्गीकरण में विवेचित किया गया है ।

निम्बार्क सम्प्रदाय के हरिराम जी व्यास ने अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं को, मधुर भाव से कृष्णोपासना करते हुये, अभिव्यक्त किया है । कृष्ण उपासक ने कृष्ण को ही परमतत्व, परब्रह्म माना । उन्होंने नारायण को नित्य विहार का अंश मात्र स्वीकार किया । परमतत्व तो ब्रह्म भगवान विष्णु है, शेष समस्त जीव की कोटि मे हैं—

स्याम सुधन को नाहीं अन्त ।
जाकै कोटि रमा सी दासी, पद सेवत रति कन्त ।।
कोटि-कोटि लंका सुमेरु से, रंकनि हँसि बग संत ।
शिव-विरंचि, मघवा, कुबेर जाके रोमनि के तत ।।
रजधानी बन कुंज महल-मझली सरद-बसत ।
श्री राधा रानी सहचरी गोपी, सुख पुजनि बरषत ।।
नागर मनमोहन रससागर, अर्थ अपार अनंत ।
व्यास स्वामिनि भोग भोगवत, नव जोबन मदमंत ।।[13]

राग, सारंग व धनाश्री मे रचा गया यह पद भक्त की भगवत-महिमा को प्रकट करता है । इस भगवत महिमा के साथ ही भाव-बिह्वल कवि अपने भगवान को सर्वोपरि मानता है । वही परमतत्व है, सभी अन्य भगवान कहे जाने वाले देव-गण उसी मे तिरोहित हो जाते हैं । सम्पूर्ण पद मे भगवत महत्ता के भाव की रागात्मक अन्विति बनी रहती है । इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने परमात्म स्वरूप का वर्णन करते हुये सुंदर भाव युक्त गीति पद की रचना की है

जयति सच्चिद् व्यापकानन्द यद ब्रह्म विग्रहा व्यक्त लीलावती,
विकल-ब्रह्मादि-सुरसिद्ध-संकोचबस-विमल-गुन-गेह नर देहधारी,
जयति कोसलाधीश-कल्यान, कोसल सुता-कुसल, कैवल्य फल-चारुचारी,
वेद बोधित-कर्म-धर्म-धरनी-धेनु-विप्र-सेवक-साधु-मोदकारी,

× × ×

जयति सौमित्रि-सीता-सचिव-सहित चले पुष्पकारूढ निज राजधानी।
दास तुलसी मुदित अवधवासी सकल, राम भये भूप, वैदेहि रानी ।।[14]

राग केदार मे रचित इस पद की भाषा संस्कृतगर्भित होने के साथ-साथ सामासिकता से परिपूर्ण है, अत अत्यधिक सरलता से जन-सामान्य के लिये बोधगम्य नही हो सकती। अत भाव सम्प्रेषण की क्षमता पद में अत्यल्प है। किन्तु कुशल कवि ने संगीत की दृष्टि से लय एवं स्वरो का उतार-चढ़ाव ध्रुवपदो के अनुकूल रचा है। शब्दो की अनुगूंज ही मनोरजनकारी है। भक्ति की रागात्मकता के बिना गीति-पद रचना सम्भव ही नही है अत भक्त्यात्मक भावानुभूति तो गीति-पदो में प्राप्त होती है। इस पद में कवि केवल भगवान की महत्ता वर्णन करते हुये अनेक तथ्य एक के बाद एक प्रस्तुत करता जाता है। भगवान की महत्ता, उसकी सर्वव्यापकता, उसकी सत्-चिद्-आनन्द की सगुणता, उसकी निर्गुण एव सगुण रूपात्मकता, उसका कल्याण-कारी गुण आदि सब का वर्णन वह भक्तिभाव से विह्वल होकर ही करता हैं। इस प्रकार के भगवत् महत्ता की वर्णनात्मकता से परिपूर्ण पदो[15] मे कवि का दृष्टिकोण भाव को उपस्थित करना नहीं है, अथवा भगवान की अनुभूतिगत अभिव्यक्ति वह नहीं करता वरन वह उसकी महिमा के प्रति सचेष्ट हो उसकी ही अभिव्यक्ति करता है अर्थात महिमा वर्णन की सज्ञानता एवं सचेष्टता उसके मानस के साथ सदैव जुड़ी रहती है। केवल अन्तिम पक्ति मे कवि की आत्माभिव्यक्ति झलकती है। किन्तु इन पदो मे कवि का वर्णन मोह अधिक बढ गया है। इस वर्णन मोह के कारण ही गीति की अनुभूति बिखर गई है। केवल भाव का सहारा लेकर कवि अपने मोह की तुष्टि करता है। सूर के पदों मे भी यह वर्णन मोह वहाँ पाया जाता है जहाँ वे कथा-प्रसगो को अनुभूति का माध्यम बनाकर प्रस्तुत करते है। ये कथा-प्रसंग लम्बे-लम्बे वर्णन प्रधान पदो मे गाये गये है। कीर्तन परम्परा मे इस प्रकार के पदो का प्रचलन पहले रहा होगा। उसी अनुरूप समूहगान के लिये कही कथा प्रसगो का वर्णन है तो कही भगवान के नाम महिमा की। सूरसागर मे ऐसे प्रसग ब्रह्मा द्वारा बाल-वत्स-हरण, कालिय-दमन-लीला, गोवर्धन लीला, रासलीला का दृश्य विस्तार कृष्ण का अन्नप्राशनादि सस्कार तथा कृष्ण की लीला का वर्णन आदि है। इस प्रकार की वर्णनात्मक कविता मे अनुभूति को स्थान नही मिल सका है। कवि अपने वर्णन-कौशल द्वारा वर्ण्य-विषय का संगीतमय उल्लेख करता है। भक्त कवि की काव्य-प्रतिभा भावुकता बहुज्ञता [illegible] तथा संक्षिप्तता का पूर्ण अभाव है

इतिवृत्ति का आश्रय लेने के कारण भाव अन्विति आदि से अन्त तक पूर्णतया बनी नही रहती। सूरदास जैसे उच्चकोटि के भक्त संगीतज्ञ एवं गीतिकार की गीति-रचना मे इस प्रकार के शिथिल प्रसंगो के कारण अनेक विद्वान इसे प्रक्षिप्त मानते है। इस प्रकार इस वर्णनात्मक शैली में वर्णित इस प्रकार के गीति पदो मे न तो रूप कल्पना का योग है और न रागात्मकता का। एक पद दृष्टान्त के लिए प्रस्तुत है—

नरहरि, नरहरि, सुमिरन करौ। नरहरि-पद नित हिरदय धरौ।।
नरहरि-रूप धर्यो जिहिं भाइ। कहौं सो कथा, सुनो चितलाइ।।

× × ×

तब नरहरि भए अंतर्धान। राजा सौं सुक कह्यो बखान।।
जो यह लीला सुनै-सुनावै। सूरदास हरि भक्ति से पावै।।[16]

राग विलावल में रचित यह पद अत्यधिक लम्बा पद है। पूरे पद मे प्रह्लाद की कथा का वर्णन करके भक्त के ऊपर परमात्मा की कृपा का वर्णन किया गया है। अनुभूति का अंश मात्र दृष्टिगत होता है। हाँ! यह अवश्य है कि भक्त भगवत् कृपा पर मुग्ध होकर गान करता रहता है। कथा-प्रवाह एवं पद की गीतिमयता मे कही भी कुशल कवि ने अवरोध नही उत्पन्न होने दिया है किन्तु कथा के आग्रह से एक ओर जहाँ बौद्धिकता की संचेष्टता उपलब्ध होती है वही संक्षिप्तता का अभाव होने के कारण रागात्मक एकता की अन्विति नही उपलब्ध होती।

भक्तिकाल के कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि सभी भक्तो ने विचार को अनुभूति मे ढालकर अभिव्यक्त किया है। सूर की गोपियाँ विचार को अनुभूति का माध्यम बनाकर अभिव्यक्त करने में अत्यन्त कुशल है। सूर के भ्रमरगीत मे वर्णित गीति-पदो मे गोपियों के कथन को दृष्टि मे रखकर यदि नन्ददास की गोपियों की उक्ति से तुलना की जाय तो बात एकदम स्पष्ट हो जायेगी। सूर की गोपियो मे स्वाभाविकता है, नन्ददास की गोपियों का पाण्डित्य नही, वे नन्ददास की गोपियो की भाँति तर्क और बुद्धि के कारण सगुण-निर्गुण की विवेचना नहीं करती, गुणो के उद्गम-विकास पर पाण्डित्य नही बघारतीं, सहज स्वाभाविक रूप में मनोवृत्ति और मनोदशा का निवेदन करती है किन्तु ऐसा भी नही कि वे गांव की रहने वाली ग्वालिन मात्र हैं, वे अहीरन की छोहरियाँ मात्र भी नही, बुद्धि और तर्क से अपरिचित भी नही फिर भी बुद्धि को वे हार्दिकता से ऊपर नही जाने देती। यह गोपियो की अबुद्धिवादिता नही, बल्कि एकातिकता सिद्ध करती हैं।

विचारात्मक पद सूरदास के विनय के पदो मे बहुतायत से मिलते है। विनय के एक पद में सूर ने सम्पूर्ण सृष्टि को आरती के रूप में प्रस्तुत करते हुये
के से अपनी अनुभूति को के साथ अभिव्यक्त किया है

हरि जू की आरती बनी ।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परतिन गिरा गनी ।
कच्छप आध आसन अनूप अति, डाँडी सहस फनी ।।
मही सराव, सप्तसागर घृत, बाती सैल घनी ।
रवि-ससि-ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी ।
उडत फुल उडगन-नभ अन्तर, अंजन घटा घनी ।।
नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर-नर-असुर–अनी ।
काल-कर्म-गुन-ओर-अन्त नहिं, प्रभु इच्छा रचनी ।।
यह प्रताप दीपक सुनिरन्तर, लोक सकल भजनी ।
सूरदास सब प्रकार ध्यान मे, अति विचित्र सजनी ।।[17]

"अद्‌भुत" की अनुभूति यहाँ विराट के प्रति पूजा-भाव में व्यक्त हुई है । यह विराटता ब्रह्मांडव्यापी ही नही उससे भी अतीत है, परात्पर है । इसलिये यह समस्त ब्रह्माड उस परात्पर की विराट आरती बनकर उसके सम्मुख अपनी अभ्यर्थना ज्ञापित करता है । पूज्यबुद्धि, महान के प्रति लघु का निवेदन इस गीति का केन्द्रीय भाव है, किन्तु विचार की क्षीण आकार के साथ । यह विचार रूपक के अवयवो मे इस प्रकार गुँथा है जैसे मोती में सूत्र । "विचित्रता" की अनुभूति इस सूत्र के माध्यम से मोतियो को गूँथती चलती है, और एक क्रमान्विति मे सृष्टि नीचे से ऊपर 'कच्छप अधआसन·········अंजन घटापनी' उठती हुई आरती की सम्पूर्णता सहेजती हुई परमसत्ता को आत्मदान करती है । अन्विति के हिसाब से पद यही समाप्त हो जाना चाहिये था । किन्तु यह ब्रह्माण्ड का रूपक है, उसकी वस्तु सत्ताओ के अतिरिक्त लोक लोकान्तर के प्राणियो का भी समावेश आवश्यक है । इसलिये "लोक सकल सजनी" मे सारे लोक-लोकान्तर का भजन-भाव आरती के साथ मूक आराधन (या गायन) को सश्लिष्ट करके भावमयता को चूडा पर पहुँचा देता है और कवि की आत्माभिव्यक्ति "अति विचित्र सजनी" के आश्चर्य भाव मे अत्यन्त सक्षिप्त रूप से व्यक्त होकर सम्पूर्ण गीति को "ध्यान मे" (सब प्रकट ध्यान मे) उठा देती है । यह "ध्यान" की परिणति "विचार" नही कही जा सकती । सम्पूर्ण रूपकात्मक तत्वो की आतरिक अनुभूति है यह । इसलिये इसमें एक अत्यन्त विशेष प्रकार का गीति-भाव है और अलग गीति-शैली है ।

कवि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आरती के दीपक के रूप मे देखता है । हरि की यह आरती काल, कर्म तथा त्रिगुण से बाधित नहीं होती और देवता-ऋषि-मुनि इसमे निरन्तर भाग लेते रहते है । पाताल मे सबसे नीचे कच्छप ही इसका दीपाधार है और शेषनाग डाँडी । सप्त समुद्रो के रूप मे घृत इसके धरती रूपी पात्र मे भरा हुआ है जिसमें पर्वत वर्तिका के रूप मे पडे हुये है । इसका आलोक चन्द्र-सूर्य के रूप में प्रकट होता है और कालिमा घटाओं के रूप में तारे ही पुष्प हैं अन्तिम पंक्ति

मे भक्त कवि सूर आत्म प्रक्षेप करते हुये कहते है कि यह संरचना प्रभु की इच्छा का परिणाम है और इसका भेद ध्यानस्थ होने पर ही भक्त के समक्ष खुलता है। इस पद में गीति-पद की सभी विशेषतायें उपलब्ध होती है किन्तु अनुभूति गौण है, विचार प्रमुख है। अनुभूति की गौणता को शब्द और स्वर संगीत ने अपने में डुबाकर सुन्दर गीति-रचना प्रस्तुत कर दिया है। इसी भाव के अनुकूल तुलसी दास के एक गीति-पद का विवेचन इस वर्गीकरण के अन्तर्गत आवश्यक है—

केसव कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र, हरि समुझि मनहिं मन रहिये ॥
सुन्य भीति पर चित्र रग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न, भरइ भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे ॥
रविकर-नीर बसे अति दारुन मकर रूप तेहि नाही।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करत जल जाही ॥
काउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥[18]

कुशल गीतिकार तुलसी केशव की विचित्र रचना को देखकर हतप्रभ हो जाते है। मुँह से बोल नही फूटते है। कैसे कह भी सकते है क्योंकि सृष्टि रूपी चित्र निराकार ब्रह्म रूपी चित्रकार ने शुन्य की, माया की दीवाल पर बिना रग के, बिना गुण के, बना डाला है। यह चित्र अजर-अमर है। सम्पूर्ण पद मे विचार की प्रधानता है किन्तु यह विचारात्मकता कही भी थोपी हुई नहीं प्रतीत होती। विचार को अनुभूतिगम्य, जो चमत्कारयुक्त है, बनाकर प्रस्तुत किया गया है। पद का आद्योपान्त पठन अथवा श्रवण से चमत्कार का उद्बोधन होता है। संगीत की प्रवाहात्मकता एवं विचार तथा अनुभूति के सामंजस्य के कारण यह पद तुलसी के उत्कृष्ट गीति पदो में है। संगीतमयता के कारण पद की चमत्कारिक क्लिष्टता समाप्त हो जाती है। गहन-गम्भीर भक्ति की रागात्मकता संगीत की नादात्मकता के साथ प्रस्फुटित होने लगती है। शब्द-संगीत स्वयं भी रागात्मकता की वृद्धि मे सहायक हुये है। शून्य भीति, बदनहीन, चराचर आदि भक्ति समाज मे प्रचलित शब्दो का प्रयोग करके पद की बोधगम्यता मे वृद्धि करने का प्रयास, कवि द्वारा किया गया है। "चितेरे" शब्द की मार्मिक व्यंजना से तो तुलसी के रागात्मक विचार पक्ष का मार्मिक सकेत मिलता है। तुलसी ने इस पद मे दार्शनिक विचार को माधुर्य का आवरण देकर चित्रित किया है। तुलसीदास के इस पद का दर्शन युक्त अनुभूति एवं अभिव्यंजना के विषय मे डा० उदयभान सिंह का विचार देना पर्याप्त होगा—"तुलसी कवि है दार्शनिक नही है, कवि दार्शनिक भी नही है, वे भक्तिमान् दार्शनिक कवि है। उन्होने आध्यात्मिक अनुभूति को रसात्मक वाङ्मय के माध्यम से प्रस्तुत किया है। जीवन के मूलभूत प्रश्नो पर गम्भीरता से विचार करके सत्य का साक्षात्कार किया है उसकी सुन्दर रूप में अ[illegible] की है और उसे [illegible] सजीवनी से अनुप्राणित किया

है।"[19] अतः इस भावप्रवण विचारात्मक गीति-पद को गीति-काव्य का सुन्दर उदाहरण माना गया है। साथ ही सूर और तुलसी के गीति-पदों को संक्षित कर यह सहजता से कहा जा सकता है कि सूर की अपेक्षा तुलसी के गीति-पदों मे बौद्धिकता का आग्रह अधिक है।

भाव, विचार और अनुभूति का सामंजस्य उन पदो मे अत्यधिक उत्तमता के साथ हुआ है जिनकी रचना का आधार लोकगीत है। "जिस प्रकार लोक-गाथाओ एव कथानको का साहित्यिक रूप प्रबन्ध काव्यो एव रूपको में प्रकट हुआ उसी प्रकार व्यक्तिगत हर्ष-शोक, आशा, निराशा, राग-द्वेष, आवेश-भावुकता मे परिपूर्ण लोक-गीतो का साहित्यिक रूप गीति-काव्यो या प्रगीत मुक्तको मे। लोकगीत ही इन साहित्यिक गीतों और गीतियों के अविकसित रूप है। इन लोक-गीतों ने इस प्रकार जहाँ महाकाव्यो मे वैयक्तिकता एवं अन्तर्दर्शन का आवेश दिया वहाँ स्वतन्त्र गीति-काव्यो की रचना को उन्मेष भी।" इस प्रकार लोकगीत ही साहित्यिक गीतो के शुद्ध, सहज और मूल रूप है। लोकगीतो के आधार पर रचे गीतात्मक पदो मे अलकरण कम और सहजता तथा स्वाभाविक उन्माद अधिक प्राप्त होता है। साहित्यिक शब्दों के साथ भाषा का गंठजोड़ करके भावानुकूल अभिव्यक्ति पाकर गीति-पद उत्कृष्ट हो जाता है। सन्तों के लोक गीतात्मक पदो में व्यक्तिगत उच्छवास उन्माद-रहित नैसर्गिक मिठास के साथ अभिव्यक्त हुये हैं। लोकगीतो की लय लम्बी होती है, "टेक" की पुनरुक्ति तथा राग के स्थान पर "धुन" ही इनकी विशेषता है। कबीर के एक पद में इन सभी विशेषताओं को देखा जा सकता है—

तोरी गठरी में लागे चोर, बटोहिया कारे सोवै ॥टेक॥
पाँच पचीस तीन है चुरवा, यह सब कीन्हा सोर
बटोहिया कारे सोवै।
जागु सवेरा बार अनेडा, फिर नहिं लागै जोर—
बटोहिया कारे सोवै।
भवसागर एक नदी बहतु है, बिन उतरै जाव बोर—
बटोहिया कारे सोवै।
कहै कबीर सुनो भइ साधो, जागत कीजै भोर—
बटोहिया कारे सोवै।[20]

विचार और भावात्मक अनुभूति का सामंजस्य ही नही, उत्तम संश्लेषण इस लोक गीतात्मक पद में दर्शनीय है। एक ओर जहाँ गठरी, बटोहिया, चुरवा, अनेडा आदि ग्रामीण अचल के शब्दों का प्रयोग अपने मूल रूप मे हुआ है वही सोर, जोर, बोर, भोर की तुक से गत्यात्मकता की अत्यधिक वृद्धि हुई है। टेक की पुनरुक्ति से लय कुछ लम्बी हो गई है पर रागात्मकता बढ गई है। कबीर के गीति पदो की संगीतात्मक विशेषता को देखकर ही दीनदयाल गुप्त कहते हैं सन्त कवि कबीर तथा उनके अनुयायी अपने सिद्धान्तो को काव्यबद्ध कर सगीत से माध्यम से जनता तक पहुचाते

थे। सन्त काव्य के कवि, मुख्यतया कबीर ने तो शास्त्रीय संगीत का विधिवत अध्ययन किया था।"[21]

लोकगीतो मे तुकवन्दियों का विशेष महत्व है। प्रश्नोत्तर के रूप मे अपनी बातो को कहते हुये कवि गीत गाता है। धरमदास का एक पद इस विशेषता से युक्त है—

कहवाँ से जिव आइल, कहवाँ समाइल हो।
कहवाँ कइल मुकाम, कहाँ लपटाइल हो॥
निरगुन से जिव आइल, सगुन समाइल हो।
काया गढ कइल मुकाम, माया लपटाइल हो॥
एक बुन्द से काया महल, उठावल हो।
बुद परे गलि जाय, पाछे पछितावल हो॥
हस कहै भाई सरवर, हम उडि जाइब हो।
मोर तोर इतन दिदार, बहुरि नहि पाइब हो॥[22]

संगीत के लय को लम्बा खीचकर इस पद मे गाया जा सकता है। "हो", "रे" आदि शब्दो के तुक के कारण लय स्वाभाविक रूप मे लम्बी हो जाती है तथा रागात्मकता की भी वृद्धि हो जाती है। तुक के कारण हर पंक्ति के बाद समान लयात्मक ध्वनि व्यंजित होती है। वैचारिकता का समावेश इस पद मे होने पर भी, गीतात्मक व्यजना से यह पद पुष्ट है। लोकगीत शैली के आधार पर विचारो की अभिव्यक्ति इस पद में दर्शनीय है।

हृदय की स्वच्छ भावाभिव्यक्ति लोकगीतो मे ही उपलब्ध होती है। बिना किसी डर के, बिना किसी लाग-लपेट के सीधे-सादे सहज बोल के शब्दो मे अपने हृदय को व्यक्त करने लगता है। ऐसी वाणी का प्रभाव किस पर नही पड़ता? परमेश्वर से प्रत्येक सासारिक को डरना चाहिये। वह प्रत्येक स्थल पर है, सब कुछ देखता सुनता है, सब पर उसकी दृष्टि है। अत: सच्चरित्रता का पालन करना चाहिये तथा निर्मल स्वभाव को सदैव व्यक्त करना चाहिये। अन्त मे तो तुझे अकेले ही आकर कर्मों का लेखा-जोखा देना है—

डरिये रे डरिये, परमेसुर थै डरिये रे।
लेखा लेवै भरि-भरि देवै, ता थै बुरा न करिये रे॥
साचा लीजी साचा दीजी, साचा सौदा कीजी रे।
साचा राखी झूठा नाखी, विष ना पीजी रे॥
निर्मल गहिये निर्मल रहिये, निर्मल कहिये रे।
निर्मल लीजी, निर्मल दीजी, अनत न बहिये रे॥
साह पठाया बनिज न आया, जिनि डहकावै रे।
झूठ न भावै फेरि पठावै, कीया पीवै रे॥
पच दुहेला जाइ अकेला, भार न लीजी रे॥
दादू मेला होइ सुहेला सो कछु कीजी रे[23]

सन्त कवि दादू का यह पद उपदेशात्मक है किन्तु जन साधारण को उपदेश कवि ने उसी की काव्य-शैली अर्थात लोकशैली में देकर कथ्य को और अधिक मार्मिक तथा प्रभावशाली बना दिया है। रागात्मिका वृत्ति से विचार सम्प्रेषण का सफल प्रयास इस गीतात्मक पद से सम्भव हो सका है। संगीत की सहजता स्वाभाविकता एवं तरलता से गीत की संवेदना मे वृद्धि हुई है। इस शैली के गीति पदों मे मिठास अधिक है। यद्यपि मूल भाव आदि मे अंत तक चलता है किन्तु उसकी क्रमिक सघनता नहीं बताई जाती, इसलिये भाव का चरम क्षण अत मे नही आता। किन्तु वह केन्द्रीय भाव सहजदोल के साथ पूरे गीति मे झूलता हुआ अत में कवि की उक्ति के साराश रूप में निचोड दिया जाता है। भाव को तीव्रतर विकसित करते जाने के लिये उससे सम्बद्ध विचारों को समेटने की प्रक्रिया अपनाई जाती है और अन्त मे उपदेश के रूप में भाव और विचार एक कर दिये जाते हैं।

1—कबीर ग्रन्थावली, सम्पा० पारसनाथ तिवारी, पद-8.
2—सूरसागर, सभा, पद-2
3—कबीर ग्रन्थावली, सभा, पद-49
4—चिन्तामणि, भाग-1, रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-151
5—कबीर ग्रन्थावली, सभा, पद-44.
6—सूरसागर, सभा, पद-86, पृ० 28
7—सन्तबानी संग्रह, भाग-2, पद-3, पृ० 4
8—वही, भाग-2, पृ० 28.
9—वही, भाग-2, पृ० 44
10—सूरसागर, सभा, पद-153
11—वाग्गेकार उन कवियों को कहते है जिनमे वाक् और गेयत्व की सम्मिलित प्रतिभा होती है।
12—सूरसागर, सभा, पद-42.
13—भक्त कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, पद-73, पृ० 210
14—विनय पत्रिका, पद-43
15—वही, पद-53, 55, 56, 93, 100 आदि।
16—सूरसागर, सभा, पद-421, पृ० 166.
17—वही, सभा, पद-37.
18—विनय पत्रिका, पद-111.
19—तुलसी काव्य मीमासा, पृ० 323.
20—सन्त बानी संग्रह, पद-5, पृ० 4
21—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दीनदयाल गुप्त, भाग-2, पृ०-62 से 65
22—सन्त बानी संग्रह, भाग-2, पृ०-83.
23—वही, भाग-2, पृ०-83.

षष्ठ अध्याय

लीला-पदों की गीतिमयता
वात्सल्य, सख्य और माधुर्य

राम एव कृष्ण मार्गी भक्तों ने भगवत्-लीला के माध्यम से अपने हृदयोद्गारो की भावाभिव्यक्ति की है। यहाँ "लीला" शब्द का प्रयोग अवतार के मानवीय आचरण के व्यापक अर्थ मे उद्देशित है। यूँ तो कृष्ण का वृन्दावन चरित लीला अथ मे रूढ कर दिया गया है। राम का सपूर्ण जीवन या क्रियाकलाप चरित शब्द से अभिहित किया जाने लगा है किंतु लोकमानस में मध्यकाल तक ऐसा कोई दार्शनिक या शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द रूढ हो चुका होगा, यह संदिग्ध है। क्योंकि अभी भी दशहरे के अवसर पर जनसमाज "रामलीला" का आयोजन करता है। इसलिये मैंने गीतिमयता के सन्दर्भ मात्र मे लीला शब्द को अधिक व्यापक और लचीला बना लिया है। मध्यकाल मे सम्भवत ललित चरित को लीला की संज्ञा दी गई और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम गीति समझा गया इसीलिए तुलसीदास ने राम और कृष्ण दोनो के पौरुषयुक्त चरित का अत्यल्प वर्णन करके लालित्ययुक्त चरित पक्ष पर विशेष दृष्टि दिया। क्योंकि गीतावली मे राम के लालित्य वर्णन की अभिव्यंजना ही भक्त कवि का मुख्य अभिप्रेत है। इसलिये मैंने लीला शब्द को अवतार के ललित नरकलाप (मानवी कलाप) के अर्थ मे लेने की छूट ली है।

अत भगवान राम और कृष्ण की चरित और लीला में जिस भक्त को भगवान की जो लीला अत्यधिक प्रभावित कर सकी उसी का उससे अपनी हृदयानुभूति के अनुसार गीतिमय वर्णन किया है। भगवत लीला सम्बन्धी अपनी हृदयानुभूति भक्तो ने किसी न किसी पात्र विशेष के व्याज मे की। अपनी अनुभूति को माता के हृदय-रूप मे या सखा अथवा सखी के रूप में ढालकर वर्णित किया। इस प्रकार के गीति पदो मे उसकी अभिव्यक्ति सीधे-सीधे न होकर माध्यम के आश्रय से अभिव्यक्त होती है। ऐसे गीति पदों मे भक्त कवि की मौलिक अभिव्यंजना अति सुन्दर बन पडी है।

गीतावली मे रामकथा का वर्णन गीति-पदो मे तुलसीदास ने किया है तथा श्रीकृष्ण गीतावली में कृष्ण-कथा का आश्रय लेकर गीति-शैली पर पदों की रचना की। सूरदास ने भागवत की कथा के आधार पर जहाँ लम्बे-लम्बे वर्णनात्मक-पदो की रचना की वही अपनी रुचि एवं मनोभावो के अनुकूल वात्सल्य, सख्य एव माधुर्य भावजन्य गीति-पदो की रचना की। सूर के सूरसागर के नवम् स्कन्ध मे राम अवतार सम्बन्धी बहुत अच्छे गीति-पद मिलते हैं। राम कथा के भावात्मक स्थलो अथवा जहाँ कवि की निजी अनुभूति उस कथा के साथ घनी-भूत हो गई है वहाँ जो तन्मय अभिव्यक्ति हुई है वह कृष्ण लीला-पदो से थोडा ही

कम प्रभावशाली सिद्ध होगी। इसका कारण कवि की निजी भाव-रुचिमयता है। इसका अवकाश लीला पुरुषोत्तम मे अधिक है, मर्यादा पुरुषोत्तम मे कम। किन्तु फिर भी सूर ने मर्यादा पुरुषोत्तम के सन्दर्भ मे भी ऐसा अवकाश ढूंढ लिया है—चाहे उसे लीला के नाम से अभिहित किया हो अथवा न किया हो। महत्व अनुभूति और अभिव्यक्ति का गीति स्तर का है। उनकी भक्ति दोनों ही अवतारों में विगलित हुई है। इसलिये कृष्णकथा में कथा-पूर्ति के लिए लिखे गये भागवत सन्दर्भ भी वर्णनात्मक एवं गीतिहीन हैं तथा नवम स्कन्ध मे रामकथा का वर्णन कम है—गीतिमयता अधिक। तुलसी अथवा सूर भगवान के लीला विषयक गीतिपदो की रचना के समय भी अपनी विशेष मान्यतायुक्त मानसिकता से भी ओत-प्रोत रहते है। अत अपनी-अपनी मानसिकता की रुझान की भावानुकूलता के अनुसार गीति पदो की रचना भक्तो ने की।

तुलसी के विनय-पत्रिका मे तथा सूर के विनय के पदो में मुख्यत हृदय की दैन्यावस्था का आत्मनिवेदन लक्षित होता है। हृदय की अन्य भावनाओ के वर्णन मे प्रसंगानुसार कभी माता, कभी सखा और कभी सखी अथवा नायिका के व्याज से संयोग-वियोग, हास-परिहास, वात्सल्य - भ्रातृत्व, सख्यत्व और मातृत्व आदि हृदयगत-वासनाओं की भावाभिव्यक्ति की। इस प्रकार के गीति पदों के विवेचन मे दो तथ्य विशेष रूप से दृष्टि में रखे गये हैं। प्रथम तो यह कि कवि ने अपनी भावाभिव्यक्ति मे अपनी मानसिकता की प्रधानता रखते हुये, अत्यल्प कथाश्रय लेकर अपनी निजी "मौलिक" अभिव्यक्ति की है। ऐसे पदो मे कवि के निजी व्यक्तित्व की झलक गीति-पद के भावानुरूप ही रहती हुई स्पष्ट झलकती है। निजी व्यक्तित्व की झलक अर्थात् आत्माभिव्यक्ति ऐसे गीति पदो का प्राणतत्व है। भक्त कवि ने कहीं भी अपनी मानसिक अवस्था की प्रधानता के अनुसार वर्णन किया है वहाँ उसे कथा योजना का ध्यान उतना नही है जितना उससे उत्पन्न मानसिक विकारो का। यही कारण है कि कथा के सूत्र बने रहते हुये भी राम और कृष्ण भक्तो को जहाँ भी अवसर मिला है, वे अपने मानसिक भावो को पूर्ण रागात्मक आवेश के साथ व्यक्त करते है। अत कवि विशेष भाव दशा मे किसी पात्र के व्याज से अपनी आत्माभिव्यक्ति करता है।

द्वितीय तथ्य गीति की कलात्मकता से सम्बन्धित है। भक्तिकालीन गीति-पदो की मुख्य विशेषता यह रही है कि प्रथम टेक की पंक्ति में जो भाव भक्त कवि के हृदय मे अंकुरित होता है वही आगे की पंक्तियों में विस्तृति एवं पल्लवित होता है तथा गीति पद की अन्तिम दो पक्तियो मे कही न कही वह आत्माभिव्यक्ति के रूप मे अपनी चाप छोडता है। यद्यपि यह तथ्य तत्व विवेचन के अध्याय में अलग-अलग विवेचित कर चुका हूँ तथापि वर्गीकरण के विवेचन मे इसकी सहायता लेते हुये भक्त कवि द्वारा अभिव्यक्त "भाव" पर विशेष आलोच्य दृष्टि रखते हुये अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने की कोशिश की है। इसी हेतु वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्य की भक्ति सम्बन्धी तथा सम्प्रदाय सम्बन्धी मान्यताओ को स्पष्ट करने के उपरान्त भक्तो द्वारा वर्णित इस भाव विशेष के गीति पदा का सम्यक विवेचन किया गया है

(क) वात्सल्य भाव के गीति-पद

गीति-साहित्य में वात्सल्य भाव के पद राम-भक्ति साहित्य तथा कृष्ण-भक्ति, मुख्य रूप से बल्लभ सम्प्रदाय अप्टछाप के कवियो के साहित्य मे उपलब्ध होते है। पुत्र के प्रति स्नेह को वात्सल्य भाव कहा जाता है। चूँकि बल्लभ सम्प्रदाय में बाल कृष्ण ही इष्टदेव थे इसीलिये उस सम्प्रदाय के कवियो मे वात्सल्य भाव विशेष पुष्ट हुआ है। अत आलोचना का मुख्याधार अष्ट छाप कवियो की रचनाओं को बनाया गया है।

वात्सल्य भाव की भक्ति सर्वाधिक निष्काम भाव की होती है। सासारिक विषय-वासनाओ से शीघ्र निवृत्त हेतु वात्सल्य प्रीति का विकास किया गया। बालक की प्रत्येक चेष्टा पर माता-पिता का मन अवश्य रीझता है और वे अपने कष्टो को भूलकर बालक की परिचर्या मे अपने मन को रमाते है। अपने वत्स के विछोह मे भी उनका हृदय कितना पीडित होता है इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। शृंगारजन्य रति की भाँति ही वात्सल्य-जन्य स्नेह एक व्यापक भाव है। अन्तर केवल अनुभूति के प्रकार का है। मर्मस्पर्शिता दोनों मे अत्यधिक है। पुत्र का भोला-भाला, निष्कपट और स्निग्ध पवित्र स्वरूप एक ओर जहाँ उसके सन्निकट रहने पर माता-पिता के हृदय मे उल्लास, प्रसन्नता और सुख-सन्तोष की अनुभूति कराता है वही बालक के दूर रहने पर अनेको शकाओ एवं पीडा को जन्म देता है। वात्सल्य भाव की अनुभूति जिस सुचिता और प्रबलता के साथ मातृ हृदय करता है वह पुरुष हृदय प्राय नही कर सकता। मातृ हृदय की यह संकुलता और तीव्रता गीति का उद्रेक करने मे पूर्ण समर्थ है।

रस की दृष्टि से इतिहास पृष्ठो का अवलोकन करने से सर्वप्रथम संस्कृता-चार्यो मे भोजराज ने वात्सल्य को रस में स्थान दिया। इसके पूर्व वात्सल्य को भाव कोटि के अन्तर्गत संस्कृताचार्यो ने माना। संभवत संस्कृत साहित्य मे बाललीला का सहज, सरल स्वाभाविक एवं हृदयग्राही चित्रण का अभाव होने के कारण साहित्या-चार्यों ने वात्सल्य का विवेचन भाव की कोटि में रखकर किया। भोजराज के पश्चात आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण मे वात्सल्य के रस-रूप मे उसके विभिन्न अवयवों का विवेचन किया।[1] वात्सल्य-भाव का प्रभावशाली एवं सर्वाङ्ग सम्पन्न चित्रण सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सूरदास की रचनाओ मे उपलब्ध होता है। सूरदास के काव्य मे बाल-क्रीडाओ का जो सजीव, हृदयग्राही एवं विविधता युक्त चित्रण हुआ है उसमें वात्सल्य-रस-सम्बन्धी विभाव, अनुभाव एवं सचारी भावो का सम्पूर्ण तत्व उपलब्ध होता है तथा वात्सल्य भाव के गीति-पदों में गीति के सभी तत्व आयास रहित प्राप्त हो जाते है। सूर के बाल-वर्णन से सवेदित होकर सम्भवत उनके समकालीन आचार्य रूप गोस्वामी ने "हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु" मे वात्सल्य

भाव की भक्ति को रस के रूप में विकसित किया है ।[2] सूरदास के वात्सल्य वर्णन के वैविध्य को लक्षित कर आचार्य प्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने कहा—"वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रो का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखो से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नही, इन दोनों का कोना-कोना झाँक आये ।[3] हरवंश लाल शर्मा भी सूर के वात्सल्य को लक्ष्य कर कहते है—"यशोदा में ही वात्सल्य की परिपक्वता है, जो भक्ति-रस की कोटि तक पहुँचा हैं ।"[4]

वल्लभाचार्य ने अपने भक्ति सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भक्त के मन में भक्ति-प्रेम के उत्कर्ष के लिये ईश्वर से बिछुडने का ज्ञान और उससे मिलन की उत्कट अभिलाषा का होना आवश्यक है। इस प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्तो का लक्ष्य होता है कि वे रति-प्रेम, सखा-प्रेम अथवा वात्सल्य प्रेम के वियोग-जन्य दुख का अनुभव करे ।[5] यही कारण है कि अष्टछाप के भक्त कवियों ने माधुर्य, सख्य एव वात्सल्य भाव की भक्ति मे संयोग-वियोग दोनो का अनुभव किया है।

अष्टछाप के कवियों की रचनाओ पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि सूरदास और परमानन्ददास के वात्सल्य भाव के पद अन्य कवियो की अपेक्षा भाव की दृष्टि से उत्कृष्ट है। "84 वैष्णव की वार्ता" से यह स्पष्ट होता है कि इन दोनो भक्तो ने बाललीला के पद अधिक सख्या में गाये है ।[6] नन्ददास और चतुर्भुज दास ने भी बाललीला के पदो की रचना की है किन्तु उनमे उत्कृष्ट भावात्मकता नही है। रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास ने भी गीतावली एवं कृष्ण गीतावली मे वात्सल्य भाव के पदो की रचना की है। अस्तु सूरदास परमानन्द दास तथा गोस्वामी तुलसीदास के वात्सल्यजन्य गीति पदो मे पाठको एवं श्रोताओं को मातृ हृदय की विविध संयोग-वियोगात्मक अनुभूतियो एवं रूपमाधुरी की सौन्दर्यानुभूति होती है।

सूरदास के वात्सल्य वर्णन के समक्ष विश्व के किसी भी साहित्य को नही रखा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि सूर ने पुरुष होते हुये भी माता का हृदय पाया था तो अत्युक्ति न होगी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'यशोदा के वात्सल्य मे वह सब कुछ है, जो माता शब्द को इतना महिमाशाली बनाये हुये है।' सूर के वात्सल्य पर आगे विचार करते हुये डा० द्विवेदी कहते है—'यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ हृदय का ऐसा स्वाभाविक सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। माता संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननी के प्रेम पल्लव हृदय को छूने मे समर्थ हुये है, वहाँ वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी छूने मे समर्थ हुये है'''[7] वस्तुत' लाला भगवानदीन के शब्दों में हम कह सकते है कि "अत बाल चरित्र ही इनकी कविता की आत्मा है।"[8]

सूरदास के बालकृष्ण के वर्णन मे कृष्ण के प्रति पारिवारिक सम्बन्धो मे से अधिक ९ अथवा यशोदा नन्द तथा वयोवृद्ध व्यक्तियों की

अनुकम्पा "रति" में व्यक्ति हुई है। ब्रज की नारियो में भी कृष्ण के अकूल-सौन्दर्य से प्रभावित हो सहज मातृत्व का भाव उनके हृदय मे उत्पन्न होता है जो कृष्ण की बाललीलाओ और चपलताओ के माध्यम से बढ़ता हुआ पुष्ट होता है। ब्रजवासियो के हृदय में कृष्ण की बालक्रीडाओ से जहाँ वात्सल्य भाव पुष्ट होता है वही कृष्ण द्वारा कंस के भेजे हुये अनेक असुरो के वध के उपरान्त ब्रज नारियो एव वयोवृद्ध के हृदय मे संभ्रम और आतक का किंचित भाव आ जाता है और वात्सल्य की अखण्डता मे किंचित व्यतिक्रम पैदा कर देता है। यहाँ वात्सल्य मे दैन्य का प्रवेश हो जाता है। किन्तु कृष्ण की पुन सहज लीलाओ मे वह क्षण मात्र मे घुलकर समाप्त हो जाता है। कृष्ण के चरित्र के विविध रूप होने पर भी माता यशोदा के हृदय मे वात्सल्य की अखण्डता, गम्भीरता एवं अबाधता की निष्पत्ति हुई है जो उत्कृष्ट गीति की रागात्मकता मे सहायक हुई है।

अष्टछाप के कवियो मे सूरदास का वात्सल्य वर्णन अतुलनीय है। सूरदास ने रामचरित सम्बन्धी गीति पदो की भी रचना की है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के बाल कीडाओ के वर्णन मे भी वात्सल्य रस की विविध झलकियाँ लक्षित की जा सकती है—

करतल सोभित बान धुनुहियाँ।
खेलत फिरत कनक मय आँगन, पहिरे लाल पनहियाँ।
दसरथ कौसल्या के आगे लसत, सुमन की छहियाँ।
मानो चारि हस सरवर तैं, बैठे आइ सदेहियाँ।
रघुकुल कुमुद चन्द चिन्तामनि, प्रगटे भूतल महियाँ।
आये ओप देन रघुकुल कौ आनन्द निधि सब कहियाँ।
यह सुख तीनि लोक मे नाही, जा पाये प्रभु पहियाँ।
सूरदास हरि बोलि भक्त को निरबाहत गहि बहियाँ।[9]

उपर्युक्त पद में सूर आलम्बन राम एवं उनके भाइयों का धनुष-बाण लिये हुए क्रीड़ा का, सुन्दर चित्रात्मक वर्णन करते है। बालक राम की बालक्रीडा का भावात्मक चित्रण करते हुये कवि यहाँ तक कह देता है—"यह सुख तीन लोक मे नाहीं।" यही वात्सल्य भाव की चरम स्थिति है और गीति की भी। अन्तिम पंक्ति मे कवि आत्मप्रक्षेप (आत्माभिव्यक्ति) करता हुआ कहता है—"निरबाहत गहि बहियाँ" सूर के इस आत्मप्रक्षेप मे दास्य भाव की झलक स्पष्ट लक्षित होती है किन्तु यह दास्य भाव गीति पद मे वर्णित वात्सल्य भाव की पुष्टि ही करता है। वात्सल्य की अन्विति मे कही भी कमी नही आती। सूर के आराध्य श्रीकृष्ण है। राम के मर्यादित चरित से सूर ने बालकीडा के ही प्रसंगो को अधिक सरसता के साथ वर्णन किया है। धुनुहियाँ पनहियाँ छहियाँ आदि लाघवयुक्त शब्दो के द्वारा वात्सल्य का उच्छल भाव ध्वनि संगीत की तरगो पर बजता हुआ आता है यद्यपि इस पद में केवल

धनुष के खेल का उल्लेख और भक्त की पूज्य भावना का आलेख है, इसलिये वात्सल्य की विशेष उत्कटता लक्षित नहीं की जा सकती, तथापि सहज वात्सल्य-पुलक का भाव आदि से अन्त तक बना है। यह पुलक और आनन्द, कृतज्ञता का भाव सम्पूर्ण पद को गीतिमय बना देता है। अंत मे त्रिलोक में अप्राप्य इस आनन्द के अतिरेक मे भक्त अपने को न्योछावर करता हुआ आराध्य के प्रति समर्पित होता है।

राम वनगमन से राजा दशरथ को अत्यन्त दुख और पश्चाताप होता है।[10] राम के वियोग मे विलाप करते है। इस भाव के गीति-पदों मे वियोग वात्सल्य का चित्रण है। ऐसे पदो मे जहाँ संगीतात्मक प्रवाह एवं भावात्मकता है वहाँ पद की सम्प्रेषणीयता एव रागात्मक अनुभूति उपलब्ध होती है। भाव की अत्यन्त तीव्र व्यंजना के कारण ये पद अत्यन्त उच्च कोटि के गीतात्मक पद बन गये है। यथा—

रघुनाथ पियारे, आज रहौ हो।
चारि धाम विश्राम हमारा छिन-छिन मीठे वचन कहौ हो॥
वृथा होहु वर बदन हमारो, कैकेइ जीव कलेस सहौ।
आतुर ह्वै अब छांडि अवधपुर, प्रान छिवन कित बलन कहौ॥
विछुरत प्रान पयान करेंगे, रहो आजु पुनि पन्थ गहौ।
अब सूरज दिन दरसन दुरलभ, कलित कमल कर कण्ठ गहौ॥[1]

उपर्युक्त पद वियोग वात्सल्य के भाव को पुष्ट करता है। राम के पिता दशरथ पुत्र वियोग मे जीना ही नही चाहते। इसीलिये पुत्र के बिछुडते ही प्राण त्यागना चाहते हैं। वियोगजन्य भाव सम्पूर्ण मे धीरे-धीरे बढता हुआ अन्तिम दो पक्तियों में चरम स्थिति तक पहुंच जाता है। सम्पूर्ण पद में भाषा के ठेठपन के कारण भाव की व्यंजना अत्यन्त तीव्र होती है। पियारे, छिन-छिन, कलेस, विछुरत आदि शब्द इसी प्रकार के है।

सूर के आराध्य कृष्ण थे। अत सूर की तन्मयता एव आत्माभिव्यंजना कृष्ण चरित के गान मे अधिक रमी हैं। तुलसी के आराध्य राम थे। अत: तुलसी ने अपने आराध्य का चरित गायन एक ओर जहाँ रामचरितमानस जैसे प्रबन्ध-काव्य मे किया वहीं कवितावली एव गीतावली मे गीतों के द्वारा रामचरित का भावात्मक एवं गीतात्मक गायन किया। यही नही कृष्णचरित के आधार पर भी प्रतिभावान कवि ने कृष्ण गीतावली की रचना की। तुलसी की भक्ति दास्य भाव की है। किन्तु भगवत चरित के गायन मे उन्होंने वात्सल्य, सख्य एव माधुर्य भाव को भी अपनी धारणा एव अनुभूति के अनुसार समुचित स्थान दिया है। यही कारण है कि गीतावली और कृष्ण गीतावली मे वात्सल्य भाव के गीति पद उपलब्ध होते है जिसमें भक्त कवि तुलसी की भाव व्यजना के प्रसार को समुचित स्थान मिला।

यह पहले ही कह चुका हूँ कि भक्तिकालीन कवियों ने अपनी भावाभिव्यक्ति ... प्रकार से की है। कही स्वत अपने ही माध्यम से तो कहीं किसी पात्र के माध्यम से अपनी अनुभूतिमय ... या विशेष ... का चित्रण किया है जहाँ कई

चरित गायन कवि करता है अथवा कथा का आग्रह स्वीकार करता है वहाँ उसकी भावाभिव्यक्ति का माध्यम कोई पात्र रहता है। किन्तु व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति का अवसर वह निकाल ही लेता है—

छंगन-मंगन अगना खेलत चारु चार्‌यो भाई।
सानुज भरत लाल लखन राम लोने लोने,
लरिका लखि मुदित मातु समुदाई।
× × ×
सुमिरत श्री रघुबीर की लीला लरिकाई।
तुलसीदास अनुराग अवध आनन्द,
अनुभवत तब कोसो अजहुँ अघाई।[12]

गीति पद के अन्त मे कवि आत्माभिव्यक्ति करता हुआ कहता है—उन रघुकुल श्रेष्ठ बालको की बाललीलाओं का स्मरण कर तुलसीदास जी उस समय की भाँति अब भी अयोध्या मे अघाकर उस आनन्द के अनुराग का अनुभव कर रहे है। राग आसवारी मे रचित लोकगीत के अनुरूप इस गीति-पद मे कवि के व्यक्तिगत भाव अभिव्यक्त हुये है। माता कौशल्या मग्न होकर देव दुर्लभ सुख का अनुभव कर रही है—

ह्वै हौ लाल कबहिं बडे बलि भैया।
राम लखन भावते भरत रिपुदवन चारु चार्‌यो भैया॥
बाल-विभूषन-बसन मनोहर अगनित विरचि बनैहो।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाई वारने जैहों॥
× × ×
जा सुख की लालसा लटू सिव, सुक सनकादि उदासी।
तुलसी तेहि सुख सिन्धु कौसिला मगन, पै प्रेम-पियासी॥[13]

माता कौशल्या के माध्यम से भक्त कवि अपनी अनुभूति को गीतात्मक रूप देता है। माता की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं है। अपने पुत्र को देखकर जो सुख कौशल्या को मिल रहा है वह शिव, सुक, सनक आदि को भी अप्राप्य है। कुशल गीतिकार तुलसी चाहे सीधे-सीधे अपने माध्यम से अथवा किसी अन्य पात्र के माध्यम से भावाभिव्यक्ति करते है—वह उच्च कोटि की होती है। कृष्ण गीतावली मे तुलसी ने जीवन के विस्तृत क्षेत्र मे कुछ चित्र-चुनकर अनुभूति के बोधगम्य स्वरूप से परिमार्जित कर अंकित किया है। कृष्ण गोपियों के उलाहने से तंग आ गये है। बार-बार का ताना अच्छा नही लगता। ऐसे समय मे कृष्ण के मन पर पडने वाले भाव का कल्पनागत चित्र प्रस्तुत कर तुलसी ने उसे सवेदनात्मक बना दिया है—

अबहिं उरहनो दे गई बहुरौ फिरि आई।
सुन मैया तेरी सो याकी टेव लरन की सकुच बेंचि सी खाई

या ब्रज में लरिका घने, हौ ही अन्याई।
मुंह लाए मूडहि चढी अन्तहु अहिरिनि तू सूधी करि पाई॥
सुनि सुत की अति चातुरी जसुमति मुसुकाई।
तुलसीदास ग्वालिनी ठगी, आयो न उतर कछु कान्ह ठगौरी लाई।[14]

उपर्युक्त गीति पद में तुलसीदास लोकभाव की व्यंजना अत्यन्त कुशलता से करते है। प्रतिभावान विद्वान होने पर भी तुलसी के गीति-पद अनुभूति की अपेक्षा भाव की व्यंजना अधिक करते है। किन्तु भावाभिव्यक्ति कहीं भी बिखरी नही है वरन गीतिमयता के अनुरूप है।

सूरदास का कृष्णचरित सम्बन्धी बालवर्णन भागवत के कथाक्रम से सर्वथा मुक्त है। कथाक्रम से मुक्त होने के कारण ही इन गीति पदों मे व्यक्तित्व की झलक अधिक लक्षित होती है। कवि की ये मौलिक कृतियाँ गीतात्मक कविता के अनुकूल है। भक्त कवि द्वारा वर्णित कृष्ण की प्रत्येक क्रीडा केवल उपादान मात्र है। कवि का अभिप्राय केवल लीला की कथात्मकता का उल्लेख मात्र नही है। भक्त कवि पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार कथा की तरल भावाभिव्यक्ति करता है जो स्वतः गीतात्मक हो गई है। कवि की कल्पना एव वर्णन-कौशल पूर्णतया मौलिक है। पदो की संगीतात्मकता शास्त्रीय रागो मे पूर्णतया आबद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत के स्वरो के लय एव ताल के साथ कवि उद्गार स्वयमेव प्रकट होते चले गये है। कवि के प्रत्येक भाव के साथ पग से पग मिलाकर सगीत चलता है। जितनी ही तीव्र भावानुभूति है उतनी ही रसात्मक शब्दविधान है। भावानुभूति की तीव्रता का भान कवि के गीति पदो की सम्प्रेषणीयता से होता है और यह शास्त्रीय रागो के स्वर-ताल के द्वारा अत्यन्त शीघ्र एवं तीव्रता से सुलभ होती है। इस प्रकार के पदो मे कल्पनाशक्ति की विशेष सहायता ली गई है। कवि की अपूर्व कल्पनाशक्ति एक ओर जहाँ मौलिकता का सृजन करती है वही वह कथात्मकता के इतिवृत्त प्रभाव से मुक्त होकर अपने हृदय की भगवत भक्ति को हृदय के अनुरूप ढालने मे पूर्ण तत्पर होता है। ऐसे समय के गीतपद सर्वोत्कृष्ट हैं। सूरदास के प्रत्येक पद मे यह विशेषता दृष्टिगत होती है। विवेचन हेतु लिये गये गीति पदो मे उपर्युक्त विशेषताओ को परिलक्षित कर उनकी भावात्मक व्याख्या की गई है। माखन प्रसग का एक पद उल्लेखनीय है—

मैया मै नहि माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायौ॥
देखि तुही सीके पर माखन, ऊँचे धरि लटकायौ।
हौ जु कहत नान्हें कर अपने, मै कैसे करि पायौ॥
मुख दधि पोछि बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साटि मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कण्ठ लगायौ॥
बाल विनोद-मोद मन मोह्यो भक्ति प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति को यह सुख सिव बिरंच नहि पायौ[1]

उपर्युक्त गीति पद कवि की सुन्दर कल्पना का प्रतीक है। केवल माखन चोरी का आधार लेकर कवि ने अपनी भावात्मक कल्पना से बालक की प्रत्युत्पन्न बुद्धि का चमत्कार दिखाया है। बालक श्रीकृष्ण द्वारा माखन चोरी, उनका पकडा जाना, तथा माँ से वार्ता उपादान मात्र है। पद की प्रथम छः पंक्तियाँ साधन है जिनका साध्य अन्तिम दो पक्तियो मे प्रस्तुत किया गया है। कवि कहता है—"बाल विनोद मोदमन मोह्यो भक्ति प्रताप दिखायो।" सूरदास कृष्ण के बाल-विनोद पर निछावर है। उनका लक्ष्य तो इसी बाल-विनोद से प्राप्त निजी मोद को अभिव्यक्त करना था। भक्त कवि का भक्ति-पूर्ण-हृदय अपने प्रभु की लीला के प्रति इतना अनुगृहीत तथा प्रभावित है कि उससे प्राप्त निजी मोद अर्थात् आत्मानन्द के पीछे भक्ति-प्रताप ही लक्षित होता है। उसकी कल्पना रस-वेग से इतनी सिक्त है कि वे यशोदा से ईर्ष्या किये बिना नही रह सकते। उन्हे प्रतीत होता है कि शिव और विरंचि को भी यह सुख सुलभ नही है। शब्दावली अत्यन्त सरल एव सरस है फिर भी ध्वनि मे अपूर्व मधुरता है। घटना चित्रवत प्रत्यक्ष हो जाती है। इस प्रकार सम्प्रेषणीयता का गुण गीति पद में विद्यमान है। अभिव्यक्ति सरलतम होते हुये भी उक्ति वैचित्र्य की दृष्टि से अनुपम है। सगीतात्मकता के विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि संगीत कला से पूर्णतया अनभिज्ञ, अनपढ व्यक्ति एक ओर जहाँ इस पद को (स्वनिर्मित राग मे) गाते है वही सहगल और आकारनाथ ठाकुर जैसे महान सगीतज्ञ बडे ही कलात्मक ढग मे इस गीति पद को गाया करते है। राग का नाम तो प्रत्येक पद के ऊपर लिखा हुआ है यह पद राग रामकली के अनुरूप रचा गया है। सगीत का शास्त्रीय निधान सूर के सभी पदों में समुचित रूप से उपलब्ध होता है। यह सगीत भावो को तीव्रतर करने मे पूर्ण सहायक हुआ है। इसका कारण यह है कि कवि ने सगीत के लय, ताल या स्वर के अनुसार पद सृजन नही किया है वरन् सगीत स्वय उसके भावों का अनुगमन करता है। इसी प्रकार का एक अन्य पद चतुर्भुज स्वामी ने बडे ही सुन्दर शब्दयोजना के माध्यम से रचा है। बाल-कृष्ण कही तो माखन चुराते हुये पकडे जाते है तो साफ मुकर जाते है कि मैंने माखन नहीं खाया किन्तु कहीं-कहीं स्वयमेव कह उठते है कि मुझे तो माखन-मिश्री अच्छा लगता है—

मैया मोहे माखन मिश्री भावै।
मीठो दधि मधु घृत अपने कर क्यो नहि मोहि खवावै।
कनक दोहिनी देकर मोको गोदोहन क्यो न सिखावै।
ओट्यो दूध धेनु धौरी को भरि कटोरा क्यो न प्यावै।
अजहूँ ब्याह करत नहि मेरो होय निसक नीद क्यों आवै।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधरन की बतियाँ ले उछग पय पान करावै।

मातृपक्ष मे वात्सल्य को उकसाने मे बालकृष्ण का व्यक्तित्व अत्यन्त भाव-प्रधान हो गया है। बालक की अकपट शिकायतो के सिलसिले से रचा हुआ चतुर्भुज-दास का उपर्युक्त गीतिपद वात्सल्य की सहृदयानुभूति को जगाता है प्रथम पंक्ति मैया मोहे माखन मिश्री भावै मे दो टूक अपनी रुचि को विज्ञापित कर आगे की

पंक्तियो मे, कृष्ण, इसी से जुड़ी अपनी ओर भी इच्छाओ का सिलसिला पिरोते जाते है—मीठा दही, मधु, घृत। यह सारा पेय तभी मिलेगा जब गोदोहन किया जायगा। अत अपने भाव पर आरूढ बालक खुद गोदोहन सीखना चाहता है। उस गोदोहन से प्राप्त "धोरी धेनु" का औटाया हुआ दूध "भरि कटोरा" पीना चाहता है। और मूल बात से बहक कर अत्यन्त भोलेपन से वह कहता है कि उसका व्याह क्यो नही किया जा रहा है? इसी की "चिता" में नि.शंक हो वह सो नही पाता। खाने-पीने की लालसा के बीच व्याह जैसा वयस्क भाव को अबोध स्तर पर उतारकर मूल वात्सल्य को विरोध के द्वारा तीव्र किया गया है। तीव्रता की यह अनुभूति, जो कि पिछली पंक्तियो में "गिरिधरन की बतियाँ" से संचित होती रही है, अंत मे "लै उछंग पय पान करावै" मे साकार हुई है। गाय दुहने लायक, ब्याह करने लायक बालक अभी "पयपान" तक ही वात्सल्य का आधार है, यही गीति की सहज प्रेरणा है। भाव का चरमोत्कर्ष पाँचवी पंक्ति मे बालक द्वारा ब्याह न कराने और निश्चिन्त सोने का उलाहना देने मे है। अन्तिम पंक्ति मे भावमय चित्र उपस्थित करते हुये चतुर्भुजदास कहते है कि माता यशोदा गिरिधर की बतियाँ सुनकर उल्लासयुक्त होकर पय पान कराती हैं।

सूर ने लीला विषयक जितने पद रचे हैं उनमें अनेक पद इतिवृत्त से युक्त भी है जिनका उल्लेख भावप्रधान विचारात्मक गीति पद मे किया गया है। किन्तु उनके मौलिक उद्भावनायुक्त पद गीति काव्य की पूर्ण कलात्मकता से युक्त है। लीला विषयक पदो मे कवि की मनोवृत्ति कही भी लीला को प्रधान बनाना नही है वरन कृष्णलीला में सम्मिलित होकर पुष्टिमार्गीय आनन्द लाभ की है। इस प्रकार लीला विषयक-प्रधान-पद रचना न होकर भक्ति भाव-प्रधान पद रचना कवि करता है। यही कारण है कि लीलात्मक इतिवृत्ति के साथ-साथ भक्ति-भावात्मक-अनुभूति घुल मिलकर चलती रहती हैं।

रूप-वर्णन प्रसंगों मे जो गीतिमयता उपलब्ध होती है उसमें एक अन्यतम भाव कवि उपस्थित करता है। रूप-सौन्दर्य के आकर्षण से उत्पन्न हृदयानुभूति भक्तो के गीतिमय वर्णन मे अनेक स्थलो पर मिलती है। रागात्मक अन्विति रूप वर्णन मे जितनी अधिक होती है सम्भवत: अन्यत्र नही, यही कारण है कि भक्त कवि जहाँ कहीं भी अवसर निकाल सका है वहाँ उसने रूप वर्णन अवश्य किया है। भगवत रूप सौन्दर्य तो अद्वितीय है ही। उसकी हृदयानुभूति अत्यन्त सहज एव स्वाभाविक है। भक्त को जब कभी भी उसकी अनुभूति होती है तो उसका हृदय उसे अभिव्यक्त करने के लिये आकुल हो उठता है। किसी न किसी माध्यम से वह प्रकट ही कर देता है। वात्सल्य के प्रसग मे माता यशोदा के व्याज से वह अपनी हृदयगत अनुभूति को शब्दात्मक सगीत की लड़ियो में पिरोकर इस प्रकार अभिव्यक्त करता है—

लालन तेरे मुख पर हौं वारी।
बाल गोपाल लगी इन नैननि रोग बलाइ तुम्हारी॥
लट लटकनि मोहन मसि विन्दुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलि शावक पंगति उठत मधुप छवि भारी॥

× × ×
× × ×

सुन्दरता को पार न पावति रूप देखि महतारी।
सूर सिन्धु की बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी॥[17]

यद्यपि भक्त सूरदास मातृ हृदय की अनुभूति का वर्णन यशोदा के माध्यम से करते है परन्तु उन्हें अपनी ओर से कुछ न कुछ भगवत-माहात्म्य अवश्य कहना पडता है। कवि का हृदय भावो के प्रवाह में प्रवाहित होता हुआ इतना तीव्र भावावेश युक्त हो जाता है कि अन्त में वह किसी पात्र के ब्याज से अपनी हृदयगत व्याकुलता की अभिव्यक्ति न करके स्वयमेव सीधे-सीधे कह देता है। इसी से उपर्युक्त पद की प्रारम्भिक पंक्तियो मे यशोदा माँ की अनुभूतियो का वर्णन करते-करते अन्तिम पंक्ति मे अपनी अनुभूति के विषय मे कहता है कि मेरी अनुभूति मे तो इस अपार सुन्दरता-सिन्धु की केवल एक बूँद ही ग्रहण करने की शक्ति है, मेरी मति तो इस रूप-समुद्र में मग्न होकर विलीन हो रही है—'सूर सिन्धु की बूँद भई, मिलि मति गति दृष्टि हमारी।''

परमानन्द ने भी बाल क्रीड़ा का अत्यन्त स्वाभाविक भावमय चित्रात्मक अभिव्यक्ति गीति-पदो मे किया है। बालक कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का भावमय वर्णन करते हुये कहते है—

बाल विनोद बरे जिय भावन।
मुख प्रतिबिम्ब पकरिबे कों हरि हुलसि घुटुरुअन धावत॥
कमल नयन माखन मांगत है ग्वालिनि सैन बतावत।
सबद जोरि बोल्यो चाहत है, प्रगट बचन नहिं आवत॥
कोटि ब्रह्माण्ड खण्ड की सोभा सिसुता माहिं दिखावत।
परमानन्द स्वामी जन मंगल जसुमति प्रीति बढ़ावत॥[18]

बोलना सीखते हुये बालक के बोलने का प्रयास करता हुआ देखकर माता का हृदय बालक के प्रति और अधिक प्रीतियुक्त होता है। सूर की भाँति सभी भक्त कवि भगवत लीला के वर्णन मे उनके माहात्म्य का वर्णन करते हुये गीति-पदो की रचना करते है। इसीलिये तो परमानन्द दास भी करोड़ो ब्रह्माण्ड की शोभा कृष्ण की शिशुता मे देख लेते है। इस प्रकार के पदों की समालोचना हेतु मानस भी वैसा ही बनाना पडेगा तभी भक्त-कवि की गहन अनुभूति की सही पहचान हो सकती है।

सूर का एक पद द्रष्टव्य है। इस गीति-पद मे माता यशोदा हरि को पालने में झुला रही हैं

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै दुलराइ मल्हरावै जोइ सोइ कछु गावै[19] ।।

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कवि स्वयं भी वही कही छुपा हुआ खड़ा है और कृष्ण भगवान को "सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि करि करि सेन बताना" एवं "जसुमति का मधुरै गाना" वह प्रत्यक्ष देख-सुन रहा है। उससे इस गीति-पद की स्वत प्रेरित भावुकता पाठक अथवा श्रोता को स्वयमेव आकर्षित कर लेती है। इस प्रकार के सभी गीति पदो[20] मे कवि की चित्रात्मक शैली की स्पष्ट झलक दृष्टिगत होती है साथ ही वर्णन-कौशल इतना सुदृढ एव अनुभूतियुक्त है कि गीति-पद की भावाभिव्यंजना पाठक अथवा श्रोता को प्रभावित किये बिना नही रहती। अत गीति-काव्य का एक अन्यतम गुण सम्प्रेषणीयता इस प्रकार के गीति पदो मे आद्यान्त उपलब्ध है। सूर की यह चित्रात्मक शैली परमानन्द दास के गीति पदो मे द्रष्टव्य है—

झुलौ पालने हो ललना लेहुँ बलैया तेरी।
गाऊँ गीत कहि जसुमति रानी चुटकी दे दे रीझै री ।।
हरि हसि देत करत किलकारी ह्वै दतियाँ सुभ दरसै री ।।
परमानन्द वारने कीजै तनमन धन लै सुत पैरी ।।[21]

लोकगीत शैली की व्यंजना, भावाभिव्यक्ति एव सम्प्रेषणीयता की शक्ति से कौन परिचित नही है। अनुभूति की अत्यन्त छोटी-सी तरंग कवि को पद रचना के लिये बाध्य करती है। प्रत्येक पंक्ति मे वह भाव के साथ अपना तालमेल बैठाती हुई पूर्ण होती है। इस पद की यही विशेषता है। इसी भावधारा से युक्त कृष्ण दास और गोविन्दस्वामी के गीति-पद को उदाहरणार्थ देना अनुचित न होगा—

1 .... नन्द को लाल पालने झूले।
अलक अलकावली तिलक गोरोचना चरण अगुष्ट मुख किलकि फूले ।।
नैन अंजन रेख, मेख अभिराम सुठि कठ केहर करज किंकिनि कटि मूले।
कृष्ण दास नाथ रसिक पिय गिरवरधरन निरखि नागर देह गेह भूले ।।[22]

2........ झूलो पालने बलि जाऊ।
स्याम सुन्दर कमल लोचन देखत अति सुख पाऊ ।।
अति उदार विलोकि आनन जीवत नाहि अघाऊ।
चुटकी दै दै नचाउँ हरि कौ, मुख चूमि-चूमि उर लाऊ ।।
रुचिर बाल विनोद तिहारै निकट बैठि कै गाऊ।
विविध भाँति खिलौना लै लै, गोविन्द प्रभु को खिलाऊं ।।[23]

भगवान के बाल रूप के सौन्दर्य एव उनकी लीलाओ का भक्तो ने एक प्रका[र] से चित्रण किया है। बालक कृष्ण माखन रोटी हाथ पर लेकर खा रहे हैं। धूल धूसरित बालक कृष्ण का आँगन में चलना एव मुख पर दधि का लेप कर लेना ए[व]

ओर जहाँ बालसुलभ चेष्टाओं की स्वाभाविकता का द्योतक है वही वात्सल्य भाव को प्रच्छन्न एवं पुष्ट करने मे पूर्ण सहायक भी है—

सोभित कर नवनीत लिये ।
घुटुरुनि चलत रेनु तन मण्डित, मुख दधि लेप किये ।[24]

बाल कृष्ण के सौन्दर्य दर्शन के सुख पर सम्पूर्ण जीवन न्योछावर करने वाले भक्त की अनुभूति का कोई मापदण्ड नही हो सकता । एक ओर जहाँ अनुभूति अपनी गहनतम अभिव्यक्ति करती है वही अलंकारो से रुकावट के स्थान पर सजावट के साथ सरल प्रवाहमयता पद की सम्प्रेषणीयता में अत्यधिक वृद्धि करती है । भक्त कवि के इस गीति-पद मे सगीत की नादात्मक अनुगूँज ही पाठक अथवा श्रोता को भावाविभोर करने मे पर्याप्त सक्षम है । बालक की चेष्टाये वात्सल्य भाव को उद्दीप्त करती है । मुख्य रूप से माता तो उसकी एक-एक चेष्टाओ को मंत्रमुग्ध होकर देखती है, आनन्द मग्न होकर दुलारती है । माता यशोदा तो इतनी स्नेहयुक्त हो जाती है कि बाल-कृष्ण को तुरन्त गोद मे उठाकर पय पान कराने लगती है—

किलकत कान्ह घुटुरवनि आवत ।
मनिमन कनक नन्द के आँगन बिम्ब पकरिबे धावत ।
कबहु निरखि हरि आपु छाँह कौ कर सौ पकरन चाहत ।
किलकि हँसत राजत ह्वै दतियाँ पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत ।
कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजति ।
करि करि प्रति पद प्रति मनि वसुधा, कमल बैठकी साजति ।
बाल दसा मुख निरखि जसोदा पुनि-पुनि नन्द बुलावति ।
अंचरा तर लै ढांकि सूर के प्रभु को दूध पियावति ॥[25]

अधिक अलकरण भी अवरोध का कारण होते है । उपर्युक्त पद मे यह देखा जा सकता है—"कनक भूमि'''''''''कमल बैठकी साजति" पंक्ति क्षण मात्र के लिये पद की रागात्मक अन्विति को भंग करती है । किन्तु पद-रचना मे कुशल भक्त कवि सूरदास अत्यधिक शीघ्रता से उसी भाव मे लिप्त हो परिस्थितजन्य सौन्दर्य का वर्णन करने लगते है । वस्तुत भावावेश में प्रवाहित कवि की भावधारा अपने परमात्मा के लिये विविध उपकरणो का वर्णन सायास नही करता है किन्तु यह सत्य है कि उसका वर्णन कही तो अत्यन्त प्रभावोत्पादक, मर्मस्पर्शी होता है और कही अत्यल्प अवरोधक हो जाता है । इतना होते हुये भी भक्तो का वर्णन कृतिमतायुक्त न होकर स्वाभाविक एव सहजता से व्यक्त होता है । यही कारण है कि भक्तो द्वारा रचित गीति पदो मे अलकार अनेक स्थलो पर बाधक नहीं हुये है ।

भक्त कवि कुम्भनदास ने इसी भाव के अनुकूल एक पद में अनुभूतिमय वर्णन किया है

क्रीडत कान्ह कनक आँगन माँही।
निज प्रतिबिम्ब बिलोकि किलक करि धावत पकरन को परछाईं।
पकरि न पावत श्रमित होत जब आवत उलटि ताल तिहिं ठाही।
कुम्भनदास प्रभु की यह लीला निरखि जसोमति हँसि मुसुक्याही ।।[26]

कान्हा कुछ बडे हुये हैं। अब वे चलना सीख रहे है। माता यशोदा चलना सिखा रही है। माता उनके चलने, डगमगाकर गिरने की क्रीडा को देखकर तथा उनके रूप-सौन्दर्य को निहार-निहार कर बार-बार बलैया लेती है तथा देवताओ से उनके दीर्घायु होने की प्रार्थना भी करती है—

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनीधर पैया ।।[27]

सूर का यह पद वात्सल्यजन्य स्नेह रति का शब्द चित्र प्रस्तुत करता है। भक्त कवि बालक को पैया चलना सिखाती हुई माता का चित्र उपस्थित करता है। अरबराइ, गहावत, डगमगाइ आदि शब्दो से तो यह चित्र और अधिक स्पष्ट हो जाता है। चित्रात्मकता के उपरान्त पद की अन्तिम पंक्ति में प्रभु—माहात्म्य बनाये रखने के लिये वह अपनी आत्माभिव्यक्ति मे नही चूकता अत लीलामय बालक कृष्ण सबके स्वामी है, इसका संकेत भी दे देता है।

परमानन्ददास एक अत्यन्त सुन्दर गीति पद मे बालक कृष्ण द्वारा मइया, भइया एवं बाबा बोलने का भावमय वर्णन करते है। छोटे बालक की वाणी सुनकर न केवल घर के प्राणी वरन अन्य लोग भी प्रसन्न होते है—

बोलन लागे मइया मइया।
बाबा कहत नन्दराइ सों अरु हलधर सो भइया।
खेलत फिरत सकल गोकुल में घर घर होत बधइया।
परमानन्ददास को ठाकुर ब्रज जन केलि करइया ।।[28]

मनमोहन कृष्ण मैया मैया बोलने लगे है, नन्द को बाबा और हलधर को मैया कहते है। गोकुल के घर आँगन में खेलते फिर रहे हैं। इस गीति-पद मे वात्सल्यजन्य रागात्मकता की उत्पत्ति बालक के बोलने और खेलने से हो रही है। उसके खेल से ही घर-घर बधाई मच जाती है। अत परमानन्ददास का यह पद, संगीत, आत्माभिव्यक्ति, सहज रागात्मक तथा संक्षिप्तता आदि विशेषता के कारण गीति-पद बन गया।

बाल हठ का मर्मस्पर्शी वर्णन यदि विवेचन के निमित्त न किया तो कुछ अधूरा-अधूरा-सा लगेगा। सूर एवं परमानन्द दोनों भक्तो ने बाल हठ का अत्यन्त सुन्दर चित्रात्मक, अनुभूतिमय वर्णन किया है। सूर के कृष्ण "चन्द खिलौना" माँग रहे है और माता उन्हें बहका रही है

मैया मै तो चन्द खिलौना लैहौ ।
जैहो लोटि धरनि पर अबही तेरी गोद न ऐहौ ।
सुरभी को पय पान न करिहौ, बेनी सिर न गुहैहौ ।
ह्वै हौ सुत नन्द बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौ ।
आगे आउ बात सुनि मेरी, बल देवहिं न जनैहौं ।
हँसि समझावति कहति जसोमति नयी दुलहिया दैहौ ।
तेरी सौ, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौ ।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमगल गैहौं ।[29]

भक्त कवि की कल्पनाशीलता भावुकता के साथ-साथ अभिव्यक्त होकर बाल-हठ का सुन्दर चित्र उपस्थित करती है । सूर अपनी मुँदी आँखो से ही बालक कृष्ण का चन्द्रमा के लिये हठ करना, मचलना, चन्द खिलौना न मिलने पर अनेक बातो को बनाना तथा माता का बालक के मनोनुकूल विवाह की गुप्त बात का कहना आदि सब कुछ स्पष्टतया देख लेते है तथा सभी स्थितियो का यथातथ्य वर्णन करते है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इस क्रीडा को अपने हृदय में आत्मसात करके गीति के रूप में अभिव्यक्त किये है । गीति-रचना मे कुशल सूर के पदों का संगीत भावाविभोर करने मे पर्याप्त सक्षम है । इस पद मे भी यही विशेषता दृष्टिगत है ।

बालक जितना ही हठ करता है माता उतना ही उसे मनाने के लिये तरह-तरह के उपाय करती है । माता यशोदा भी कृष्ण से हठ छोड़कर माखन, दूध, चकई भौरा या और जो कुछ भी उनकी इच्छा है लेने के लिये कहती है । दोनो भाइयो को साथ खेलने के लिए कहती है तथा खेलते हुये देखकर बलइया लेती है—

अब हठ छाँडि देहु रे मेरे बारे कन्हैया ।
जो माँगो सो दैहो ललारे माखन दूध मलैया ।
चकई भौरा पाट के लटकन और मंगाइ दैहो फेर कन्हैया ।
सब लरिकन के संग मिलि खेलो अरु बलदाऊ भैया ।
दोउ भैया निरखि निरखि के पुनि-पुनि लेति बलैया ।
परमानन्द प्रभु बाल रूप धरि क्रीडत नन्द अगनैया ।।[30]

गीतिपद की अन्तिम पक्ति मे भक्त की आत्माभिव्यक्ति स्पष्ट झलक रही है । प्रभु की बालक्रीडा का संकेत करके वह भगवत माहात्म्य बनाये रखता है । भक्त तो भगवत स्वरूप का ही वर्णन करता है चाहे वह बाल रूप हो या अन्य कोई । अपने हृदयस्थल में निरन्तर होती रहने वाली क्रीडा का ही वह समय-समय पर अनुभूति-मय अभिव्यक्ति करता है ।

वात्सल्य जन्य वियोग मे वात्सल्य भाव की चरम परिणति लक्षित होती है । यह वियोगजन्य दुःख रस की दृष्टि से करुणा के अत्यन्त निकट है तुलसीदास एव

अष्टछाप के कवियों के गीतिपदो मे इस भाव के उच्चकोटि के गीतिपद उपलब्ध होते है।

तुलसी ने गीतावली एव कृष्ण गीतावली में अनेक स्थलों पर वात्सल्य-वियोग-भाव के गीति पदों की रचना की है। गीतावली मे एक पद मे विश्वामित्र का आगमन, राम को अपने साथ वन ले जाने के लिये हुआ है। यह जानकर दशरथ के हृदय की विकलता का अत्यन्त भावात्मक चित्रण तुलसीदास ने किया है। जिसमे तुलसी के हृदय की पीडा स्पष्ट झलकती है। मुनि विश्वामित्र के वचन सुनकर पिता दशरथ के हृदय की दशा शोचनीय हो गई है। शरीर मे कम्पन्न होने लगता है, परन्तु क्षत्रियोचित्त वीरता और आत्मविश्वास के कारण वे राम को मुनि के हाथो मे समर्पित कर देते है—

रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बचन
कहि न सकत कछु राम-प्रेमबस, पुलक गात, भरे नीर-नयन।
गुरू बसिष्ठ समझाय कह्यो तब हिय हरषाने, जाने सेष-सयन।
सौंपे सुत गहि पानि, पाँयपरि; भूसुर उर चले उमगि चयन।
तुलसी प्रभु जोहत पोहत चित, सोहत मोहत कोटि मयन।
मधु-माधव-मूरति दोउ संग मानो दिन मनि गवन कियो उतर अयन ॥[31]

उपर्युक्त गीतिपद मे यद्यपि दशरथ की वात्सल्य वियोग दशा का क्षणिक चित्रण है किन्तु वात्सल्य वियोग की व्यंजना पूरी तरह हो जाती है और यह व्यंजना ही पद का मुख्य भाव है। एक अन्य पद मे दशरथ द्वारा राम को वनवास दिया जाना वर्णित है। यह वनवास परिस्थितिवश था। दशरथ तो कदापि नही चाहते थे कि राम बन जाये। फिर भी वे अपने को ही इसका कारण समझते है। इसलिये वे राम के अभाव में अपने प्राणो का उत्सर्ग कर रहे है। राम-बिना दशरथ के देह में प्राण कैसे रह सकते है। प्रेम की चरम परिणति इस पद मे दृष्टिगत है——

मुएहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछिताउ।
नारिबस न बिचारि कीन्हो काज, सोचत राउ ॥
× × ×
× × ×
मुनि सुमत कि आनि सुन्दर सुवन सहित जिआउ।
दास तुलसी नतरु मोको मरन अमिय पियाउ ॥[32]

दुख एवं पश्चात्ताप की इति मृत्यु के बाद भी दशरथ को नही हो पाती है। जन्म-जमान्तर तक इस दुख से मुक्ति न मिल सकेगी। शरीर से निकलकर आत्मा जहाँ कही भी जायेगी उसे राम-वन-गमन से उत्पन्न दु ख की अनुभूति अवश्य होगी। भक्त कवि का वर्णन इतना सवेदनशील है कि वह पाठक अथवा श्रोता के हृदय पर अपना प्रभाव अवश्य छोडता है। वेदना का अत्यन्त तीव्र एवं अनुभूतिमय चित्रण

करने मे कवि पूर्ण सफल रहा है। गीति काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व रागात्मक इकाई एवं भाव की अन्विति इस पद मे द्रष्टव्य है। तुलसीदास के इस पद के भाव के अनुकूल सूर का एक पद यशोदा माता के सन्दर्भ मे रचित है—

अब या तनहि राखि का कीजै।[33]

यहाँ एक तथ्य द्रष्टव्य है कि तुलसी द्वारा वर्णित दशरथ के वात्सल्य वियोग मे दशरथ की आत्मग्लानि साफ झलकती है। सम्भवत दशरथ के पुरुष होने के कारण यह ग्लानि का भाव प्रकट हुआ है। किन्तु पिता की अपेक्षा माता के हृदय मे वात्सल्य का संयोग एव वियोगात्मक अनुभूति का अधिक होना स्वाभाविक है। बालक के दूर रहने पर उसके क्रियाकलापो की स्मृति से माता का दु ख बढता ही जाता है। राम के राजभवन मे न रहने पर कौशिल्या माता सूने राजभवन में अत्यन्त विकल हो जाती हैं उनका दुःख दुगुना हो जाता है—

जब-जब भवन बिलोकति सूनो।
तब-तब विकल होति कौसल्या दिन-दिन प्रति दु ख दूनो॥
सुमिरत बाल-विनोद राम के सुन्दर मुनि-मन-हारी।
होत हृदय अति सूल समुझि पद पंकज अजिर बिहारी॥
को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो, माई।
स्याम-तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउ उर लाई॥
जीवो विपति सहौ निसि बासर मरौ तो मन पछितायो।
चलत बिपिन भरि नयन राम को बदन न देखन पायो॥
तुलसीदास यह दुसह दसा अति, दारुन बिरह घनेरो।
दूर करै को भूरि कृपा बिनु सोक-जनित सब मेरो॥[34]

उपर्युक्त पद की गीति रचना मे दोष न होते हुये भी भक्त कवि तुलसीदास की स्वाभाविक कल्पना में अवश्य खटकने वाले तत्व विद्यमान हैं। इसी प्रकार के के एक अन्य पद—

जननी निरखत बान धनुहियाँ।
बार-बार उर नैननि लावति प्रभुजु की ललित पनहियाँ॥[35]

मे भी उस स्वाभाविकता का अभाव है जो माता के वात्सल्य वियोग मे अनायास ही सहयोग देते है और प्रभु की स्मृति को और अधिक तीव्र करते है। सूरदास की तुलना मे तो तुलसी द्वारा एकत्र बाल-मनोविज्ञान के उपकरण निरर्थक प्रतीत होते है। इस सन्दर्भ मे डा० राम खेलावन पाडेय जी की विस्तृत समालोचना देना अत्यन्त आवश्यक है। "यशोदा और कौशल्या के रूप मे भी अन्तर है। राम का शैशव बीत गया था, बालक्रीडाये अतीत की बातें हो चुकी थी, अत उनके कारण जगने वाली स्मरण-शक्ति में उतनी तीव्रता सम्भव नही। राम के उस विगत बाल-जीवन की याद वर्तमान के साथ केवल इतनी दूर तक ही मेल खाती है कि उनकी स्मृति को सजग

होने का अवसर मिल जाता है किन्तु कृष्ण का "माखन माँगना" रोज का व्यापार था। "माखन" देखते ही कृष्ण की याद जितनी स्वाभाविक है यह "बान धनुहियाँ" और पनहियाँ के कारण नहीं। कौशल्या तुलसी के हाथ पकड़कर केवल माता नही बल्कि भक्त का प्रतीक बन जाती है। सुन्दर मुनि-मन-हारी कहकर तुलसी राम के लौकिक आदर्श की ओर झुक जाते है और तुलसी का सामाजिक आदर्शवाद सजग हो जाता है। राम के इस मर्यादावाद और सामाजिक रूप पर तुलसी इतने आकृष्ट है कि राम केवल कौशल्या के पुत्र नही बल्कि नारायण है और कौशल्या माता केवल माता नही रह जाती बल्कि भक्ति-स्वरूपिणी बन जाती हैं। ऐसी अवस्था मे रागात्मक वृत्ति श्रद्धा के साथ मिलकर शुद्ध, सरल भाव में नही रह पाती। तुलसी की प्रतिभा इस रूप में सफल नही होती। उधर सूर की यशोदा माता केवल माता है। तुलसी की प्रतिभा मे गीति-काव्यत्व का अभाव-सा है। "मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ वैसेहि धर्‌यो रहे" तथा "सूने भवन यशोदा सुनिके गुनि-गुनि सूल गहे" मे जो भावाभिव्यजना है वह "जब-जब भवन बिलोकति सूनो, तब-तब विकल होति कौसल्या" में नही दीखता। जान पडता है भाषा भाव का साथ नहीं देती अर्थात अनुभूति अपने सम्पूर्ण रूप में नहीं होती।

× × ×

"को अब प्रात कलेऊ मागत रूठि चलैगो भाई।
स्याम तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई॥"

बनगमन के पूर्व राम वय प्राप्त हो चुके थे। प्रात काल "कलेऊ" माँगते समय "राम का रूठना" "नाबालिक अहीरो" का स्मरण कराता है। स्याम-तामरस से नयन मे आँसुओ का भरना कम अस्वाभाविक नही। यह बात नही कि जवानी मे लोग रोते नही अथवा यह अस्वाभाविक है, किन्तु कलेवा के समय रूठना, रोना मचलना अस्वाभाविक है। × × × इतना स्वीकार हमे करना पड़ेगा कि यह अस्वाभाविक है, कृत्रिम है, तुलसीदास की भावुकता माता का हृदय पहचानने में असमर्थ रही है और उसमे वास्तविक रागात्मक आवेश का अभाव है। कौसल्या यदि माता रह सकती, सिर्फ माता, तो चित्त उदात्त, स्वाभाविक, गम्भीर और सवेदनशील होता। इस गीत में सगीतात्मकता का अभाव नही किन्तु यह संगीत चट्टान के नीचे से फूट पडने वाले निर्झर के सगीत की भाँति उन्मुक्त और सहज नही। शब्दो से सगीत फूटता हुआ नही दीखता। साधारण रूप मे लोग कह सकते है कि भाषा इस मार्ग मे अवरोधक बन जाती है, इसे ही तो मै गीति-काव्यात्मक प्रतिभा का अभाव समझता हूँ।"[86]

यह पहले ही कह चुका हूँ कि वात्सल्य भाव को रस की कोटि तक पहुँचाने का श्रेय सूरदास की लेखनी एव उनके मातृ हृदय को है भाव की व्यजना

उनके एक गीति-पद मे देखते ही बनती है। यशोदा के साथ सारा ब्रज उमड़ आया है और नन्द से मथुरा जाने के लिये विदा माग रहा है। नन्द सबके विक्षोभ के केन्द्र बने हुये है। क्योंकि वे अपने साथ कृष्ण को ब्रज मे वापस नही ला सके थे। ब्रज के लोग कह उठते है कि जब आप अकेले लौटे तो दुखातिरेक से आपकी आखे पथरा नही गई कैसे आपने मार्ग पहचान लिया ? आपने राजा दशरथ की पुत्र-वियोग से मृत्यु की कथा सुनी होगी। आँपको भी ऐसा करना चाहिये था। पुन आगे ब्रजवासी कहते है कि गोकुल हमें श्मशान सा प्रतीत हो रहा है, ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वह हम लोगों को खा जायेगा—

नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाइ।
देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी, जहँ गोकुल के राइ ॥
नैननि पथ कहौ क्यौ सुझ्यौ, उलटि दियो जब पाइ।
रघुपति दशरथ कथा सुनी ही, बरु मरते गुन गाइ ॥
भूमि मसान विदित यह गोकुल, मनहुं धाइ कै खाइ।
सूरदास प्रभु पास जाहि हम देखहि रूप अघाई ॥[37]

इन्हीं ब्रजवासियों मे भक्त कवि भी है इसी मे वह अपनी व्यंजना को और अधिक तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करता है। सम्भवत वह भी नही चाहता कि कृष्ण ब्रज की "केलि" छोडकर मथुरा चले जाँय। भक्त कवि वात्सल्य के वियोग---दु ख की अनुभूति करता है। यही कारण है कि उसका वर्णन उदाहरण से पुष्ट एव अत्यन्त मार्मिक है। गीति-पद की संक्षिप्तता के कारण भाव की अन्विति बनी रहती है। वात्सल्य की पृष्ठभूमि पर अत्यन्त रागात्मक चित्रण किया गया है। "ठोकि बजाइ", "नैननि पथ ···· ·· जब पाइ", तथा "बरु मरते" आदि सटीक भावाभिव्यंजना वाले शब्दो के माध्यम से अभिव्यक्ति और अधिक व्यंजनायुक्त हो गई है।

सूरसागर के दशम स्कन्ध का यह पद सम्पूर्ण गीति-साहित्य में वात्सल्य रस का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जाना चाहिये। वात्सल्य भाव का विश्लेषण करने वाले आलोचकों को इस विशेष पद की व्यंजना पर अवश्य ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये।

यशोदा मथुरा अपने पुत्र के यहाँ जा नही सकती। इस परिस्थिति मे वे किसी पथिक को मथुरा जाते हुये देख कर अपना सन्देश कृष्ण को जन्म देने वाली माँ देवकी के पास भेजती है। यद्यपि वे जानती है कि माँ को अपने बालक का पूर्ण ध्यान रहता है और देवकी अपने सुन्दर दुष्ट दलन करने वाले कस बध हेतु अव

तरित पुत्र के सुख-सुविधा का ध्यान रखती ही होंगी तथापि उनकी ममता संयमित नहीं हो पाती और वे कृष्ण की रुचि-अरुचि के सम्बन्ध मे निर्देश देती हैं—

संदेसौं देवकी सौ कहियौं।
हौ तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतै, माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनौ अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि कै न्हाते॥
सूर पथिक सुनि मोहि रैनि दिन, बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लडैतौ मोहन, ह्वै है करत सकोच॥[38]

गीति काव्य के सम्पूर्ण तत्वों का शोध इस गीति-पद मे सप्रयास नही करना पडता वह तो स्वयं ही स्पष्ट लक्षित हो रहा है। माँ के सारे अधिकारों से वचित होने पर भी मातृत्व की अतल गहराई की गीतात्मकता इस पद मे देखी जा सकती है। साक्षात कुछ न कह सकने की पीडा को दबाती हुई यशोदा मातृपदस्थ देवकी से संदेश कहलाती है। अपदस्थ माता की करुण स्थिति "हौ तौ धाइ तिहारे सुत की" मे जिस मार्मिकता से व्यक्त हुई है "वह मया करत ही रहियौ" की कातर याचना मे उनके वात्सल्य को अलौकिक दीप्ति से भर देती है। यह विवश ममत्व "जदपि टेव तुम जानति उनकी" के आगे "तऊ मोहिं कहि आवै" मे खुलकर व्यक्त हुआ है। एक के बाद एक कृष्ण की रुचियो और आदतो के विवरण मे। यह ममत्व अंत मे यह भी भूल जाता है कि सदेश देवकी से कहा जा रहा है, वह पथिक से ही संबोधन मे आत्मकेन्द्रित हो जाता है "बढ़्यौ रहत उर सोच।" देवकी पुत्र की चरम वत्सल अनुभूति "अलक लडैतै मोहन" की है जो अपनी सगी माँ के सामने "ह्वैहै करत सकोच" में गुम्फित होकर सफल हो गई है। इस "सँकोच" से प्रेरित हो यशोदा मोहन की "टेव" का पूरा ब्यौरा देना आवश्यक समझती है। एक ओर यह ब्यौरा गीति की भावात्मकता को खण्डित कर सकता था, किन्तु दूसरी ओर माता की कातर चिंता से मडित हो कर यह सारा विवरण वत्सलता की अनुभूति को सांद्र ही करता चलता है। यह सान्द्रता 'अलक लड़ैतै" में पर्यवसित होती हुई गीति की अक्षुण्ण अनुभूति देती है। यशोदा के मातृ-हृदय की करुणा, पुत्र के प्रति उनकी मंगलाकांक्षा और उसकी सम्बन्धित स्थिति की दयनीयता इन पंक्तियो मे मूर्तिमती हो उठी है। अपने को "धाय" कहने मे कितनी कातरता है। यहाँ वात्सल्य के साथ दैन्य का कुछ भाव आ गया है। कृष्ण के विषय मे उसे जो कुछ भी कहना है, उसे वह देवकी को वरीयता देते हुये दबी जबान से ही कह सकी है। कारण, देवकी कृष्ण की मा जो है स्मरण और चिन्ता की मनोदशाओ का अत्यन्त सहज और

मर्मग्राही अभिव्यक्ति भक्त कवि सूरदास ने किया है। यशोदा का मथुरा जाने वाले पथिक से कातरतापूर्वक अपना दुःख रोने में वात्सल्य-वियोग की जितनी व्यंजना है वह और किसी अन्य गीति-पद मे अनुपलब्ध है किन्तु यह सम्पूर्ण व्यजना अत्यन्त स्वाभाविक, सहज एवं सम्प्रेषणीयता से भरपूर है। और सूर तो इस व्यंजना में कुशल हैं ही।

इस प्रकार वात्सल्य भाव के पदो मे गीति-तत्व स्वयमेव मिल जाते है। संयोग या वियोग दोनो भावों का भक्त कवियों ने अति कुशलता से गीतात्मक वर्णन किया है।

1—साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ, परिच्छेद 3, पृ०-251 से 252
2—श्रीहरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु, पृ०-395.
3—सूरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-167
4—सूर और उनका साहित्य, हरवंश लाल शर्मा, पृ०-244
5—भट्ट रामनाथ शर्मा, निरोध लक्षण, षोडशग्रन्थ, श्लोक-1.
6—अष्टछाप, काकरौली, पृ०-90 से 91
7—सूर-साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-130.
8—सूर पंचरत्न, लाला भगवानदीन, पृ०-104.
9—सूरसागर, सभा, नवम स्कन्ध, पद-463
10—वही, सभा, नवम स्कन्ध, पद-475.
11—वही, सभा, नवम स्कन्ध, पद-447
12—गीतावली, बालकाण्ड, पद-30.
13—वही, पद-1/81 इसी भाव में अन्य पद-1/6, 9, 15, 16, 17.
14—तुलसी रचनावली. बजरंगबली विशारद, कृष्ण गीतावली, पद-81.
15—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-952
16—अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पद-11, पृ०-273
17—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-709
18—परमानन्ददास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, कांकरौली, पद-104
19—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-661.
20—वही, सभा, दशम स्कन्ध, पद-662, 663 तथा 664
21 पद-संग्रह गुप्त काकरौली पद 41 पृ० 20

22—अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पद-1, पृ०-226.

23—वही, पृ०-246.

24—सूर सागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-717.

25—वही, पद-628.

26—कुम्भनदास दीनदयाल गुप्त, काँकरौली, लीला के पद-1.

27—सूर सागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-733.

28—परमानन्द दास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, काकरौली, पद-92

29—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-811.

30—परमानन्ददास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, कांकरौली, पद-127.

31—गीतावली, पद-1/51

32—वही, पद-2/57.

33—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-3980.

34—गीतावली, पद-2/54.

35—वही, पद-2/52

36—गीति काव्य, पृ०-281 से 284

37—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-3786.

38—वही, दशम स्कन्ध, पद-3793

(ख) सख्य भाव के गीति-पद

लौकिक व्यवहार मे जो मित्रता का आदर्श भाव उपस्थित किया जाता है, उसे सख्य भाव कहते है। भगवत भक्ति मे यही भाव भक्त भगवान के प्रति रखता है तथा इसी भाव मे विवरण करता हुआ गीति-पदो की रचना करता है। इस विवेचन के अन्तर्गत इसी प्रकार के सख्य भाव के गीति-पदों को लिया गया है।

सख्य भक्ति का विधान वल्लभ सम्प्रदाय मे है। यही कारण है कि सख्य भाव के गीति पद मुख्यतया कृष्ण भक्तो द्वारा रचित है। कृष्ण भक्तो मे भी भक्त कवि सूरदास ने सख्य भाव के गीति पदो का अत्यधिक विस्तार किया है। भक्तो ने कृष्ण की बाललीलाओ के अतिरिक्त उनके सखाओ, अर्जुन, सुदामा आदि के साथ क्रीडा का भावात्मक वर्णन गीति पदो मे किया है। ऐसे प्रसंगो मे कृष्ण का गोप सखाओ के साथ खेलना, ककडी मारना, घोडा बनकर खेलना, गोचारण, माखन चोरी तथा गोप सखाओ के साथ अनेक प्रकार की अन्य क्रीडाये हैं। इनके अतिरिक्त राम-भक्त-कवि तुलसीदास ने भी सख्य भाव के गीति-पदो की रचना की है।

सख्य भक्ति का वर्णन करते हुये भक्त कवि निष्काम भक्ति की कामना करता है। कृष्ण की बाललीलाओ से सम्बन्धित गीति-पदो मे यही भाव मिलता है। जिसे केन्द्र मानकर कृष्ण भक्तो ने अपने-अपने हृदयोद्गारो की सहज अभिव्यक्ति की। ये भक्त उच्च कोटि के भक्त थे अत सख्य-भक्ति मे भगवद्-सान्निध्य का अनुभव सखा के रूप मे करते थे। सख्य भक्ति का विधान वल्लभ सम्प्रदाय में होने के कारण इस सम्प्रदाय के अष्टछाप भक्तों को कृष्ण का अष्ट सखा भी माना जाता है और इसी विश्वास के आधार पर कृष्ण के अष्ट सखाओं को अलग-अलग नाम भी दे दिये गये। "252 वैष्णवन की वार्ता" से स्पष्ट होता है कि अष्टछाप भक्तो मे से कुछ भक्त वस्तुतः मानसिक जगत मे सख्य भक्ति का अनुभव करते हुए श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ मित्र का व्यवहार करते थे।[1] अत इन भक्त कवियो ने जहाँ कहीं भी कृष्ण के सखाओ का वर्णन किया है वहाँ वे स्वय सखा के रूप मे उपस्थित रहकर सखाओ का सा व्यवहार करते थे। यही कारण है कि सख्य भाव से सम्बन्धित इनके गीति-पद अत्यन्त संवेदनशील, भावुक एवं प्रवाहमयता से युक्त हैं।

सख्य-भाव के गीति पद भक्तिकालीन साहित्यिक सामग्री मे अत्यधिक मात्रा मे नही मिलते। रामभक्त तुलसी और कृष्णभक्त सूरदास तथा परमानन्ददास ने सख्य-भाव के गीति-पदों की रचना विशेषतया की है। यद्यपि भक्तिकाल के अनेक भक्तों की गीति रचना मे सख्य भाव के गीति पद उपलब्ध होते है तथापि तुलसी, सूर एवं परमानन्द ने इस भाव के गीति पद रचना मे विशिष्ट योगदान दिया है इन तीनो मे सूर अग्रणी है

रामभक्त तुलसी ने अपने प्रबन्ध काव्य रामचरितमानस में अनेक रसों एवं भावों का गुम्फन करके गीति कविता के रूप में अपनी हृदयानुभूति विनया-पत्रिका, गीतावली, कृष्ण गीतावली आदि में अभिव्यक्त किया है। उन्होंने गीतावली में रामचरित्र का तथा कृष्ण गीतावली मे कृष्ण लीला का आधार लेकर पदो की रचना की है। इन कृतियो में सख्य भाव के पद उपलब्ध होते है। तुलसी की भक्ति दास्य भाव की है। यही कारण है कि कुशल रचनाकार साहित्यमर्मज्ञ तुलसी-दास ने यद्यपि अपनी लेखनी इस सख्य भाव पर उठाई तो है तथापि उसमे भाव वर्णन ही अधिक है, अनुभूतिगत विशेषता अत्यल्प है। इस प्रकार गीति के सभी तत्व संगीतात्मकता, रागात्मकता, आत्माभिव्यक्ति आदि—तुलसीदास के पदो मे पूर्णतया प्राप्त होते है। किन्तु कृष्णकाव्य की तुलना मे, जहा इष्टदेव के साथ क्रीड़ा करने का विधान भक्ति के अन्तर्गत माना गया है, तुलसी के राम काव्य के पदों मे अनुभूति कम है। यथा—

खेलन चलिये आनन्द कंद।
सखाप्रिय नृपद्वार ठाढे विपुल बालक वृन्द ॥
तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक दास।
अनुज-बारिद बरपि छबि-जल, हरहु लोचन-प्यास ॥
बधु-वचन विनीत सुनि उठे मनहुँ केहरि बाल।
ललित लघु सर-चाप कर, उर-नयन-बाहु विसाल ॥
चलत पद प्रतिबिम्ब राजत अजिर सुखमा-पुंज।
प्रेमबस प्रतिचरन महि मानो देति आसन कंज ॥
निरखि परम विचित्र सोभा चकित चितवहि मात।
हरष विवस न जात कहि, निज भवन बिहरहु तात ॥
देखि तुलसीदास प्रभु-छबि रहे सब पल रोकि।
थकित निकर चकोर मानहुँ सरद इंदु बिलोकि ॥[2]

राग नट की शास्त्रीयता के अनुरूप इस पद की रचना की गई है। इससे संगीतात्मकता का सम्यक प्रयोग हुआ है। द्वार पर खड़े हुये प्रिय सखागण आनन्द-कन्द को खेलने के लिये बुला रहे है। अतः सख्य भाव भी है। किन्तु सख्यभाव अक्षुण्ण रूप से सम्पूर्ण पद में नही है। "तृषित तुम्हारे दरस कारन चतुर चातक दास" मे तुलसी की मानसिकता स्पष्ट झलकती है। सख्य भाव का वर्णन करते हुए भी वह अपनी दास्य भावना से दूर नहीं है, जबकि सख्य-भाव में समवयस्कता का भाव रहता है। अन्तिम पक्ति मे कवि की उत्प्रेक्षा भाव-पुष्ट अवश्य करती है, किन्तु अनुभूति समाप्त सी हो जाती है। अन्तिम दो पंक्तियो मे कवि की आत्माभि-व्यक्ति स्पष्ट है। उत्प्रेक्षा कवि का प्रिय अलंकार है। साथ ही उनकी दास्य-भाव की मानसिकता सख्य के साथ घुलमिल कर अभिव्यक्त हुई है। अतः कवि व्यक्तित्व

की छाप तो पूरे गीति-पद मे आद्यान्त दृष्टिगत होती है। कृष्ण गीतावली में कृष्ण के माखन चोरी, छाछलीला, गोचारण, बालसखाओ के साथ क्रीडा आदि का वर्णन तुलसीदास ने किया है। सभी वर्णन अत्यन्त भावमय है। इसका कारण यह है कि तुलसीदास ने केवल बाल-क्रीडाओ का बर्णन अपनी कवित्त शक्ति के माध्यम से किया है न कि भक्ति से। इसी स्थल पर बिनय पत्रिका के एक पद का उल्लेख करना समीचीन समझता हूँ—

केसव कारन कान गुसाईं।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहिं तजेउ अज्ञ की नाईं॥
परम पुनीत सत कोमलचित तिनहिं तुमहि बनि आई।
तौकत बिप्र व्याध गनिकहि तारेहुन कछु रही सगाई॥
काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे।
सो कछु करहु हरहु ममता मै फिरऊँ न तुम्हहिं बिमारे॥
जौ तुम तजहु भजौ न आन प्रभु, यह प्रवान पन मोरे।
मन क्रम वचन नरक सुरपुर जहँ तहँ रघुबीर निहोरे॥
जद्यपि नाथ उचित न होइ अस प्रभु करिअ ढिठाई।
तुलसीदास सीदत निसि दिन देखत तुम्हारि निठुराई॥[3]

सम्पूर्ण पद मे दास्य-भक्ति का गीतिकार अति विनम्रता के साथ "विप्र व्याध गनिका" आदि के "तारने" का कारण पूछकर सख्य-भाव की सृष्टि करता है। इस प्रकार एक ओर जहाँ गीति-पद मे दास्य-भाव मिलता है, वहीं सख्य-भाव की योजना भी, गीतिकार, वर्णन कौशल से कर देता है। इस गीति-पद की इसी विशेषता को लक्ष्य कर डा० उदयभानु सिंह का कथन हे कि सखातुल्य भक्तो की राम-विषयक प्रीति का आधार भी सेव्य-सेवक-भाव ही है।[1] इस गीति-पद के सन्दर्भ मे आगे उनका कथन उल्लेखनीय है—"इस पद के प्रथम दो पदो मे की गई सामीप्य-सूचक अनौपचारिक प्रश्न योजना और भगवान को दी गई "अबरेब"—युक्त लताड मे सख्य-भाव का समावेश है। अन्तिम तीन पदो मे आत्म-निवेदनात्मक दास्य-भक्ति का ज्ञापन है।"[3] अस्तु इस गीति-पद मे एक ओर जहाँ दास्य के माथ सख्यत्व का भाव प्रवाह वर्णन कौशल के माध्यम से अबाध गति का उपलब्ध होता है वही इस प्रवाह में सहायक संवाद-योजना भी हुआ है। सख्य-भाव का गीतात्मक प्रवाह टेक से प्रारम्भ होकर द्वितीय पंक्ति तक सामान्य रूप मे चलता रहता है किन्तु जहाँ भक्त कवि प्रश्न की योजना करता है वहाँ गीतात्मकता अत्यन्त तीव्र हो जाती है। यह तीव्रता गीति-पद की छठवी पंक्ति तक चलती रहती है और अन्त मे दास्य-भाव के साथ अत्यन्त सुकोमलता लिए हुए समाप्त होती है। यही आरोह-अवरोह इस-गीति-पद को विशिष्ट बना देता है। तुलसीदास के गीति-पदो की यह एक अन्यतम विशेषता है। इस प्रकार उपर्युक्त गीति-पद मे गणिका के साथ सगाई का उल्लेख करके कवि ने राम की और भक्तव पर व्यग्य के

द्वारा तथा भगवान की निरन्तर "निठुराई" से तंग आकर शरणागत भक्त ने उन्हें डटकर फटकारने की "ढिठाई" के द्वारा गीति की भावाभिव्यजना को अत्यधिक पुष्ट किया है। साथ ही गीति की प्रवाहमयता संगीत की शास्त्रीयता के अनुसार है। अत गीति का अन्त और बाह्य दोनों ही अत्यन्त सुन्दर बन पडा है।

सख्य-भाव का उत्कृष्ट गीतिमय वर्णन तो कृष्ण भक्तो ने किया है। सख्य-भाव की प्रतिष्ठा भी कृष्ण-भक्त सूरदास के कारण है। सूरदास तो वात्सल्य एवं माधुर्य की भाँति सख्य मे भी अग्रणी है। सूरसागर में तीन प्रसंगो मे भाव के पद है—

(1) बाललीला,
(2) गोचारण
(3) सुदामा दारिद्रय विदारण।

ब्रज की लीलाओ में ये सख्य गोप बालक सखा भाव से कृष्ण के साथ रहते है। सखाओ के प्रेम की आत्मीयता एवं अभिन्नता की स्थिति रहने पर सख्य-भाव मे आत्म-समर्पण की स्थिति है। कृष्ण के वृन्दावन मे रहने पर ये सखा प्रेम रति की संयोगात्मक अनुभूति करते है और उनके मथुरा गमन पर ये सखा प्रेमरति की विरहानुभूति करते है। इस प्रकार कृष्ण के गोप बालको के सन्निकट रहने पर सयोगात्मक आसक्ति का वर्णन सूरदास ने किया है और कृष्ण के दूर रहने पर वियोगजन्य आसक्ति का भावानुभूतियुक्त वर्णन किया है।

बाल क्रीड़ा के पदो मे भाव का चित्रात्मक वर्णन सूरदास ने किया है। गीति-पद की इस चित्रमयता का कारण भक्त की गहन अनुभूति ही नहीं वरन इस क्रीडा का उनके हृदय में क्रियाशील होना है। कृष्ण गोप बालकों के साथ खेलते है और खेलने मे हार जाते है। बार-बार हारने पर खीझकर दाँव देने के लिये तैयार नही होते है। भक्त कवि भी गोप बालको के साथ भगवान कृष्ण की इस बाल-क्रीडा मे सम्भवत' खेल रहा था तभी तो वह दाँव न देते देखकर कह उठता है—

खेलन मैं को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाँति पाँति हमते बड़ नाही, नाही बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें जातै अधिक तुम्हारी गैयाँ।
रूहठि करै तासों को खेलै, रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्योइ चाहत, दाऊँ दियौ करि नन्द—दुहैयाँ ॥[6]

खेलने में कौन किसका गुसाई है? भगवान कृष्ण हार गये और श्रीदामा जीत गये। इस पर जबरदस्ती रोष क्यो करते हो? न तो तुम्हारी जाँति-पाँति हमसे कुछ बडी है और न हम तुम्हारी छाया में रहते है। तुम अति अधिकार गाय

इसलिए दिखाते हो कि तुम्हारे यहाँ कुछ अधिक गाये है। जो रूठता है उसके साथ कौन खेलेगा ? भक्त कवि सूरदास की वर्णन कुशलता को देखकर हम तो कहते है कि स्पष्ट आँखो से देखकर कोई भी कुशल कवि ऐसा सुन्दर गीतिमय वर्णन नही कर सकता है। यह क्रीडा तो भक्त के हृदय मे निरन्तर होती रहती है। इसका अवलोकन एक ओर वह प्रज्ञाचक्षु मे तो करता ही है दूसरी ओर क्रीडा का एक-एक अंश उसके हृदय एव मानस की गहराई में अनुभूतिगत हो जाता है। तभी तो उसका वर्णन इतना सहज प्रवाहमय एवं गीतात्मकता से युक्त है।

बालक मनोविज्ञान के ज्ञाता सूर ने उपर्युक्त पद में हार मे कृष्ण के दाँव न देने तथा अन्य बालको का कृष्ण से गुसैयाँ न होने की बात कहना अत्यन्त स्वाभाविक है। यही कारण है कि पद मे सहजता अत्यधिक आ गयी है। अन्तिम दो पक्तियो मे भक्त कवि का कथन वर्णनात्मक हो जाता है। किन्तु उसमे भी भाव की समदोलता बनी रहती है। इसी सन्दर्भ में एक अन्य पद उल्लेखनीय है—

हरि तबै आपनि आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छिपाने जहाँ तहाँ गए भगाई।
कान लागि कहेउ जननी यशोदा, वा घर में बलराम।
बलदाऊ को आवन दैहौं, श्रीदामा सो है काम।
दौरि दौरि बालक सब आवत, छुवत महरि के गात।
सब आए, रहे सुबल श्रीदामा हारे अब के तात।
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यो श्रीदामा जाइ।
दै है सौंह नन्द बाबा की, जननी पै लै आइ।
हँसि हँसि तारी देत सखा सब भए श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहति यशोदा जीत्यो है सुत मोर॥[7]

आँखमिचौनी खेल का इससे सुन्दर चित्र और कहाँ मिल सकता है जहाँ कृष्ण ग्वाल सखाओ के साथ तो खेल रहे है, साथ ही माँ यशोदा भी इस खेल मे उनकी सहायता कर रही है। भक्त कवि की वर्णन शैली की विशेषता इस गीति-पद मे देखते ही बनती है। हरि के आँख मूँदने से लेकर कान लागि कहेउ जननी—जिस आँखमिचौनी के खेल और इसमे माता यशोदा द्वारा सहायता करने का कवि ने प्रसंग उठाया हे उसकी पुष्टि अन्तिम पक्ति—जीत्यो है सुत मोर-मे की है। बीच-बीच मे भी आँखमिचौनी खेल को पूर्ण करने हेतु "गह्यो श्रीदामा जाइ", "जननी पै लै आइ" तथा "भए श्रीदामा चोर" आदि की क्रीडा का उल्लेख किया है। अर्थात प्रथम पक्ति टेक मे जिस आँखमिचौली खेल को प्रारम्भ किया है उसे क्रमबद्ध रूप मे उसने अन्तिम पक्ति मे पूर्ण किया है। गीति की यह सुगठता एक-एक पक्ति से अन्त तक बढती ही जाती है। क्रीड़ा से युक्त सख्य-भाव की तीव्र निष्पत्ति होती है। भाषा एवं कथन शैली काव्य सगीत से युक्त है यह सभी मिलकर जहाँ

सख्य-भाव की व्यजना करते है वही कवि की इसी भाव दशा की आत्माभिव्यक्ति उत्कृष्ट गीति-रचना में सहायक है। सम्पूर्ण गीति-पद में यदि अनुभूति की कमी होती तो चित्रण इतना स्पष्ट एवं सटीक न होता। इस प्रकार गीति की अनुभूति-मयता भी इस पद में पूर्णतया प्राप्त होती है।

बाल-क्रीडा का वर्णन करने में चतुर्भुजदास भी कुशल हैं। कृष्ण और बलराम एक जगह बैठे है। कृष्ण बलराम से कह रहे हैं कि आओ नाप कर देखे कि तुम्हारी चुटिया बडी है कि मेरी। तिनका लेकर चुटिया नापते है तया अपनी कुछ बडी बताते हुये सभी ग्वालो से कहते है कि ऐसी किसी की नही है। अपनी चुटिया के घनी और अच्छी होने का कारण बताते हुए कहते है कि मुझे मेरी माँ दूध पिलाती है इसीलिए इतनी घनी हो गई है। अन्तिम पंक्ति मे अपनी ओर से कवि कहता है कि यह कहकर आनन्दमग्न होकर प्रभु घूम-घूम कर नाचते है—

चुटिया तेरी बड़ी किधौं मेरी।
अहो सुबल वेठ, भैया हो हम तुम मापैं इकबेरी।।
लै तिनका मापत उनकी कछु अपनी करत बड़े री।
लैकर कमल दिखावत ग्वालन ऐसी काहु नके री।।
मो को मैया दूध पियावत तातें होत घनेरी।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर इहि आनन्द नाचत दै दै फेरी।।[8]

बाल मनोविज्ञान का अत्यन्त सुन्दर वर्णन भक्त कवि ने किया है। यह पहले कह चुका हूँ कि भक्तो का वर्णन अनुभूतिक है। चतुर्भुजदास भी अष्टछाप भक्तो मे से थे। यही कारण है कि कवि ने भक्ति-भावना की सख्यात्मक अनुभूति के अनुकूल गीति-पद की रचना की है। चित्र की स्वाभाविकता पद की अन्तिम पक्ति से पूर्णतया अभिव्यजित होती है। बालक दूसरे बालक से अपनी वस्तु को अच्छी सिद्ध करना चाहता है। और जब 'वह किसी भी प्रकार अच्छी सिद्ध कर लेता है तो अत्यधिक प्रसन्न होता है। सम्पूर्ण पद मे बालक के इसी मनोविज्ञान को केन्द्र मे रखकर पद की सृष्टि की गई है। सम्पूर्ण पद गीति के सर्वथा अनुकूल है। आदि से अन्त तक भाव एक दूसरे के साथ गुथा हुआ चलता है। अत. भाव का बिखराव नहीं आया है। समभाव की यह स्थिति एक ओर जहाँ भक्ति गाम्भीर्य को प्रकट कर देती वही दूसरी ओर उत्कृष्ट गीति-पद के मृजन मे पूर्ण सहायक है।

गोचारण प्रसंग मे कृष्ण भक्तो की सख्य भक्ति और अधिक प्रगाढ़ रूप मे व्यक्त हुई है। सूर एवं परमानन्द के काव्य मे विशिष्टता के साथ इस प्रसंग का वर्णन मिलता है। सख्य-प्रेम के वशीभूत हो सूर के भगवान सखा भक्तो के साथ वृन्दावन मे धेनु चराते है। सब ग्वाल सखाओ को साथ लेकर चैन करते हुये खेलते हैं। को गाता है और कोई मुरली बजाता है तथा कोई विषाण और वेणु बजाता है। को नृत्य करता है और कोई ताल देकर उछलता है इस प्रकार सुभग सघन कुंज

ब्रज के बालको की सेना जुटी हुई है, जहाँ विविध पवन बहती है। अन्त मे कवि की आत्माभिव्यक्ति है कि सूरदास के श्यामल भगवान कृष्ण अपने धाम को बिसराकर यह सुख लेने आते है—

चरावत वृन्दावन हरि धेनु।
ग्वाल सखा सब सग लगाए, खेलत है करि चैनु॥
कोउ गावत कोउ मुरलि बजावत, कोउ विषान कोउ वेनु।
कोउ निरतत कोउ उघटि तार दै, जुरी ब्रज-बालक-सेनु॥
विविध पवन जहँ वहत निसदिन, सुभग कुंज वन ऐनु।
सूर स्याम निज धाम विसारत आवत यह सुख लैन॥[9]

इस पद मे न तो कोई चित्र उपस्थित किया गया है और न किसी विशेष अनुभूति का वर्णन है। किन्तु वृन्दावन की सुखदायिनी स्थिति का वर्णन किया है। जहाँ भगवान कृष्ण भी अपने सुख-स्वर्ग को भूलकर धेनु चराते आते हैं। केवल वृन्दावन माहात्म्य का वर्णनात्मक कथन है, किन्तु यह वर्णनात्मकता कही भी शिथिल नही है और न लम्बे-लम्बे वर्णनात्मक प्रसंगो की भाँति अनुभूति से बहुत हटकर चलती है। वरन इस गीति-पद में तो भाव की अन्विति आदि से अन्त तक संगीतात्मकता एवं पद की सक्षिप्तता के कारण बनी रहती है। अन्तिम पंक्ति मे भक्त की भावाभिव्यक्ति पद की वर्णनात्मकता को समाप्त सी कर देती है इसी प्रकार एक आठ पक्तियो के पद मे गौ को इन्द्रियो का प्रतीक मानकर भक्त-कवि सूर कहते है—

पाई पाई है रे भैया कुज पुंज मैं टाली।
अबकै अपनी हटकि चराबहु, जै है भटकी घाली॥
आवहु बेगि सकल चहुँ दिसि तैं कत डोलत अकुलाने।
सुनि मृदु-बचन देखि उन्नत कर, हरपि सबै समुहाने॥[10]

कृष्ण की गाये तो उनके वश मे है ही, मित्रो की भटकी हुई तथा "हरिहा" गायो को बुलाकर अपनी गायों के साथ चराते है। गोरूप कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों के निरोध मे मानों भगवान सख्य अनुग्रह से भक्तो के सहायक होते है। इसीलिए मित्रो की खोई हुई गायों को ढुढवाकर कृष्ण उन्हे चेतावनी देते हुए कहते है— "भैया मुझे गायें कुज मे मिल गई, इस सघन बन मे अपनी-अपनी गायों को सावधानी से चराओ। तुम कही फिरते हो और तुम्हारी गायें कही—और।" कृष्ण के इन वचनों में इन्द्रिय-निरोध की चेतावनी है। यहाँ सूर ने गोप-बालको के माध्यम से इन्द्रिय-निरोध का कथन किया है। किन्तु विनय के पद मे एक स्थल पर अविद्या से भ्रमित अपनी मानसिक वृत्ति को अन्योक्ति द्वारा हरिहा गाय कहते हुए कृष्ण से प्रार्थना की है कि वे मित्र-अनुग्रह के साथ उनकी गायो को भी अपने गोधन में मिलाकर चरा लें क्योंकि उनसे वह गाय सभलती नहीं [11] इस प्रकार के कथन में

वर्णनात्मकता आ जाती है किन्तु यह वर्णनात्मकता भाव-प्रधान है। भक्ति के भाव से ओत-प्रोत होने के कारण गीति-पद का सुन्दर उदाहरण यह बन गया है।

गोचारण-प्रसंग मे कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन भक्तो ने किया है। गायो के बीच खडे हुए भगवान कृष्ण की शोभा का क्या कहना ? मुरली बजाते हुए स्यामल-स्याम सभी को मोहित कर लेते है—

> कान्ह ठाढ़े री गाइन के गन में।
> कहा कहौं अनुपम शोभारी राजत मानों।
> श्याम घन शरद घनन मे ।।
> वशी बजावत गावत मधुरैं सुर सुधि न।
> रही सुन काहू तन मन में ।।
> श्री वृन्दावन प्रभु की छवि निरखत कोउ न।
> रहत अपने पनन में ।।[12]

इस प्रकार के पदो मे अनुभूति के स्थान पर भावमयता अधिक उपलब्ध होती होती है। रूप-सौन्दर्य में तन्मय कर देने का जितना भाव है वह अन्यत्र नही मिलेगा। यही कारण है कि भक्तो ने अवसर खोजकर रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है। इस पद मे भी गोचारण के समय कृष्ण माधुरी को देखकर भाव-विह्वल कवि ही नहीं वरन "कोऊ न रहत अपने पनन मे।" गायो के बीच बंशी बजाते हुये कृष्ण की शोभा से आत्मविभोर होकर की गई अभिव्यक्ति अत्यन्त गीतिमय है।

भक्तों के सखा भगवान को षटरस व्यंजनो मे वह स्वाद नही आता, जो उनको ग्वाल सखाओं के जूठे कौर, सुदामा के चावल, तथा विदुर के साग मे आता है सखा-प्रेम मे बाँधकर वे अपनी महत्ता भूल जाते है, कही वे कौर छीन-छीन कर खाते हैं, कही मीठी दधि को बाँट-बाँट कर खाते। छाक इनको अत्यधिक स्वादिष्ट लगता है। अत. घर से छाक ही मँगवाते है तथा भूख लगने पर ग्वालों के साथ सघन छाँह मे बैठकर स्वाद ले लेकर हँसते एवं हंसाते हुये खाते हैं। यथा—

> ग्वालन कर ते कौर छुँड़ावत।
> जूठो लेत सबन के मुख कौ अपने मुख लै नावत।
> षटरस के पकवान धरे सब तामें नहिं रुचि पावत।
> हा हा करि-करि माँगि लेत है, कहत मोहि अति भावत।
> यह महिमा ऐई, पै जानै आपु बँधावत,
> सूर स्याम सपने दहि दरसत, मुनि जन ध्यान लगावत ।।[13]

सूरदास के इस पद में "करते कौर छुडावत" मे जो "जूठो लेत" का भाव है उसकी पूर्णाभिव्यक्ति "कहत मोहि अति भावत" मे होती है। यहाँ गीति की "चरम अनुभूति" होती है। यह चरम अनुभूति गीतिपद में वर्णित विषय-वस्तु के से होती है कौर छुडावत की क्रीडा का अ त मोहि अति भावत से

होती है। साथ ही यह भी भक्त कवि व्यंजित करता है कि षट्‌रस व्यंजन रखे रह जाते है परन्तु उनमे रुचि अथवा स्वाद न पाकर, जूठे कौर में भगवान कृष्ण को स्वाद मिलता है। यही भावाभिव्यक्ति एक ओर जहाँ सख्यत्व की पुष्टि करती है वही गीति की रागात्मक अन्विति को बनाये रखती है। अन्तिम दो पंक्तियो मे कवि के मनोभावों के अनुकूल भक्त्यात्मक आत्मकथन है। अत गीति की पूर्ण कलात्मकता से यह पद पूर्ण होता है। इसी प्रकार परमादन्ददास का एक पद दर्शनीय है—

> आजु दधि मीठो मदन गोपाल।
> भावत मोहिं तिहारी झूठो चचल नयन विशाल।
> आने पात बनाये दोना दिये सबन को बाँट।
> जिन नहिं पायो सुनो रे भैया, मेरी हथेली चाट।
> बहुत दिनन हम बसे कुमुद बन कृष्ण तिहारे साथ।
> ऐसो स्वाद हम कबहुँ न चाख्यो मुन गोकुल के नाथ।
> आपुन हँसत हँसावत ग्वालन मानस लीला रूप,
> परमानन्द प्रभु हम सब जानत तुम त्रिभुवन के भूप।[14]

परमानन्द के इस पद में "दधि मीठो" की चरम अनुभूति "ऐसो स्वाद हम कबहुँ न चाख्यो" से होती है। मीठी दही के चरम स्वाद को पाने के लिये साधन रूप में, मध्य की चार पंक्तियाँ है। इस गीति पद की द्वितीय पक्ति एवं पाँचवी पक्ति से भाव में शिथिलता आती है किन्तु टेक मे उठाये गये मीठी दही के मूल भाव को दोना बनाने, सबको बाटने तथा जिन्हे नही मिला उनको हथेली चाटने के लिये कहने मे कवि अत्यन्त पुष्ट रूप से गीतिभाव को बनाये रखता है। यही कारण है कि मूल भाव बिखर नही सका है तथा गोकुल के नाथ को स्वाद की अतुलनीयता बताकर बिखरते हुये भाव को सफलतापूर्वक समेट लिया है। यह इस गीतिपद की अन्यतम विशेषता है। भगवत लीलानुभूति मे ही विचरण करने वाले भक्त की आत्माभिव्यक्ति "तुम त्रिभुवन के भूप" मे स्पष्ट ही है। कुम्भनदास के एक पद मे चरमानुभव का निपेक्ष दृष्टिगत है किन्तु सख्य भाव के माध्यम से मूल भाव की तीव्र निष्पत्ति प्रथम पक्ति से अन्तिम पंक्ति तक लक्षित होती है। यथा—

> गहरी सघन स्याम ढाक को छाह बैठे,
> आई सब छाक मिलि काहे को करत अवारि।
> उमडि घुमडि लूमि झूमि चहुँ दिसि ते घटा आई,
> निधरक भये डोलत रहो निहारि।
> हा हा कहि भली भाँति टेरी ग्वाल कीन्हि पाति,
> अरजुन तुम लेहु भैया पनवारे देहु डारि।
> कुम्भनदास गोवर्धन धरन लाल छाक बाटि-
> जै मन नागे आ गया दीनी तिही वारि[1]

सम्पूर्ण पद में ढाक की छाँह मे बैठकर गोप सखाओं के साथ छाक खाने का वर्णन है। ढाक की छाँह मे बैठना, अन्य सखाओ को पुकार कर बुलाना, इसी बीच घटाओ का उमड-घुमड़ कर आना, सभी ग्वालों का हँस-हँस कर एक दूसरे को बुला-बुलाकर छाक बाँट-बाँट कर खाने मे पूरे गीति-पद का वर्णन सौन्दर्य है। प्रत्येक पंक्ति एक दूसरी पंक्ति से भाव के माध्यम मे, गूँथी हुई है। शिथिलता अथवा बिखराव नहीं मिलता। गीतिकार की सख्य भावनाजन्य अभिरुचि के अनुकूल इस पद का निर्माण हुआ है। भक्त कवि अपनी इस प्रकार की व्यंजना को संगीतात्मक आश्रय देकर व्यक्त करने मे पूर्ण सफल रहा है। इसी प्रकार चरमानुभूति रहित एक गीति-पद गोविन्द स्वामी का उल्लेखनीय है, जिसमें गोवर्धन की गोद मे, सखा मण्डली के मध्य मे बैठे हुए, माता यशोदा के पुत्र का वर्णन है—

बैठे गोवरधन गिरि गोद।
मण्डली सखा मध्य बल मोहन खेलत हंसत प्रमोद ॥
भई अबार भूख जब लागी चितये घर की कोद।
गोविन्द तहाँ छाक लै आयो पठई मात जसोद[16] ॥

देर तक खेलते रहने पर भूख लग आई है और तभी माता यशोदा ने छाक भेज दिया। केवल इतने ही भाव की अभिव्यक्ति कवि इस पद मे करता है। राग की अन्विति में पद की संक्षिप्तता सहायक है। इस गीति-पद की यही प्रमुख विशेषता है।

गीतिकाव्य में कवि के व्याकुल हृदय की गुजार अभिव्यक्त होती है। सख्य-भाव के पद में कवि हृदय की यह व्याकुलता गोप सखाओ के माध्यम से प्रत्यक्ष होती है। भक्त कवि की व्याकुलता उस समय और अधिक बढ़ जाती है जब उसका मन मुरली की सुरीली, मोहक एवं आत्मविभोर करने वाला स्वर सुनना चाहता है। सुनने की आस लगाये-लगाये जब वह व्याकुल हो जाता है तो उससे नही रहा जाता और वह श्रीकृष्ण से सखाओं के माध्यम से मुरली बजाने के लिए कहता है। इस मुरली वादन से न केवल कवि वरन सभी सखा भी अत्यधिक प्रभावित होते है। यही कारण है कि कृष्ण के साहचर्य से अपने को धन्य मानते है। भक्त को भी मौका मिल ही जाता है और वह उनके बीच बैठकर उन्ही के मुख से कहलवाता है—

छबीले मुरली नयकु बजाव।
बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि, अधर-सुधारस प्याउ[17] ॥

"छबीले तनिक मुरली बजाओ। हमारा जन्म दुर्लभ है, वृन्दावन दुर्लभ है, प्रेम-तरंग दुर्लभ है, नही मालूम श्याम तुम्हारा संग कब होगा, सुबल, श्रीदामा, सुदामा विनती करते हैं, श्याम कान देकर सुनो, जिस रस के लिए सनकादि, शुकादि तथा अमर-मुनि ध्यान धरते है। तुम फिर गोप-वेष कब धारण करोगे और गायो के साथ फिरोगे ? तुम कब गोकुल के नाथ होकर छाँछ छीनकर खाओगे ?

राग गौरी मे रचित यह पद 32 पक्तियो का है किन्तु सम्पूर्ण पद मे कही भी अनुभूतिमय भाव की अनुगूँज कम नही होती वरन् अत्यन्त सघन है। प्रत्येक पंक्ति सहजोद्गार की स्वाभाविकता एवं सहजता लिये हुए है। प्रथम पंक्ति मे ही भक्त कवि के हृदय की व्याकुलता प्रकट हो जाती है। इस व्याकुलता की अभिव्यक्ति वह गोप सखाओं के माध्यम से करता है। यही कारण है कि इस पद में उसके भक्तिजन्य सरल हृदय की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है जो पाठक अथवा श्रोता को सहज सम्वेदित करती है। तभी तो डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पद का विवेचन करते हुए लिखा है —"इस गान में ग्वाल बालो को उपलक्षण करके सूरदास की आत्मा अपनी आकुलता प्रकट करती है।" ''' '''''अगर हमसे कोई पूछे कि सूरसागर की "सेन्ट्रल थीम" क्या है तो बिना हिचकिचाहट के चिल्ला उठेंगे—"छबीले मुरली नेकु बजाऊ" नि.सन्देह सखाओं के व्याज से सूर ने स्वय अपने मनोभाव को प्रकट किया है।"[18]

सूर की सख्य-भक्ति का प्रकाशन सूरसागर के दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध मे सुदामा-दारिद्र्य-भजन नामक प्रसंग मे अति भावुकता के साथ हुआ है। इस प्रसंग मे भक्त कवि ने सख्य भक्ति की महत्ता का उल्लेख करते हुए भगवान को सबसे बडा मित्र कहा है। दुर्बल तन, मलिन वसन, अत्यन्त दीन तथा क्षीण वस्त्र धारण किये हुए सुदामा मित्र भाव मे कृष्ण के पास गये। कृष्ण शैया पर लेटे हुए थे। रुक्मिणी चंवर ढल रही थी। सुदामा को दूर मे देखकर व्याकुल होकर उठे तथा उनसे मिलते ही उनके नेत्रों मे नीर भर आया—

> दूरहि ते देखे बलबीर।
> अपने वालसखा सुदामा, मलिन वसन अरु छीन सरीर।
> पौढे हुते प्रयक परम रुचि रुक्मिणी चमर डोलावत तीर।
> उठि अकुलाइ अनमने लीने मिलत नयन भरि आये नीर॥
> × × ×
> दरसन परिसि दृष्टि सम्भाषन रँही न उर अंतर कछु पीर।
> सूर सुमति तन्दुल चबात ही कर पकरयो कमला भई भीर[19]॥

चित्र की इतनी सजीवता का उल्लेख कोई प्रत्यक्षदर्शी ही कर सकता है। मित्रता का सघन भाव "दूरहि ते देखे बलबीर" की पहचान मे व्यजित है। बाल सखा को दूर से ही देखकर पहचान जाना सख्यता का निदर्शन है। आगे की पक्तियो मे परिवेश और व्यक्तित्व के विरोधाभास से यह मित्रता और गहराती हुई व्यंजित होती है। "उठि अकुलाइ" में भाव अधिक आरूढ होता हुआ "नयन भरि आये नीर" मे करुण आर्द्रता का उद्रेक करता है। इससे आगे "दरसन परसि दृष्टि सम्भाषन" मे एक-एक क्रिया के माध्यम से इस दुर्लभ सख्यत्व को उभारते हुये तन्दुलि चबाने की चूडान्तता मे कमला को भयभीत दिखाकर कवि प्रभुता को इस

ममत्व पर अर्पित और तिरस्कृत कर देता है। यही करुणा मिश्रित सख्य भाव की इति और उपलब्धि है, जो परम गीतात्मक बन गई है। यह विशेषता सूरदास के अनेको पदो मे दृष्टिगत होती है।

यद्यपि परमानन्ददास, कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी आदि भक्तो ने भी सख्यभाव के पदो की रचना की है किन्तु इस भाव के गीति पदों का जितना सुन्दर उन्मेष सूर के पदो मे मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी के पदो में भी यह सुकुमारिता एवं सुडौलता नही उपलब्ध होती। परमानन्ददास कुछ अंशों तक सूर के निकट पहुँच सके है। अन्य भक्त कवि जिस भावधारा मे अधिक रमे है उसके ही गीतिपदो का सम्यक वर्णन कर सके हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि अन्य भक्त कवियों ने सख्य भाव के पदों का या तो वर्णन नही किया है या उनका वर्णन वर्णनात्मकता के निकट है, गीति के सम्वेदना के नही। गोविन्द स्वामी द्वारा रचित सख्य भाव का एक पद द्रष्टव्य है जिसमे केवल वर्ण सगीत से एक प्रकार की वर्णनात्मक गीतिमयता आ गई है किन्तु अनुभूति का प्रश्न नही उठता---

राग रामकली।
निर्तत मोहन रसिक सखान-सहित, ग्र ग्र ततत थेई थेई तत थेई थेई तता।
टिपारो सिर पीत लाल कछानी बनी किंकिनी झनझनात गावत सुरसता।
गोविन्द प्रभु गोप बालक संग जै जै जै करत प्रे आतुरता।।[02]

अस्तु सख्य भाव के गीति-पदो मे गेयता, भाव की अन्विति, रागात्मकता आदि गीति के सभी तत्व मिलते है।

1---अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग-दो, दीन दयाल गुप्त, पृ०-610.

2---गीतावली, पद-1/40

3---तुलसी रचनावली, बजरंगवली विशारद, पद-112.

4---तुलसी काव्य मीमासा, डा० उदयभानु सिंह, पृ०-282.

5---वही, पृ०-283

6---सूरसागर, सभा, दशम् स्कन्ध, पद-863.

7---वही, पद-858

8---अष्टछाप परिचय, प्रभु दयाल मीतल, पद-15

9---सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-1066.

10---वही, पद-1121.

11---वही पद 51

12—श्री वृन्दावन वाणी, सर्वेश्वर वर्ष-1, संख्या-3, पद-6, पृ०-6.

13—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-1086

14—परमानन्ददास पद-सग्रह, दीन दयाल गुप्त, पद-432

15—कुम्भनदास (अष्टछाप परिचय), काकरौली, पद-176, पृ०-68

16—अष्टछाप परिचय, प्रभु दयाल मीतल, पद-15, पृ०-249

17—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-1834

18—सूर-साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-129.

19—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-4228.

20—गोविन्द स्वामी पद-संग्रह, दीन दयाल गुप्त, पद-17.

(ग) माधुर्य भाव के गीति-पद

किसी भी कविता की आलोचना करने से वह शब्दों का समूह एवं वाग्जाल प्रकट होगी किन्तु जो सहृदय है, काव्य रस को पहचानते है उनको वह शब्दसमूह एव वाग्जाल माला की भांति पिरोया हुआ एवं सुन्दर प्रतीत होगा। प्रेम का आस्वादन भी उसी तरह मूल स्वादवत् एवं अनिर्वचनीय है। संसार का कण-कण एक दूसरे से आकर्षित है, प्रेम मे बंधा है। प्रेम की संज्ञा भक्ति के अन्तर्गत माधुर्य है। इस माधुर्य के विषय मे डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते है—"आत्मा जिस रस का अनुभव करती है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस है, जिसका नाना स्वभावो के भक्त नाना भाव से आस्वादन करते है। मधुर रस उसी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है।"[1]

मधुर भाव या प्रेमभाव की भक्ति के उपासको ने लौकिक व्यवहार मे मानव के जितने भी सम्बन्ध हो सकते है उन सबका अलौकिक धरातल पर वर्णन किया है। लोक प्रेम के विविध सम्बन्धों को भी उन्होने ईश्वर प्रेम से सम्पृक्त कर शुद्ध एवं परिष्कृत कर भाव विह्वल वर्णन किया है। भक्तिशास्त्र के आचार्यो ने ऐन्द्रिक विषय-वासनाओ मे लिप्त व्यक्तियो को सासारिक विषय-वासनाओ से मुक्ति हेतु ईश्वर को ही उनकी विषय-तृप्ति का साधन बताया। सांसारिक वस्तुओ के सम्पर्क से जो सुख एवं आनन्द मानव अपनी इन्द्रियों द्वारा अथवा मन द्वारा लेता है उस सुख एवं आनन्द का मूल श्रोत परमात्मा ही है।

कामरूपा अथवा सम्बन्ध रूपा प्रेम का रूप स्त्रीपुरुषजन्य रति का होता है। भक्तिशास्त्र मे इसी रति-भाव-जन्य आनन्द को मधुर-रस कहते हैं तथा काव्यशास्त्र के शब्दो मे इसे ही शृङ्गार रस कहते हैं। जिस प्रकार की रस-सामग्री भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग की शृङ्गार रस मे होती है, उसी प्रकार की सामग्री मधुर रस में होती है। शृङ्गार-रस और मधुर-रस में अन्तर केवल इतना है कि जहाँ शृङ्गार का आलम्बन लोकनायक अथवा लोक-नायिका होते है वहाँ मधुर-रस का आलम्बन ईश्वर अथवा ईश्वर का कोई अलौकिक रूप होता है। चैतन्य सम्प्रदाय के रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ हरिभक्ति रसामृत सिन्धु में भक्ति-रस के विवेचन के अन्तर्गत इस मधुर-रस का भी निरूपण किया है।[2] व्रज, कृष्ण तथा उनकी प्रियाये (भक्त) इस रस के आलम्बन है, मुरली का स्वर, सखा-सखी आदि इसके उद्दीपन विभाव है। स्वेद, रोमान्च प्रकम्प, स्वरभंग, वैवर्ण्य, अश्रु आदि इसके अनुभाव है तथा निर्वेद, हर्ष आदि मधुर रस के व्यभिचारी भाव हैं। भगवान मे रति इस रस का स्थायी भाव है। शृङ्गार की तरह ही मधुर भाव के दो पक्ष हैं—

1—सयोग या सम्भोग।
2—वियोग या विप्रलम्भ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य मात्र का सर्वाधिक व्यापक भाव रति-प्रेम है। प्रीति के लिये जितने सम्बन्ध है उनमें स्त्री पुरुष के प्रेम में अधिक आकर्षण है। यही कारण है कि आध्यात्मिक साधकों ने जहाँ दास्य, वात्सल्य एवं सख्य को साधन मार्ग बताया वहीं स्त्री-पुरुष-प्रेम को भी साधन मार्ग बताया। लोकानुभूति स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की व्यापकता को देखकर ज्ञानी साधकों ने भी ईश्वर के प्रति अपने आध्यात्मिक सम्बन्ध की अनुभूतियो को लौकिक शृङ्गार की भाषा तथा अन्योक्ति में प्रकट किया है। भक्तिशास्त्रियो ने मधुर-रस को भक्ति का मुख्य रस माना।

कृष्ण भक्तों के साहित्य को आलोच्य दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि इन भक्तों की मानसिक वृत्ति मधुर प्रेम मे अधिक रमी है। भक्ति-साहित्य में मधुर प्रेम की जितनी अवस्थाये होती है उन सबका सागोपाग वर्णन भक्तिसाहित्य मे उपलब्ध होता है। सभी कृष्णभक्तो का चरम लक्ष्य यही है कि वे भगवान कृष्ण के सहवास मे गोपीभाव से अखण्ड आनन्द लाभ करें। यह आनन्द सयोगात्मक एवम् वियोगात्मक दोनो प्रकार का है। किसी-किसी सम्प्रदाय में दोनो पदो को मान्यता है तो किसी सम्प्रदाय में केवल संयोग पक्ष की। भक्त जिस सम्प्रदाय से सम्बद्ध रहा है उसी के अनुरूप उसने भावाभिव्यक्ति की है। मधुर-भाव की भक्ति हेतु भगवान भक्त के बीच नायक-नायिका अथवा स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध होना अति आवश्यक है। यही कारण है कि प्रेम के रहस्यानुभव की अभिव्यक्ति हेतु सूफी सन्तो ने जहाँ आत्मा को पुरुष और परमात्मा को स्त्री मानकर अपने हृदयगत अनुभूतियो को व्यक्त किया, वहाँ भारतीय भक्तों ने जीवात्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष मानकर प्रेम की लौकिक अनुभूतियो को अलौकिक अनुभूति का आवरण देकर वर्णन किया। भक्तो की इसी स्त्री भाव का परिचय उनके गीतात्मक पदो से चलता है यथा :—

1······प्यारे पैयाँ परन न दीनी,
जोइ जोइ विधा हुती मेरे मन, एक छनक में दूरि जो कीनी।
जो सौतिन मोसो अनख करतहीं, देखत आनंद भीनी।
नन्ददास प्रभु चतुर सिरोमनि, प्रीति छाप कर लीनी॥[3]

2··· ··देखि जीऊँ भाई नैन रँगीली,
ले चल सखी तेरे पाँव लगों, जहाँ गोवरधन धन छैल छवीलो।
×　　　　×　　　　×　　　　×
नखसिख सीव सुभगता सीवा सहज सुभाइ सुदेस सुही लो,
कृष्णदास प्रभु रसिक मुकुट मनि सुभग चरित रिपुदमन हठीलो।[4]

भक्तिकालीन भक्तो का समस्त साहित्य सहज अन्त: प्रेरणा का परिणाम है। जहाँ तुलसी ने माधुर्य वर्णन मे मर्यादा का विशेष ध्यान रखा है वहाँ कृष्ण भक्तो ने उन्मुक्त हृदय से अपने प्रेम　　　　　　८　से जोड　तुलसी के राम का समस्त

जीवन आदर्शात्मक होने के कारण प्रेम के पक्ष में भी अत्यन्त संयमित रहा। महाकवि तुलसीदास ने उसे भावनामय आदर्श मे ढालकर मार्मिकता के साथ हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। रामभक्त तुलसीदास का संयोग शृंगार वर्णन तो प्रात.कालीन कमल पर पड़े ओस बिन्दु के समान स्वच्छ और अनुरागमय है जो प्रेम की शान्त और स्निग्ध धारा का प्रवर्धन करती हुई अत्यन्त संयमित चित्रो का उद्घाटन करती है। शृंगार के जिस रूप का वर्णन तुलसी ने किया है उसमे बाह्य पक्ष पर कवि ने उतना ध्यान नही दिया जितना कि आन्तरिक पक्ष पर। यही कारण है कि तुलसी के गीति पदो मे मर्यादित शृंगार होते हुये भी गीति की सहजता एवं रागात्मकता विद्यमान है। राम वनगमन प्रसंग में तुलसीदास ने जिस शृंगारिक मर्यादा का परिचय दिया है वह अतुलनीय है। वन-मार्ग मे चलते हुये राम-लखन एवं सीता को ग्राम बधूटियाँ देखती है और सीता से पूछती है कि ये सांवले कुँवर कौन है ? कवि अपनी कविता को मर्यादा की सीमा में बाँधता हुआ अत्यन्त हृदयग्राही चित्र उत्पन्न करता है—

सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी है, जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन, दे सैन, तिन्हे समुझाई कछु, मुसुकाइ चली॥
तुलसी तेहिं औसर सोहै सबै अवलोकति लोचन लाहु अली।
अनुराग तडाग में भानु-उदै बिगसी मनो मंजुल कज-कली॥[5]

इस कविता मे कवि प्रतिभा का प्रकर्ष लक्षित होता है। एक ओर जहाँ गीति-कविता की मार्मिकता, चित्रोपमता के साथ सहजता एव कथन की स्वाभाविकता प्राप्त होती है वही शृंगार का वर्णन अत्यन्त संयम एव लज्जा के बन्धन मे बँधकर हुआ है। प्रत्येक चित्र मे भावमयता एवं सरलता दृष्टिगत होती है। वर्णन मे कुण्ठा का कहीं नामोनिशान नही है। शृंगार के चित्रों पर मर्यादा का अंकुश लगा होने के कारण अनेक स्थलो पर शृंगार वर्णन केवल भाव वर्णन रह गया है। रस को उद्दीप्त करने वाले उपकरण का अभाव खटकने लगता है। किन्तु भावात्मक-रस-वर्णन में कही भी त्रुटि नही आने पाई है—

बैठे रामलखन अरु सीता।
पंचवटी बर परनकुटी तर कहै कछु कथा पुनीता॥
× × ×
सोहति मधुर मनोहर मूरति हेमहरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि, बसै तुलसी उर आछै॥[6]

इस पद में कवि कथासूत्र के माध्यम से प्रेम की भावाभिव्यक्ति करता है केवल शृंगारजन्य भाव प्रकाशन उसका उद्देश्य नही है। मर्यादा की कठोर सीम के अन्तर्गत रहते हुये भी शृंगार के चित्र को स्पष्ट कर देता है। यह कवि व काव्य प्रतिभा का द्योतक है वस्तुत गीति के अन्तर्गत सयम की सीमा केव

तुलसीदास कृत कृष्ण गीतावली के पदों मे देखने ही बनती है। स्वच्छन्द एव विभिन्न संयोगात्मक लीलायुक्त चरित्र वाले कृष्ण के संयोग श्रृंगार का वर्णन जब कवि करता है तो कही भी उच्छृंखलता या अपनी सीमा से बाहर कदम रखता हुआ नही दृष्टिगत होता है—

आज उनींदे आए मुरारी।
आलसवंत सुभग लोचन सखि छिन मूँदत, छिन देत उघारी।
मनहुँ इंदु पर खंजरीठ दोउ कछुक अरुन विधि रचे सँवारी।
कुटिल अलक जनु मार फंद कर गहे सजग ह्वै रह्यो सँभारी।

× × ×
× × ×

जदुपति मुखछवि कमल कोटि लगि कहि न जाइ जाके मुखवारी।
तुलसीदास जेहि निरखि ग्वालिनी भजी तात पति तनमन बिसारी ।।[7]

इस पद में संयोगात्मक भाव प्रकाशन किया गया है। पद का मूल भाव यद्यपि रति है तथापि उत्प्रेक्षा की भरमार से भाव ऐक्य स्थिर नही रह पाता है। गीतिकाव्य के सभी तथ्य इस पद्य के अन्तर्गत उपलब्ध होते है। किन्तु इस गीतिपद मे उत्प्रेक्षा की अधिकाधिक प्रयोग के कारण गीति-भावना दब सी गई है तथा रागात्मकता भी रूप-सौन्दर्य के वर्णन मे वर्णनात्मकता के आ जाने से बिखर-सी गई हे। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की गीति-रचना सप्रयास एवं प्रयोजन हेतु है। परन्तु तुलसी एक कुशल गीतिकार है अत उनकी रचनाशैली मे दोष नही है।

वस्तुत माधुर्य वर्णन तो कृष्णभक्तो का विषय रहा है यही कारण है कि कृष्ण भक्तो के पदो की विषयवस्तु अधिकाशत माधुर्यभाव की है। माधुर्य का आध्यात्मिक स्वरूप इन कृष्णभक्तो के पदो मे दृष्टिगत होता है। मधुर-प्रेम के जितने भी अग-उपाग होते है सभी का वर्णन भक्तो ने किया है। यद्यपि प्रेम लोक-मर्यादा के विपरीत एव निन्दनीय समझा जाता है किन्तु प्रेम की लौ लगने मे पहला कार्य लोकमर्यादा का, लोक-लाज का एव कुल-मर्यादा का अतिक्रमण होता है। एक बार प्रेम हो जाने पर कोई विष का प्याला भी दे तो मीरा हँसते हुये पी जाने को तैयार हे किन्तु प्रेम का परित्याग नही कर सकती। अब तो वे पैरो मे घुँघरू बाँधकर अपने प्रेमी के सम्मुख नाचती है। प्रेम इतना बढ़ा कि मन मयूर नाचने लगा। अब तो लोकलाज छूटी केवल एक नायक में सभी भाव केन्द्रित हो गये। राग की इतनी पुष्ट अवस्था मीरा के पदो के अतिरिक्त कहाँ प्राप्त होगी—

पग बाँध घूघरयाँ णाच्या री।
लोग कह्यो मीरा बावरी, सासु कह्याँ कुलनासी री।
बिष रो प्यालो राणा भेज्याँ, पीवाँ मीराँ हाँसी री।
तण मण वारजा हरि चरणामाँ दरसण अमरित प्यास्यारी री
मीराँ रे प्रभु गिरिधर नागर धारी सरणाँ आस्या री [8]

प्रेम की लौ लगी नहीं कि विघ्न बाधाओं का डर समाप्त हुआ। मीराबाई के इस पद मे प्रेम की अनन्यता, अखण्डता, एवं एकाग्रता की भावना पूर्णरूपेण प्राप्त होती है। प्रेम की यही विशेषता मीरा को अन्य भक्तों के माधुर्य वर्णन से पृथक करती है। अपना सर्वस्व समर्पण, श्रीकृष्ण को करने वाली मीरा को किसी का क्या भय ? सिसौदिया कुल यदि उनसे रुष्ट होगा तो अपने राज्य की सीमा से बाहर निकाल देगा किन्तु भगवान श्रीकृष्ण यदि रुष्ट हो जायेंगे तब कहाँ रह सकती हैं ? इसीलिये चाहे कुल के लोग रुष्ट हो जाय किन्तु कृष्ण को रुष्ट नहीं किया जा सकता। भगवान की शरण मे आने पर किसी वस्तु का भय नही रहेगा—

सीसोद्या रुठ्यो तो म्हाँरो कोई करलेसी।
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्यॉ हो माई॥
राणो जी रुठ्याँ बॉरो देस रुखासी।
हरि रुठ्यो कुम्हलास्यो, हो माई।
लोक लाज की काण न मानूं।
नरमैं निसाण घुरास्या, हो माई।
स्याम नाम का झाँझ चलास्याँ।
भवसागर तर जास्या हो माई।
मीरा सरण सँवल गिरिधर की।
चरण कवल लपटास्या, हो माई॥[9]

राग पहाडी मे रचित यह पद अत्यन्त सुन्दर गीति पद बन पडा है। "हो माई" की आवृत्ति प्रत्येक दो चरणो के बाद करके भक्त कवयित्री मीरा ने लोकगीत की भावाभिव्यजना पद मे आद्यान्त भर दी है। इस पद का लय अत्यन्त तरल है। प्रेम का उन्माद तो प्रत्येक पंक्ति से व्यंजित हो रहा है। साथ ही भाव की अन्विति अन्त तक खण्डित नही होती, यद्यपि कवयित्री ने व्यक्तिगत तथ्यों का प्रक्षेप पद मे किया है। तथापि प्रेम के माधुर्य की व्यंजना में वे सहायक ही होते है। व्यक्तिगत सुख-दुःखात्मक बातो की आत्माभिव्यक्ति भक्तिकालीन भक्तो के पदों मे सर्वत्र मिलती है। यह आत्माभिव्यक्ति कहीं तो सार्वभौमिक है और कही पूर्ण रूपेण व्यक्तिगत। इसी प्रकार कवि कही सीधे-सीधे भगवान से सम्पर्क कर अपनी वेदना की अभिव्यक्ति करता है यथा सन्तो ने मीराबाई ने तथा तुलसीदास ने विनय पत्रिका में व्यक्तिगत वेदनात्मक अभिव्यक्ति किसी अन्य माध्यम से न करके सीधे अपने माध्यम से की है किन्तु जहाँ भक्तों ने भगवान के चरित-गाथा को अपना कर भगवद्-भक्ति की है वहाँ किसी पात्र के माध्यम से अपनी पीडा का, अन्तर व्यथा की व्यंजना की है। भावाभि-व्यक्ति का विषय समान होते हुये भी, ऐसे पदो मे पाठक अथवा श्रोता के हृदय को प्रभावित करने वाली भाव-सम्प्रेषणीता में अन्तर अवश्य है।

हृदय की अत्यन्त सहज अभिव्यक्ति प्रेम मे होती है। गीतात्मक अभिव्यक्ति हेतु जिस प्रकार की पृष्ठभूमि अथवा अनुभूति की गुंजार की होती है

उसकी सहज, सरल एवं रागात्मक एकता प्रेम प्रसंगों मे अधिक संभव है कारण यह कि प्रेम मानव की प्रथम आवश्यकता है। भगवत प्रेम तो लौकिक प्रेम से भी कही अधिक निर्लिप्त एवं नैसर्गिक है। यही कारण है कि भक्ति काल में लौकिक प्रेम को अलौकिक आवरण देकर भाव को एक ओर जहाँ और अधिक परिष्कृत किया गया वहीं गीति की सम्भावना ऐसी भाव प्रवणता में और अधिक बढ गई। प्रेम तो माता-पुत्र, पिता-पुत्र या सखा-सखा में भी होता है किन्तु वह मादकता उसमें कहाँ जो स्त्री-पुरुष-जन्य प्रेम में होती है। भगवत प्रेम की लौ एक बार लगी तो इन्द्रियाँ अपनी सम्पूर्ण एकाग्रता से उसी आराध्य के पीछे-पीछे चल देती है। यही कारण है कि पर ब्रह्म कृष्ण के प्रेम मे पगी मीरा सांसारिकता के सभी बन्धन त्याग कर उन्ही मे लीन हो चुकी थी। सच ही है भगवन प्रेम के सम्मुख लोक, लाज समाज की लौकिक मर्यादा आदि का क्या काम। इसी से तो सूर की गोपियाँ भी सासारिक सुखो के बन्धन को त्याग कर हरि के रंग में रग गई—

लोक सकुच कुल कानि तजी,
जैसे नदी सिन्धु को धावै वैसे स्याम भजी।

× × ×
× × ×

सूर स्याम को मिली चूना हरदी ज्यो रंग रजी ॥[10]

इसी प्रकार नन्ददास, कुम्भनदास तथा चतुर्भुजदास की प्रेम-पगी गोपियाँ किंवा गोपियों के ब्याज से वे स्वय लोक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर नि संक होकर प्रिय मे चित्त एकाग्र करके, उससे मिलने चल दी—

1—अखिया मेरी लालन संग अटकी,
वह मूरति मोचित मे चुभि रही छूटत नहीं मो झटकी।
भौह मरोरि डारि पिक बानी पिय हिय ऐसा घटकी,
नन्ददास प्रभु की प्यारी लाज तजि डारी चली निकट की।[11]

2—हिलगनी कठिन है या मन की,
जाके लिये देखि मेरी सजनी लाज जात सब तन की।
धर्म जाउ अरु हँसो लोगु सब अरु आवहु कुल गारी,
तोऊ न रहे ताहि बिनु देखे जो जाके हितकारी।
रस लुब्धक एक निमिष न छाँडत ज्यो अधीन मृग गाने,
कुम्भनदास सनेहु मरमु श्री गोवर्धन धर जाने।[12]

3—तबते और न कछु सुहाय,
सुन्दर श्याम जबहि ते देखे खरिक दुहावत गाय।
आवति हुती चली मारग सखि, हो अपने सत भाय,
मदन गोपाल देखि कै इकटक रही ठगी मुरझाय।
बिसरी लोक लाज यह काजर बन्धु पिता अरु माय-
दास चतुभुज प्रभु गिरिवरधर तन मन लियो चुराय[13]

गीतिकाव्यात्मक दृष्टि से उपर्युक्त तीनो पदो की अपनी अलग विशेषता दृष्टिगत होती है। पदो की सगीतमयता के विषय मे कुछ भी कहना पुनरावृत्ति करना होगा। रागात्मक एकता प्रत्येक पंक्ति से सघन होती जाती है। नन्ददास के ही पद का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि भक्त कवि टेक अथवा ध्रुव में —"अँखिया मेरी लालन सँग अटकी"—से जो रूप सौन्दर्य के माध्यम से मन की एकाग्रता का भाव उठाता है उसकी चरम निष्पत्ति अन्तिम पंक्ति—"प्यारी लाज तजि डारी"—में करता है। रूप सौन्दर्य की व्याख्या करने वाली बीच की सभी पंक्तियाँ प्यारी को लाज तज डारने के लिये साधन रूप मे प्रयुक्त है। किन्तु कुम्भनदास के दूसरे पद में चरम अनुभव जैसी स्थिति नही है। भाव की सांद्रता पूरे पद में व्याप्त है। भगवान के रूप सौन्दर्य से विमोहित मन, लोक मर्यादा का त्याग कर उन्ही में लगा रहता है—इसी केन्द्रीय भाव का विस्तार करने के लिये वह "धर्म जाउ", "कुल गारी", "तोउ न रहे ताहि बिनु देखे", से करता हुआ "रस लुब्धक" से पुष्ट करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण गीति पद मे भाषा प्रक्रिया द्वारा केन्द्रीय भाव का बिखराव नही हुआ है। वरन वह और अधिक काव्य सगीत के अनुकूल एव सघन हुआ है।

चतुर्भुजदास के अन्तिम पद मे रूप—सौन्दर्य का आश्रय लेकर ही भक्त कवि अपना गीतिमय कथ्य पूर्ण करता है। इस कथ्य की पूर्ति मे वह घटना को माध्यम बनाता है। अत: जबसे गिरिधर ने तन मन चुराया है तब से कुछ भी अच्छा नही लगता, के केन्द्रीय भाव को गाय दुहते हुये सुन्दर श्याम को मार्ग में जाती हुई गोपियो द्वारा एकटक देखने तथा सामाजिक पारिवारिक मर्यादा एवं लज्जा का परित्याग करने से स्पष्ट करता है। अत: रागात्मक अन्विति इस पद में भी पूर्णरूपेण मिलती है। इसका एक कारण यह भी है कि सभी गीति पद "संक्षिप्तता" के गुण का पालन करते है।

प्रेम में तो जब तक सुध-बुध न खोये तब तक प्रेम कैसा ? प्रेम हो जाने पर प्रेमी का ध्यान रहेगा न कि मर्यादा या लोक-लाज का। भक्तो का प्रेम उन्मत्त एव स्वच्छन्द होते हुये संयमित रहा है। उनके हृदय की प्रेमाभिव्यक्ति संगीत के विभिन्न राग-रागिनियो का आश्रय पाकर मुखरित हुई है। हृदयोन्माद स्वर लहरी के माध्यम से अपनी भावाभिव्यक्ति करता है। ऐसे पदो मे प्रेम के मूल भाव रति की अभिव्यंजना आद्यान्त विद्यमान रहती है। पदो की अन्तिम पंक्ति में भक्त अपनी बात कहता हे। आगे की अन्य पंक्तियो मे भक्त कवि की भावाभिव्यक्ति भाव, राग एवं अभिव्यजना की दृष्टि से पूर्णता के साथ व्यक्त हुई है। भक्तो का माधुर्य वर्णन कही भी उच्छृङ्खल नही होने पाया है। सहजोद्गार के रूप मे एक नैसर्गिकता तथा भाव गाम्भीर्य प्राप्त होता है जो उसमे प्राण डाल देता है।

भक्तो के प्रेम-वर्णन की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि इन्होने लौकिक प्रेम को अलौकिकता के धरातल पर उठाया है। मनुष्य मात्र मे परिव्याप्त काम भाव का गोपी रूप मे आदर्शीकरण करके, उसे मन और इन्द्रियो को सहज ही वश मे करने की क्षमता वाले रस-राशि, रूप-राशि और शील-राशि को कृष्ण की भाव मूर्ति मे समर्पित किया और इस प्रकार सर्वभावेन समर्पण को ही भक्ति की चरम स्थिति घोषित किया। कृष्णभक्तो की गोपियाँ यद्यपि काम भाव से उद्वेलित हैं किन्तु वे सर्वथा भावमयी है। उन्हें कृष्ण के ब्रह्मत्व पर बिल्कुल विश्वास नही है। कृष्ण के प्रति उनका आकर्षण शुद्ध ऐन्द्रिक है, ब्रह्मत्व और लौकिक वैभव का उनके द्वारा सदैव तिरस्कार दिखाकर कृष्णभक्तो ने यह व्यजित किया है कि भक्ति धर्म मे सर्वात्म-समर्पण का भाव बुद्धि-व्यापार पर आधारित न होकर स्वतः प्रवृत्ति पर आधारित होना चाहिये। भक्तो का यह स्वत प्रवृत्ति का भाव गीति के सहजोद्‌गार मे सहायक हुआ है। यही कारण है कि माधुर्य वर्णन के गीति-पद सर्वोत्कृष्ट गीति-कविता के नमूने है जिनका विवेचन इसमे किया जा रहा है।

प्रेम के जितने भी उत्कर्ष वर्धन भाव होते है यथा-सखी, सखा, नखशिख शोभा, ऋतु, यमुना, चन्द्रमा की चाँदनी, मोर, मुरली गान आदि का विशद वर्णन भक्तो द्वारा अत्यन्त सहजता एवं तल्लीनता से किया गया है। प्रेम के सभी प्रसंग लोकानुभूति के प्रसंग है जिसके चित्रण मे इन भक्तो का दृष्टिकोण सांग मधुरभक्ति का है। लोकानुभूति को तीव्रतर करने का नही। भक्ति-काल के भक्त न केवल भक्त थे वरन सशक्त कवि भी थे। यही कारण है लोक-भाव को अपनाकर, अपनी व्यजना बनाकर अभिव्यक्त की गई वाणी का अत्यन्त व्यापक प्रभाव पडा।

घटना के माध्यम मे कृष्ण भक्तो ने कृष्ण और राधा का प्रेम आरम्भ किया है। इस प्रेम का घटनात्मक चित्रण अत्यधिक महत्व रखता है। प्रथम दर्शन, उससे उत्पन्न आकर्षण तथा आकर्षण का प्रेम मे परिवर्तन, घटना की चित्रोपमता का मुख्य उद्देश्य है। किसी एक घटना के द्वारा राधा-कृष्ण का प्रथम प्रेम दिखाना भक्त कवि का मुख्य अभिप्राय है। इस प्रकार प्रेमीयुगल के लिये परिस्थितियो का निर्माण कर उनमें स्वाभाविक प्रेम का उद्‌भव, तदुपरान्त उसका अन्य गीतिपदो मे विस्तार कृष्ण भक्तो ने दिखाया है। घटना को गीति भावना के अनुकूल कर वर्णित करना कवि की विशेषता रही है। इसी का विवेचन मुख्यतः सूरदास के गीति पदो के द्वारा किया गया है।

खेलन हरि निकसे व्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर ओढे हाथ लिये भौंरा चक डोरी॥
मोर मुकुट कुडल स्रवनन बर दसन दमक दामिनि छबि थोरी।
गये स्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चन्दन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा नयन बिसाल भाल दिये रोरी
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रुलति झकझोरी

संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि तन मोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझै नैन नैन मिलि परी ठगौरी[14] ॥

कृष्ण आश्चर्य चकित होकर राधा के सौन्दर्य को देखते है तथा नैन से नैन मिलकर स्याम की आँखें स्यामा की आँखो में अटक गई। न तो कवि के वर्णन मे कही अवरोध, हिचकिचाहट या झिझक आती है और न ही उसके पात्रो में। इसी से इस पद की सहज रूपात्मकता अत्यन्त प्रभावित करती है। आश्रय और आलम्बन-कृष्ण और राधा-दोनो का अत्यन्त सटीक रूप-चित्र प्रस्तुत किया गया है। अनुप्रास और प्रतीप अलंकार के माध्यम से कवि का पद पूर्ण होता है। गीति की दृष्टि से सहजता इस पद का विशेष गुण दृष्टिगत है।

प्रथम दर्शन के उपरान्त धीरे-धीरे प्रेम गाढ से गाढतर होने लगा। आँखो ही आँखो मे संकेत होने लगे। श्याम के प्रथम इशारे से ही राधिका के कनक-कपोल व्रीड़ा के आवेग से रक्तिम हो उठते हैं। घर मे अब अच्छा नही लगता है। चित्त सदैव श्याम के पास ही रहता है। खाना-पीना सब भूल गया है। कब दोहनी मिले और कब गोष्ठ मे जाये यही उत्कण्ठा रहती है। श्याम भी दोहनी के लिए व्याकुल है। किन्तु दोहनी के समय विभिन्न प्रकार की क्रीड़ा करते हैं जिससे राधा से उनका प्रेम बढता ही जाता है :—

धेनु दुहत अतिहीं रति बाढी।
एक धार दोहनि पहुचावत, एक धार जह प्यारी ठाढ़ीं ॥
मोहन-कर तै धार चलति, परि मोहनि-मुख अतिही छबि गाढ़ी।
मनु जलधर जलधार वृष्टि-लघु, पुनि पुनि प्रेम चन्द पर बाढी ॥
सखी संग की निरखति यह छबि, भइ व्याकुल मन्मथ की डाढ़ी।
सूरदास प्रभु के रस-बस सब, भवन काज तै भई उचाढ़ी ॥[15]

यहाँ प्रेम क्रीडा की रमात्मकता अत्यन्त सहज भावमयता के साथ व्यक्त हुई है। एक ओर जहाँ "धेनु दुहत" का चित्र भक्त गीति की पंक्ति से रेखाकित करता है वही वह आगे की पंक्तियो से विविध रगो की योजना करने लगता है। इससे गीति की रसाभिव्यक्ति बढ जाती है। उत्प्रेक्षा अलंकार गीति की प्रवाहमयता को समदोल बनाये रखता है किन्तु अन्तिम दो पंक्ति गीति के रसात्मक भाव को पुष्ट करने के लिये पर्याप्त हो जाते हैं। इन पंक्तियो मे—"सूरदास प्रभु के रस-बस सब", मे भक्त आत्माभिव्यक्ति से नही चूकता है। तुकान्तता से गीति की लयात्मकता मे विशेष प्रवाह आ जाता है।

बाल्यावस्था से ही कृष्ण के साथ राधा एवं व्रज की अन्य गोपिकायें खेला करती थी। खेलते ही खेलते स्वाभाविक रूप में प्रेम का बीज यौवनावस्था मे आते-आते प्रस्फुटित हो गया। इसके अंकुर तो लरिकाई मे ही फूट पड़े थे। "यह तो उस प्रथम स्वाभाविक आकर्षण का परिपाक है जो हृदयो को चंचल बनाकर स्वाभाविक गति से एक दूसरे की ओर चलने के लिये प्रेरित करता है और स्वय सघन

होता हुआ उन्हे परिवेष्टित कर अन्त मे एक-दूसरे से दृढता के साथ जकड़ देता है, जो साथ-साथ हँसने-खेलने, उठने-बैठने और चलने-फिरने में स्वाभाविक हँसी-मजाक और छेड-छाड के साथ परिपुष्ट हुआ है और जिसका स्फुरण मन्द किन्तु निश्चित और नियमित गति से हुआ है। "वस्तुत. सूरसागर मे तथा परमानन्ददास के परमानन्दसागर में प्रेम का विकास अत्यन्त स्वाभाविक एवम् प्रकृति के सुन्दर वातावरण में दिखाया गया है। सूरसागर मे सूरदास ने तो इसकी सर्वाधिक विस्तृत चर्चा की है। सूरदास ने एक ओर जहाँ वात्सल्य को रस का दर्जा दिलवाया वही शृंगार के रसराजत्व की पुष्टि, अपने पदो मे वर्णित विभिन्न प्रेम-प्रसगो के माध्यम से की। सूर के प्रेम-वर्णन की स्वाभाविकता के विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—"इस प्रेम को हम जीवनोल्लास के रूप मे पाते हैं। सहसा उठ खडे हुये तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नही, जिसमे अनेक प्रकार के प्रतिबन्धो और विघ्न-बाधाओ को पार करने की लम्बी-चौड़ी कथा खडी होती है।"[16] इसी से सूर की गोपियाँ कहती भी है—"लरिकाई का प्रेम कहो अलि कैसे छूटै।" प्रेम तो साथ रहते-रहते पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, यहाँ तक कि पत्थरो से हो जाता है, मानव की तो बात ही और है। मानव के लिये प्रेम स्वय सगीत है, काव्य है अनुभूति का पुंज है। प्रेम एक ओर सभी सामाजिक मर्यादाओ से परे है वही वह रागात्मकता का अटूट स्रोत है। प्रेमी युगल एक दूसरे का प्रत्यक्ष करने पर संयोग प्रेम की लीला मे रत होते है और प्रत्यक्ष न रहने पर एक दूसरे के लिये अत्यन्त विकल रहते है। गीति के लिये सुन्दर पृष्ठभूमि तो ऐसे मे अनायास ही बनकर तैयार हो जाती है। प्रेम की रागात्मक एकता, अनुभूतिमयता एव लयात्मकता प्रेमी के हृदय से जब अभिव्यक्त होगी तो वह गीति के रूप मे ही प्रकट होगी। यही कारण है कि भक्तो का भगवान से प्रेम गीति पदों के रूप मे नि:सृत हुआ। कृष्ण भक्तो ने अपने भगवत प्रेम के मनोविकारो को कही राधा तो कही अन्य गोपियो के माध्यम से रागात्मक एकता, सवेदन, संगीत, आत्माभिव्यजना आदि विशिष्टताओं के साथ अभिव्यक्त किया है। विवेचन मे अनेक स्थलो पर भाव की व्याख्या इसी हेतु की गई है।

सौन्दर्य मानव को स्वाभाविक रूप से आकर्षित कर लेता है। कृष्ण तो अगाध सौन्दर्य मण्डित थे। उनके रूप सौन्दर्य का पान करने वाली गोपियाँ कब और कैसे तृप्त होतीं। कृष्ण के पास एक तो उनका सौन्दर्य दूसरे उनकी चचल क्रीडा एवं मुरली के स्वर ने तो गोपियों पर अपना इन्द्रजाल ही बिछा दिया। इसीलिये वे कृष्ण के अग-अंग की रूप सुधा का पान अपने नेत्रो से करती है :—

> तरुनी निरखि हरि-प्रति अंग।
> कोउ निरखि नख-इन्दु भूली, कोउ चरन-जुग-रंग।
> कोउ निरखि नूपुर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु।
> कोउ निरखि जुग जघ-सोभा करति मन-अनुमानु

कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचि कारि।
कोउ निरखि हृद-नाभि की छवि डार्‌यौ तन मन वारि।
रुचिर रोमावली हरि कै चारु उदर सुदेस।
मनौ अलि-श्रेनी बिराजति बनी एकहिं भेस।
रही इकटक नारि ठाढी करति बुद्धि विचार।
सूर आगम कियौ नभ तै जमुन सूच्छम धार।।[17]

भक्त कवि भगवान के एक-एक अंग को निरखने और उसी अंग की शोभा मे तन्मय होने का भाव व्यक्त कर रहा है। जिससे गीति की तन्मयता की व्याप्ति हो रही है। "रुचिर रोमावली हरि ··· एकहि भेस" पंक्ति मे उत्प्रेक्षा अलकार के आ जाने से गीति प्रवाह मे अत्यल्प अवरोध उत्पन्न होता है किन्तु अगली ही पक्ति "रही इकटक नारि ठाढी करति बुद्धि विचार" से तन्मयता को पर्ण प्रतिष्ठित करके गीति की रागात्मकता को चरम तक पहुँचा देता है। जो गीति की मौलिकता को भी जन्म देता है। प्रेमाधिक्य गीति की एकाग्रता को जन्म देता ही है साथ ही गीति के उद्गार की निरन्तर वृद्धि भी करता रहता है। अघाने का नाम नही वह तो अमरलता की भाँति बढता ही जाता है। इसमे पहले नेत्र करते हैं। नेत्र ही वह माध्यम है जिससे रूप सुधा का पान कर प्रेम बीज पल्लवित होता है। यह प्रेम क्या कहने की, बताने की बस्तु है, यह तो धीरे-धीरे न जाने कब हो गया। हृदय प्रेमानुभूति मे परिपूर्ण हो गया और प्रेमी युगल एक दूसरे मे मिलने के लिये बेचैन। कृष्ण गोपाल के प्रेम मे गोपियाँ इतनी पग गई है कि वे स्वयं अपने को सँभाल नही पाती। मदन गोपाल के संग सयोग सुख से वे अघाती नही वरन और प्यास बढ़ती ही जाती है—

मदन गोपाल के रंग रॉती,
गिरि-गिरि परत सँभार न तन की अधर सुधारस माती।
वृन्दावन कमनीय सघन बन फूली चहुँ दिसि जाती।
मन्द सुगंध बहै मलयानिल अति जुडाति मेरी छाती,
आनन्द मगन रहत प्रीतम सग घौस न जान तिराती,
परमानन्द सुधाकर हरिमुख जीवतहू न अघाती।।[18]

सूर की भाँति परमानन्ददास भी शृंगारिक भाव को गीति-रचना शैली मे ढालकर वर्णित करने में कुशल है। राग सारग मे वर्णित गोपियों की प्रेम विह्वलता मे गीति का संवेदन विस्तृत है। कवि के कथन की स्वाभाविकता सरलता एवं सीधे-सादे शब्दो में अभिव्यक्ति गीति-पद को गीति सौन्दर्य से मण्डित कर देती है।

नन्ददास, कुम्भदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी आदि भक्तो के पद गीतात्मक दृष्टिकोण से द्रष्टव्य हैं

1—राग अड़ाने

आज मेरे धाम आये री नागर नन्दकिशोर,
धन्य दिवस धन रात री सजनी धन्य भाग सखि मोर,
मंगल गावौ चौक पुरावो बन्दनवार सजावहु पोर,
नन्ददास प्रभु संग रस बस कर जागत करहूँ भोर ॥[19]

2—राग सारंग

परम भावते जिय के, हो, मोहन, नैननि आगे ते जिन टरहु,
तौ लौ जीऊँ जौलो देखों बारबार पालागो चित अनत न धरहु।
तन सुख चैन तौहिलों प्यारे जौलौ लै लै आको भरहु।
रसिकन माँझि रसिक नन्दन तुम पिय मेरे सकल दुख हरहु।
आवहु जाहु रहहु घर मेरे स्याम मनोहर संक न करहु,
कुम्भनदास तुव गोवरधन धर तुम अरि-गंजन काते डरहु।[20]

3—राग ईमन

अति रसमति री तेरे नैन,
दौरि-दौरि जात निकट श्रवनन के हँसि मिलवत कटि कटाक्ष
कहत रजनी रति बैन।
लटपटी चालि, अटपटी बंदसि, सगबगी अलक बदन पर बिथुरी।
अग-अग प्रफुल्लित मैन,
गोविन्द बलि सखी कहै मै तो तब ही लखी, मेरे जिय
तबही ते सुख चैन।[21]

4—राग मलार

बादर झूम-झूम बरसन लागे,
दामिनी दमकति चौकि चमकि स्याम धन की गरज सुनि गाजे,
गोपीजन द्वारे ठाडी नारी नर मीजत मुख देखति अनुरागे,
छीतस्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल, ओत-प्रोत रस पागे ॥[22]

अष्टछाप भक्तो मे नन्ददास के प्रथम पद की सक्षिप्तता उसकी गीति-भावमयता को एकत्र किये रहती है। परमात्मा से प्रेम की लौ जिसे लगी है वह तो जीवन भर जागता रहता है यहाँ भी गोपियो के ब्याज से नन्ददास उसी प्रेम के आह्लाद का वर्णन करते है। सीधे-सादे कथन मे प्रवाह तो बना हुआ है ही गीति की भावगत सहजता को भी बनाये रखता है। कुम्भनदास के द्वितीय गीति पद में लोकगीत शैली का प्रयोग किया गया है। "परम भावते जिय के, हो, मोहन, नैननि आगे ते जिन टरहु" मे "हो" शब्द की व्यंजना लोकगीतात्मक है तथा "मोहन" के सम्बोधन मे जो अनुरोध, लालसा एवं कामना का भाव व्यंजित हो रहा है वह गीत-तथ्यों के शोध को पूर्णकर देता है। गोविन्दस्वामी के गीति पद की अन्तिम पंक्ति में एक ओर जहाँ "बलि सखी" मे आत्माभिव्यक्ति स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है वहीं तब ही ते सुख चैन पक्ति मे गीति की चरम परिणति है छीत स्वामी

का राग मलार तो वर्षा ऋतु के अनुकूल है। सम्पूर्ण गीतिपद संक्षिप्त है तथा बादलो के बरसने का पूर्ण दृश्य उपस्थित करके कवि भावो को बिखरने नही देता है। अंतिम पक्ति में व्यक्तित्व की छाप भी लक्षित की जा सकती है।

सयोग शृङ्गार के द्वारा भक्ति करने वाले अनेक सम्प्रदायो के भक्तों ने भी अपने हृदयोद्गारो को गीति-पदों मे अभिव्यक्त किया है। अपने इष्टदेव की लीला के साथ सदैव सयोग रखने वाले भक्तगण भी उसके साथ लीलानुभव करने हुये पदो की सृष्टि करते हैं। यही कारण है कि भक्तों के पदों में स्वाभाविकता एवं तरल प्रवाहात्मकता, जो गीति का प्राण है, आद्यान्त विद्यमान है।

अष्टछाप कवियो के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय के भक्तो के पदो का विवेचनात्मक दृष्टि से अबलोकन करने पर सभी पद सहजोद्गार के सहज प्रवाह एवं स्वाभाविक कथ्य की अभिव्यक्ति से युक्त है। पदो के भाव कवि की अनुभूति के वाहक है। इस प्रकार भक्तो की भगवत संयोग की अनुभूति के अनुकूल पदो मे सम्यक् अभिव्यक्ति है। उन्माद एवं उच्छृङ्खलता का कही भी लक्षण भी नही है—

I—राग गौरी

नैननि नैन मिलत मुसिक्यानी।
मुख सुखरासि निरखि उर उमगत, दुख करि लाज लजानी।
× × ×
× × ×
तन सों तन, मन सो मन मिलयौ ज्यों पिय पय में पानी।
रसकनि की गति "व्यास" मद पै कैसे जात बखानी॥[23]

2 " माई री यह अद्भुत रंग।
अंग-अंग को बानक मोपै कहि न परै,
काम कौ मन हरै भृकुटि भंग।[24]

जिसके सौंदर्य का ओर-छोर नही है उन रसिकों के रसिक, रसिकराज श्रीकृष्ण की शोभा एवं रासलीला का वर्णन कोई क्या कर सकता है? हरिराम जी व्यास और सूरदास मदन मोहन के अन्तर मन मे अनुभूति समूह के कुछ एक प्रकाश-कण मात्र इन गीति-पदो में अभिव्यक्त हो रहे है। क्योकि उस परमात्मा के परम सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति मनुष्य की वाणी से सम्भव नही है। भक्तों ने असंख्य पदो मे परमात्मा के सौन्दर्य का वर्णन किया फिर भी उनके हृदय की अनुभूति का अक्षय स्रोत समाप्त नही हुआ वरन सदैव परमात्मा के रूप-गुण के प्रति उद्विग्न एवं जिज्ञासु रहा है जैसे उसका रूप-गुण अक्षय एवं अनन्त है वैसे ही उसकी लीलाये अनन्त है। और अनन्त लीलाओ का अपनी-अपनी वाणी मे भक्तो ने अपने-अपने भावोद्गारो के अनुकूल गीति-पदो मे कथन किया है। रूप-सौन्दर्य और गीतिमयता के सम्बन्ध मे इतना कहना पर्याप्त होगा कि तन्मयता का मुख्य कारण रूप-सौन्दर्य है और भक्ति-गीति मे भावऐक्य एवं विस्तार रूप के माध्यम से भक्तों ने बहुतायत से

मे किया है। ऐसे सभी गीति-पदो मे भावप्रेषण की क्षमता है जिससे वे गीति के सुन्दर उद्धरण बने है। कुछ अन्य कृष्ण भक्तो के माधुर्य-भाव के पद विवेच्य है—

1······ पद ताल चपक

मोहन राधे राधे बैन बोलै।
प्रीति, रीति रस रम नागरि हरि लियौ प्रेम के मोलैं॥
हास विलास रास राधे सग सील आपनों तोलै।
श्रीभट जदपि मदनमोहन तउ हारि हारि सिर डोलै॥[25]

2······ राग विहाग

युगलवर आवत है गठजोरे।
सग सोभित वृषभाननन्दिनी ललितादिक तृणतोरें।
सीस सेहरो बन्यो ल.ल.के निरख हँसत मुख मोरे।
निरख-निरख वलि जाय गदाधर छवि न बढी कछु थोरे॥[26]

भगवान की लीलाओं का वर्णन इतनी तन्मयता से वही कर सकता है जो भगवान की लीलाओ का प्रत्यक्ष द्रष्टा हो अथवा उनकी लीलाओं मे भाग लेता रहता है। कृष्ण भक्तो की यही विशेषता रही है कि उन्होने जो भी वर्णन किया है वह अनुभूति के स्तर पर। यही कारण है कि उनके पदो में रागात्मकता एव अनुभूति की इकाई के कारण एक पद मे एक ही मूलभाव को अभिव्यक्त किया गया है। उपर्युक्त पदो मे यही विशेषता उल्लेखनीय है। संगीत की विधा पर प्रत्येक पद की भावानुकूल रचना तथा भावों में कही भी विच्छिन्नता नही दिखाई देती। भक्तिकाल के सभी भक्त कवियो के वर्णन की यह एक इतर विशेषता रही है।

भक्तिकालीन कवियों मे मीरा का अपना अलग ही स्थान है। परमात्मा को अपना पति मानते हुये ससार की लोकलाज तक का त्याग उन्होने कर दिया—

म्हाँ गिरधर आगा नाच्या री।
णाच-णाच म्हाँ रसिक रिझावा, प्रीत पुरातन जांच्यारी।
स्याम प्रीत रो बाँधि घुघर्‌याँ मोहण म्हारो साच्यारी।
लोक लाज कुलका मरज्यादा जगमाँ णेक णा राख्यारी।
प्रीतम पल छब णा विसरावाँ, मीरा हरि रग राच्यारी॥[27]

अपने आराध्य प्रियतम प्यारे श्रीकृष्ण के प्रति मीरा के भावोद्‌गार अत्यन्त सहज और स्वाभाविक ढंग मे अभिव्यक्त हुये है जिसमें मीरॉबाई के निश्च्छल एव निष्कपट हृदय की सरलता सहज ही झलती है। प्रेमी के प्रेम में पगी मीरा को लोक लाज का ज्ञान न रहना स्वाभाविक ही है। परमात्मा का रूप सौन्दर्य ही ऐसा है कि एक बार जिसने दर्शन किया वह उसी सौन्दर्य का होकर रह गया।

संसार के साहित्य मे प्रेम-चित्रण न जाने कितने किये गये होगे। सिद्ध कलाकारों ने इस प्रकार के सजीव चित्र खींच-खींच कर न जाने कै बार अपनी तूलिका

की अमरता सिद्ध कर डाली होगी किन्तु प्रेम प्रकाश की कसौटी पर बारम्बार कसी गयी मीरा की यह दृढता क्या अन्यत्र भी कही देखने को मिलती है।

विरह प्रेम की कसौटी है। विरह ही जीवन की वह पवित्र स्थिति है जिसमे प्रिय एवं प्रेमी दोनो निश्च्छल एवं निर्मल भाव से एक दूसरे की निकटता प्राप्त करते हैं, एक दूसरे की आँखो मे समाये रहते है। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, हँसते-बोलते, रोते-गाते आदि सभी अवसरो पर सदैव समीप बने रहते हैं। यह विरह प्रेम का वह पवित्र बन्धन है जिसमे बंधकर प्रेमी कभी मुक्त होने की कामना नहीं करता अपितु सदैव अपने प्रियतम को हृदय मे बसाये रखने और उनकी स्मृति के अन्दर जलते रहने मे ही अपूर्ण आह्लाद का अनुभव किया करता है। मीरा तो वेदना की प्रतिमूर्ति थी। अपने आराध्य की जन्म-जन्म की दासी मीरा एक क्षण के लिये भी अलग नही हो सकती है जिससे प्रेम हो गया उसकी प्रतीक्षा मे सम्पूर्ण जीवन ही समाप्त हो जाय इसकी चिन्ता ही क्या ? मीरा का प्रेमी प्रभु भी नेह लगाकर न जाने कहाँ चला गया है—

> प्रभु जी कहाँ गया नेहड़ो लगाय।
> छोड्यो म्हाँ विस्वास सगाती, प्रेम री बात जलाय।
> विरह समंद में छोड गया छो, नेहरी नाव चलाय।
> मीरा के प्रभु अब रे मिलोगे थे विण रह्या णा जाय॥[28]

उपर्युक्त पद मे मीरा की वेदना का साकार रूप दृष्टिगत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक विशुद्ध प्रेमिका की भाँति अपने हृदय के सभी बन्धनों को, सकोच एव मर्यादाओं को तिलाजलि देकर अन्तरतम की घनीभूत पीड़ा को गीति-पद के प्रत्येक शब्द मे व्यक्त किया है। वह तो निरन्तर अपने प्रियतम की बाट जोहती रहती है किन्तु वह आ नही रहा है अन्त मे वे स्पष्ट शब्दो में कह भी देती है कि "थे विण रह्याँ णा जाय।" प्रियतम के बिना हृदय की पीर को कौन दूर कर सकता है इस पीड़ा को कोई समझ ही नहीं पा रहा है इसे तो वही समझ सकता है जो हमारी ही तरह बेचैन, दुखभुक्त, चोट खाया हुआ है--

> हेरी म्यो दरद दिवाणा म्हारां दरद न जाण्या कोय।
> घायल री गति घायल जाणयां, हिवडो अगन सजोय।
> जौहर की गति जौहरी जाणै, क्या जाण्यां जिण खोय।
> दरद की मार्‌या दर-दर डोल्या वैद मिल्या नाहिं कोय।
> मीराँ री प्रभु पीर मिटाँगा जब वैद साँवरो होय॥[29]

भक्तिकाल के अनेक भक्त कवियो में मीराबाई के चाहे जिस पद को "गीति" की कसौटी पर कसा जाय वे पूर्ण खरे उतरते है। क्या इसका कारण यह है कि कवयित्री ने सजग होकर गीति-परक पदो की रचना की ? कदापि नही। हृदय मे उमडते-घुमडते हुये भगवत-भक्ति के प्रेममय भाव अनायास ही प्रस्फुटित हो गये।

और यह स्वाभाविक स्फुरण ही उत्कृष्ट गीति पदो का निर्माण करने में सहायक हुआ है।

प्रेम के वियोग पक्ष को एकाग्र करने की महत्ता के कारण ही आचार्य वल्लभ ने कृष्णभक्ति की माधुर्योपासना मे संयोग के साथ-साथ वियोग की महत्ता भी स्थापित की। संयोग के समय जहाँ एक प्रेमी ही दिखाई देता है वहाँ वियोग मे प्रत्येक स्थल पर कण-कण में, जिधर दृष्टि जाती है उधर ही वही प्रेमी का चित्र दिखाई देता है। कारण यह कि उसी का चित्र तो नेत्रो में, मन मे, हृदय और यहाँ तक कि बुद्धि में, बसा रहता है। इस प्रकार संसार मे यत्र-तत्र-सर्वत्र वही प्रेमी दृष्टिगत होता है। इसी से तो सूर की गोपियाँ जब कालिन्दी को देखती है तो वह भी उन्ही की भाँति "विरह जुर जारी" प्रतीत होती है। और यही कारण है कि वे उसी के माध्यम से पथिक द्वारा विरह देने वाले कृष्ण के पास सन्देश भेजती है।

> देखियत कालिन्दी अति कारी।
> कहियो पथिक। जाय हरि सो जो भई विहर जुर जारी।
> × × ×
> निस दिन चकई ब्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी।
> सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥[30]

उपर्युक्त गीतिमय पद की अन्तिम पंक्ति मे कवि की सम्पूर्ण सवेदनात्मकता फूट-फूट कर वह निकली है। जो यमुना संयोग के क्षणो मे उल्लास एवं आनन्द का कारण थी वही अब गोपियों की मनोदशा के अनुकूल हो गई है। अनुभूति का गुंजार कहाँ और किस रूप में उत्पन्न हो जायेगा कहा नही जा सकता। भक्त कवि के पास तो भगवत्-निर्मित सम्पूर्ण सृष्टि ही गुंजारयुक्त है जब जहाँ उसका मन रमा उसने उस भाव को वाणी में आबद्ध कर दिया है। गीति रचना के कुशल कलाकार सूर का विरह-वर्णन अनेक स्थलों पर कलात्मक होते हुये भी गीति तत्वो मे पूर्ण है—

> उपमा नैन न एक रही।
> कवि जन कहत-कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कहीं।
> कहि चकोर विधुमुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात।
> हरिमुख कमल कोष बिछुरैं तै, ठाले कल ठहरात।
> × × ×
> × × ×
> प्रेम न होइ कौन विधि कहियै, झूठैं ही तन आडत।
> सूरदास मीनता कछु इक, जल भरि कबहूँ न छाँडत॥[31]

भ्रमरगीत प्रसंग मे नैन समय के पद मे संकलित इस पद में गोपिकाये नेत्रो की निन्दा के ब्याज से आत्मग्लानि प्रकट करती है। दूसरी ओर भक्त कवि सूरदास

ने प्रसिद्ध उपमानों की तुलना में नेत्रों को हीन दिखाकर अपनी कलात्मक सूझ एवं वाग्विदग्धता का परिचय दिया है। प्रथम पंक्ति में वर्णित नेत्रों की निन्दा की अभिव्यंजना पद्यान्त तक विद्यमान है इस प्रकार भाव ऐक्य की रक्षा की गई है तथा गोपियों की करुण-विरह-व्यथा की व्यंजना भी इसी माध्यम मे पूर्ण हो जाती है। नेत्रों को मीनधर्मी कहकर यह ध्वनित किया है कि इन्होंने अश्रुमयता के अतिरिक्त अन्य सभी सौन्दर्य-सुख को तिलांजलि दे दी है। यही भावों की चरम परिणति इस पद को गीति पद का उत्कृष्टतम नमूना बना देती है। कृष्ण भक्तों द्वारा वर्णित भ्रमर गीत प्रसंग पर कुछ विचार कर लेना उचित होगा। भ्रमर गीत मे भाव और विचार का कुशल समन्वय करते हुये भाव का आरोपण विचार पर किया गया है। गीति-रचना मे कल्पना के साथ विचार का समन्वय आवश्यक सा है। अनुभूति गूंज को अभिव्यक्त हेतु विचार का संबल लेना ही पडता है। किन्तु भ्रमरगीत में इतनी सहजता से ज्ञानात्मक तर्कों का उल्लेख भक्तों ने किया है कि कहीं भी गीति की प्रवहमयता मे ज्ञान या विचार नहीं खटकता है। ज्ञानाभिव्यक्ति की सहजता एवं स्वाभाविकता ही इसकी गीतात्मक विशेषता हैं। इस सहजाभिव्यक्ति का एक कारण और है। वह है—"लोकगीत विरहा" शैली का प्रयोग। यदि हम विषय-वस्तु की ओर दृष्टि करें तो कृष्ण काव्य के विरह गीत और भ्रमरगीत "लोकगीत-विरहा" से अलग नहीं है। चाहे विरह विदग्धा मीरा हों जो पपीहे की चोंच कटवाकर सन्देश वाहक कौवा से प्रियतम के पास भेज रही हो।[32] या सूर की गोपियाँ हों जो लोक कथाओं की अनुश्रुति के अनुसार प्रिय-आगमन के प्रतीक कौवा से सहानुभूति रखती हुई अंचल की पाग प्रदान करती है[33] अथवा कभी "कारी" रात सापिन बनकर डँस जाती है।[34] इस प्रकार के सभी गीति-पद लोकगीतात्मक व्यंजना के कारण अत्यधिक संवेदनशील हो गये है।

प्रेम जीवन की सरस किन्तु दुखद अनुभूति है। मीठी पीर जब आकुल प्राणों मे नहीं समाती तब नये जीवनालोक का अनुभव होता है। मीठी पीर इतनी तीव्र एवं प्रभावकारी होती है कि उसके मर्म के समक्ष मनुष्य का पाण्डित्य एवं ज्ञान सब कुछ भूल जाता है। यही कारण है कि बारबार उद्धव के ज्ञानात्मक उपदेश से गोपियाँ खीझ उठती है और कह ही देती है—

> ऊधो मन न भये दसबीस।
> एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ?[35]

इसी तरह परमानन्द की गोपियाँ कृष्ण की मुरली नाद से मोहित हैं। उन्हें ज्ञान के, योग के, विवाद मे पडने की आवश्यकता ही क्या है ? उद्धव के योग और ज्ञान के उपदेश को सहजता एवं स्वाभाविक तर्कों से नकार देती है—

> मेरो मन गह्यो माई मुरली के नाद,
> आसन पवन ध्यान नहिं जानो कौन करै अब वाद विवाद।[36]

वस्तुत प्रेम के भावात्मक प्रवाह को ज्ञान का बाँध रोक
टूट कर बिखर जाता है। राधा एवं गोपियो का प्रेमसागर मे भ
जीवन किस किनारे लगेगा इसकी भी चाह नहीं है। राधा और ग
के ज्ञान और योग के बेडे को डुबोकर, उद्धव को भी प्रेमसागर
बैठाकर कृष्ण की मथुरा नगरी भेज दिया। जैसा कि मैंने पहले ही
प्रेम की यह एकाग्रता एवं तन्मयता, गीति की रागात्मक अन्विति
संवेदन-विस्तार मे पूर्ण सहायक है। इस प्रकार माधुर्य के दोनो
वियोग के द्वारा भी उत्कृष्ट गीति पदो की रचना भक्तों ने किया।

1—मध्यकालीन धर्म साधना, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ-256
2—हरि भक्ति रसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग, लहरी-5, पृ०-42
3—नन्ददास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-414.
4—कृष्ण दास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, पद-101.
5—तुलसी रचनावली, बजरंगबली विशारद, पद-2/22.
6—गीतावली, अरण्य काण्ड, पद-3.
7—तुलसी रचनावली, बजरंगबली विशारद, कृष्ण गीतावली, पद
8—मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पद-36
9—वही, पद-35.
10—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-2249
11—नन्ददास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-438
12—कुम्भनदास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, पद-6
13—चतुर्भुजदास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, पद-40
14—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-1290.
15—वही, पद-1354.
16—सुरदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-99.
17—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-1252
18—परमानन्द दास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, पद-111.
19—नन्ददास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-429.
20—कुम्भनदास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, पद-72.
21—गोविन्द स्वामी, पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, पद-153
22—छीत स्वामी पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, पद-48.
23—भक्त कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, पद-328
24—सूरदास मदन मोहन की वाणी- संग्रहकर्त्ता कृष्णदास पद-10
25—श्री युगल शतक श्री भटट देवा चार्य पद 68

26—गदाधर भट्ट की वाणी, संग्रह कृष्ण दास, पद-54
27—मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पद-17.
28—वही, पद-64.
29—वही, पद-70.
30—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-3809.
31—वही, पद-4190
32—मीराबाई की पदावली, परशुराम, चतुर्वेदी, पद-84.
33—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-3456.
34—भ्रमरगीत सार, रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-26.
35—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-4344
36—परमानन्ददास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, पद-212.

अष्टम अध्याय

गीति के अन्य भाव

(क) विनय भाव के गीति-पद

भगवान के समक्ष कौन नही विनत होता है ? भक्त तो भक्त है । भक्तो का साधु स्वभाव एवं विनम्रता जग-प्रसिद्ध है । परमात्मा जो निराकार भी है और साकार भी, गुणरहित भी और गुण सहित भी। वह तो घट-घट व्यापी है, सर्वज्ञ है एव सर्वत्र है । उसके समक्ष संयत एवं विनत वाणी मे अपने हृदयोद्गारो की अभिव्यक्ति करके भक्त अपने हृदय की सुख दुखात्मक अभिव्यक्ति करता है । परमात्मा तो दयालु है । अत उनके समक्ष आत्मदोप-प्रकाशन, याचना, दीनता एवं समर्पण किया जा सकता है । इस प्रकार विनय के अन्तर्गत सेवक-सेव्य का·अर्थात दास्य-भाव स्वयमेव आ जाता है । दास्य मे आत्म निवेदन तो भक्त की भावविह्वलता की पराकाष्ठा है । यही कारण है कि इस वर्गीकरण का नामकरण "विनय भाव के गीति-पद" किया गया है ।

विनय का अर्थ है विशेष पकार से नतमस्तक होना मानव हृदय जब सासारिक घटना-चक्रो मे फँसकर व्यथित हो जाता है तब कही जाकर उसे परमात्मा की सुध आती है, ईश्वर की महत्ता और अपनी दीहता का ज्ञान होता है । ऐसे समय मे वह ससार का परित्याग कर, अपनी आत्मा को समुन्नत करने के लिये, अपने अन्त.करण को विशाल बनाने के लिये स्वभावत ईश्वर अनुग्रह की अपेक्षा करके परमात्मा के प्रति नतमस्तक हो जाता है । वह ईश्वर के समक्ष अपने दैन्य को प्रकाशित करता है, अपना हृदय खोलकर रख देता है और अपने पापो को स्वीकार करता है । ईश्वर के अतिरिक्त उसको और किसी पर भरोसा नही रहता । ईश्वर के गुणगान, ईश्वर के ध्यान के अतिरिक्त उसे और कुछ भी अच्छा नही लगता है । जब वह सर्वशक्तिमान ईश्वर से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जान लेता है और उसे विश्वास हो जाता है कि उसका कल्याण इन्ही के द्वारा होगा तब वह अन्त करण की शुद्धि के लिये उस जगदात्मा की अति विनीत भाव से प्रार्थना करता है । अपने कार्य की सफलता अथवा अपनी समृद्धि एवं अभ्युदय के समय भी ईश्वर के गुणानुवाद करना तथा सफलता को ईश्वरीय अनुग्रह समझकर उसको हृदय से धन्यवाद देना भी विनय है । बिना विनय के कोई कार्य सम्पादित नही हो सकता । काव्यारम्भ मे तो सभी कवियो ने मंगलाचरण के रूप मे "विनय" ही प्रतिपादित किया है । सन्तो की वाणी मे तो अनादि काल से ही विनय का स्वर मिलता है । गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस मे पग-पग पर विनय भाव का सयोजन किया किन्तु इस प्रबन्ध-काव्य में उनकी आत्मतुष्टि नहीं हो सकी ठीक भी है कि परमात्मा के गुणगान से क्या

किसी की तृप्ति हो सकी है ? इस कमी को कुछ अंशों मे पूरा करने के लिये उन्होने "विनयपत्रिका" की रचना की। महात्मा सूरदास ने भी "सूरसागर" को विनय रूपी अमृत-बिन्दुओ से लबालब भरा है। भक्तिकाल के सभी निर्गुण-सगुण भक्तो ने विनय को विशेष आग्रह के साथ स्थान दिया है। इस प्रकार विनय भाव के गीति पदो के अन्तर्गत विनय, दास्य एव आत्म निवेदन भाव के गीति-पदो का विवेचन किया गया है।

यह पहले ही कह चुका हूँ कि गीति कविता की भाँति भक्ति का उद्गम स्रोत मानव का हृदय है किन्तु भक्ति मे कल्पना की उन्मुक्त उडान न होकर अनुभवगम्यता है। भक्ति हृदय का वह पवित्र भाव है जो मानव को ब्रह्म से जोड़ता है। दास्य भक्ति के द्वारा तो मानव आत्मदोष एवं आन्तरिक पीडा को भगवान के समक्ष सहज-स्वाभाविक-सत्यता के साथ स्वीकार करता है और इस प्रक्रिया में जब उसका हृदय फूट-फूट कर सरस श्रोत के सदृश भावो में बह उठता है तो उत्कृष्ट गीति-रचना का सृजन होता है। दुःख तो हृदय के प्रसुप्त भावों को कुरेदने मे पर्याप्त सक्षम है और जब प्रसुप्त भाव जाग्रत हो जाता है तो वाणी द्वारा अभिव्यक्त होकर गीति कविता की सृष्टि करता है।

विनय के पदो की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसी से विद्वान भक्ति-कालीन विनय के पदो को परिपाटी की रक्षा हेतु रचित मानते है। इनकी रचना का कारण जो भी हो, यह तो सत्य है कि अनादि काल से प्रभु की स्तुति करके ही उन्हे प्रसन्न करना चाहता रहा है। उसी परम्परा मे सभी भक्तो ने विनय के पदो की सुन्दरतम गीति-रचना की है। जहाँ विनय के पद परम्परा प्रचलित रीति से अधमजनो के उदाहरणों ईश्वर की विभुता आदि के आख्यान से युक्त है वहाँ हृदयगत विनीत भाव आत्मग्लानि और भक्तवत्सलता के सन्दर्भ मे उमड पड़ी है। ऐसे स्थलो मे भावभरित गीति के तत्व सहज ही आ गये है। भक्ति-कालीन जहाँ भक्तो की स्नेह-सिक्त वाणी का घोप सुनाई पडा वहीं विनय की विनम्रता एवं दैन्य का स्वर भी उनकी वाणी मे अत्यधिक घुला मिला है। यही कारण है कि चाहे ज्ञान का आश्रय लेकर निर्गुण परमात्मा की सेवा उन्होने की अथवा सगुण ईश्वर के रूप में राम और कृष्ण मानकर परमात्मा की सेवा की, अभी भक्तो ने विनय के पदो की रचना अवश्य की। भक्ति मे विनय नही तो भक्ति ही कैसी होगी। सम्भव ही नही है, यह तो उसका मूल है।

ज्ञानमार्ग को अपनाकर निर्गुणातीत परमात्मा के समक्ष तो अतीत काल से ही सन्त भक्त अपनी पीडा का उल्लेख करते आये है। भगवान के दयाल स्वभाव को वे जानते है। इसीलिये उनके समक्ष अपने हृदय की एक बात भी नही छुपाते। बार-बार

 करते हुये कृपा करने का आग्रह करते हैं

माधव कब करिहौ दाया ।
काम क्रोध हंकार बिआपै ना छूटै माया ।।
उतपति विन्दु भयौ जा दिन तें कबहुँ सच्चु नहिं पायौ ।
पंच चोर संग लइ दिये है इन सगि जनम गंवायो ।।
तनमन डस्यो भुजग भामिनी लहरइ बार न पारा ।
गुरू गारड़ मिल्यौ नहि कबहुँ पमर्‌यो विख विकरारा ।।
कहै कबीर दुख कासौ कहिऔ कोई दरद न जानै ।
देहुँ दीदार बिकार दूर करि तब मेरा मन मानै ।।[1]

भगवत अनुग्रह हेतु भक्त भगवान से दैन्यता पूर्वक याचना करता है। उसके इस याचना भरे शब्दो में अत्यधिक सरलता एव स्वाभाविकता है। अपनी दुखात्मक स्थिति का वर्णन वह सच्चे मन से करता है। वह तो स्वीकार करता है कि काम, क्रोध, अहंकार आदि उसमे व्याप्त है। पच इन्द्रिय रूपी पंच चोरो के द्वारा सत्य से दूर रहकर मेरा जन्म नष्ट हो गया। विषय वासना रूपी नागिन ने तन-मन को डस लिया है। तुम्हारे बिना इस दुख को दूर करने वाला तथा समझने वाला कोई नही है। अत. दर्शन देकर विकार को दूर करो। आठ पंक्तियो वाले इस पद मे भाषा की सहजता देखते ही बनती है। दाया, हकार, बिआपै, उतपति, लहरइ, गारड, विकरारा आदि सीधे-साधे शब्दो के माध्यम से अनगढ गेयत्व की स्वाभाविकता स्वयमेव आ गई है। कबीर ही क्या सभी सन्तो के पदो मे गेयत्व तो सहज गुण से रूप मे उपलब्ध होता है। कबीर के पदो मे संगीत की शास्त्रीयता से अधिक संगीतात्मकता अथवा गेयत्व मिलता है। न केवल कबीर ही वरन नानक, दादू, रैदास, मलूकदास आदि सन्त कवियो की गीति-रचना मे सहज गेयत्व अत्यधिक है। सन्त रैदास एक स्थल पर "नरहरि" के समक्ष अपनी चचल मति को स्वीकार करते हुये कहते है—

नरहरि चंचल है मति मेरी, कैसे भगति करू मै तेरी।
मोहिं देखै हौ तोहि देखूँ, प्रीति परस्पर होई।
तू मोहिं देखै तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई।
सब घट अन्तर रमसि निरन्तर, मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना।
मैं तै तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुणामय, जै जै जगत अधारा।[2]

सम्पूर्ण गीत लोकगीतो की भाँति सहज सरल शब्दावली के साथ-साथ शब्दगत ध्वन्यात्मकता की विशेषता से युक्त है। यही कारण है कि गेयत्व पद का मुख्य गुण हो गया है। विनय अथवा दास्य के पद आत्माभिव्यक्ति के प्रतिफल है। भगवान के समक्ष आत्म दोषों को स्वीकार करके ही भक्त अपने दैन्य का प्रदर्शन करता है। दैन्य का प्रदर्शन करके वह विनयपूर्वक भगवान की कृपा चाहता है जैसे भी हो भक्ति की

कृपा उसे प्राप्त करनी ही है। यही कारण है कि सन्त भक्त धरमदास गुरु के चरणो पर गिर पड़ते है—

> गुरु पैयाँ लागौ नाम लखा दीजो रे।
> जनम जनम का सोया मनुवाँ, सबदन मार जगा दीजो रे।
> घट अंधियार नेन नहि सूझै, ज्ञानदीप जगा दीजो रे।
> विष की लहर उठत घट अन्तर, अमृत बूँद चुवा दीजो रे।
> गहिरी नदिया अगम बहै धरवा, खेय के पार लगा दीजो रे।
> धरमदास की अरज गुसाईं, अब के खेप निभा दीजो रे।[3]

इस प्रकार इस पद में "सोया", "अंधकार", "विष", "गहरी नदिया", आदि पदावली अत्यन्त परिचित है किन्तु इन्ही परिचित शब्दावली मे भाव की थपेड (लहर) जब टकरा जाती है तब विनय गीत्यात्मक हो उठता है। यह जाग्रत भाव या फूट पडने वाला उद्रेक "पैया लागौ" की कातर स्थिति मे पहुँचा देता है और भक्त "नाम लखा दीजौ" की याचना से भर उठता है। यह याचना उसके स्वानुभव की पिछली अनुभूतियो से और भी प्रखर होती जाती है। "मार कर जगा देने में ज्ञान दीप जगा देने मे, अमृत की बूँद चुवा देने मे धरमदास का उदाहरण परम्परामुक्त शैली में भी आता है। भक्त कवि की गुरु की प्रार्थना एव आर्त पुकार मे उसके हृदय की विह्वलता एवं आत्म विगलन की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार की स्पष्ट अभिव्यक्ति सन्तो के पदो मे सर्वत्र झलकती है। यही विशेषता पदो के भाव संप्रेषण मे सहायक है। "दीजो रे" की पुनरावृत्ति लोकगीतों की ध्वनि को व्यंजित तो करती ही है साथ ही लोकगीतो की सरसता भी गीति-पद में आ जाती है। गीतात्मक व्यंजना इस पद मे अत्यधिक है। आदि से अन्त तक भाव की द्रुतलय पद-लालित्य मे वृद्धि करती है। सन्त कवि दादू के पद मे भी दैन्य निवेदित भाव सहज गीति शैली मे उपलब्ध होता है—

> तौ निबहै जन सेवग तेरा, ऐसे दया करि साहिब मेरा।
> ज्यूँ हम तोरैं त्यूँ तूँ जोरैं, हम तोरैं पैतूँ नहि तोरैं।
> हम बिसरैं यूँ तूँ न बिसारै, हम बिगरै पै तू न बिगारै।
> हम भूलै तू आनि मिलावै, हम बिछुरैं तू अंगि लगावै।
> तुम भावै सो हम पै नाही, दादू दरसन देहु गुसाईं।[4]

सासारिक भक्त अनेक बार भगवान मे विमुख होता है, कभी तो भूलकर ऐसे कार्य करता है तो कभी जानकर वह गलती कर बैठता है परन्तु उसे यह विश्वास तो है ही कि मै कितना ही भगवान से दूर हटने की कोशिश करूँ भगवान तो हमें छोड ही नही सकते। इसका कारण भगवान की भक्त वत्सलता है। भगवान तो सदैव भक्तो के रक्षक, उसके दुख को हरने वाले, उसकी गलतियों को तिनका के सदृश

मानने वाले है। यही कारण है कि भक्त कहता है कि मै तुमसे कितना ही सम्बन्ध तोड़ने का प्रयास करूँ किन्तु तुम तोड़ने ही नही देते, जोडते ही चलते हो। हम तो तुम्हे भूल जाते हैं किन्तु तुम हमे नही भूलते वरन् अपने अंग से लगा लेते हो अर्थात अपने हृदय में स्थान देते हो। अन्तिम पक्ति मे आत्माभिव्यक्ति की स्पष्ट छलक लक्षित होती है जिसमे भक्त कहता है कि तुम्हे जो भाता है वह मैं तुम्हें नही दे सकता तथापि तुम मुझे दर्शन अवश्य दो। सम्पूर्ण पद मे केवल शब्दो की जोडगाँठ दृष्टिगत होती है। किन्तु भक्त कवि के कथन मे सहजता एव शब्दो की प्रवाहमयता है। इससे कथन की स्वाभाविकता एवं मार्मिकता मे वृद्धि हुई है। गीति-कविता का सहजोद्गार प्रत्येक पक्ति में दृष्टिगत होता है।

सन्त मलूकदास ने जब साधुजनो के मुख से सुना कि भगवान का विरद पतित-पावन है तभी वे उनकी शरण मे आ गये—

अब तेरी सरन मे आयो राम।
जबै सुनिया साध के मुख पतित-पावन नाम।
यही जान पुकार कीन्ही, अति सतायो काम।
विषय सेती भयो आजिज, कह मलूक गुलाम।[5]

रागात्मक एकता एवं भाव की अन्विति बनाये रखने के लिये गीति का एक विशेष गुण सक्षिप्तता भी माना गया है। मलूकदास के उपर्युक्त पद मे दोनो विशेषतायें एक साथ मिलती है। सम्पूर्ण पद मे शरणागत का भाव है। विषय वासनाओ का सताया हुआ भक्त कही किसी साधु से सुन लेता है कि भगवान पतितो का उद्धार करने वाले है। यही जानकर वह उनकी शरण मे आया है। परमात्मा के विषय मे केवल सज्जन-साधु पुरुषो से सुनकर ही उसे अगाध विश्वास हो चुका है। भ्रम अथवा सन्देह का कही स्थान भी नही है। यही कारण है कि वह सर्वप्रथम यही कहता है—

"अब तेरी सरन मे आयो राम।"

उसे आत्म-विश्वास है। परमात्मा उसे शरण मे लेगे ही। यह आत्मविश्वास भरी वाणी पद की अनुभूति एवं भावात्मकता मे प्राण डाल देती है। भक्त द्वारा आत्म प्रकाशन, अनुभूति का सकेत है। इसी प्रकार कृष्ण भक्त हरि राम जी व्यास अपने एक पद में कहते है—

श्री माधवदास सरन मै आयौ।
हौ अजान, ज्यो नारद, ध्रुव सो कृपा करी सदेह भगायौ॥
× × ×
× × ×
जाते सहज प्रिया प्रीतमबस कलजुग वृथा गँवायौ
मनसा वाचा और कमना व्यासहि स्याम बतायौ[6]

वरन मनसा, वाचा और कर्मणा से भगवान की शरण में आ चुका है। शरणागत का यह भाव अत्यन्त अनुभूतिपरक है।

कृष्णभक्त सूरदास ने भी भगवान का पतित-पावन विरद सुन रखा है अत वे कहते है—

कीजै प्रभु अपनं विरद की लाज ।
महापतित, कबहुँ नहि आयौ, नैकु तिहारै काज ॥
× × ×
× × ×
लीजै पार उतार सूर कौं, महाराज ब्रजराज ।
नई न करन कहत प्रभु, तुम हौ सदा गरीब-निवाज ॥[7]

भगवान गरीब-निवाज हैं अर्थात् गरीबो पर दया करने वाले हैं, कृपा करने वाले है। अत. उनसे अपना उद्धार करके विरद की लाज बचाने के लिये कहना है उसे विश्वास भी है कि वे अवश्य उद्धार करेंगे भी। भाव-प्रवाह मे जिस प्रकार के भी शब्द आवे कवि उनका प्रयोग करता है। इस पद में भी अवाज तथा गरीब निवाज जैसे मुसलमानो की भाषा के शब्दो का प्रयोग करके भाव-प्रवाह एवं पद की गीतिमयता मे वृद्धि करता है।

भक्त जानता है कि भगवान उदार हृदय वाले हैं, अनुग्रह करने वाले है तथा भक्तो के अवगुणों को दृष्टि में नही रखते हैं। वे तो पारस पत्थर की तरह से हैं जो पूजा मे रखे हुये लोहे तथा बधिक के घर रखे हुये लोहे का भेद नही जानते हुये दोनो को सोना बना देता है। इसी तरह भगवान अधम जीवो का उद्धार करने वाली गंगा के समान है। अन्त में अपनी ओर से आत्माभिव्यक्ति करता हुआ कहता है कि परमात्मा तो माया और ब्रह्म का विभेद मिटा देने वाले है—

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ सोई पार करौ ॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत कंचन करत खरौ ॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरौ।
जब मिलि गये तब एक बरन ह्वै, गगा नाम परयौ ॥
तन माया, ज्यौ ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ।
कै इनकौ निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ ॥[8]

उपर्युक्त पद मे भक्त कवि उद्धरण के माध्यम से परमात्मा की समदर्शिता सिद्ध करना चाहता है साथ ही माया और ब्रह्म का उल्लेख भी करता है। उदाहरणों का उल्लेख करने वाले गीति-पदो मे साधारण दृष्टि मे भाव की गहनता दृष्टिगत नहीं हो सकती किन्तु भक्त कवि अपने कथ्य मे बार-बार ९ नही देगा अथवा

भगवान को उसके कृत्यों का स्मरण नही दिलायेगा तो न तो उसकी बातो पर कोई विश्वास करेगा और न भगवान ही, सम्भवत उसकी ओर कृपा दृष्टि करे। इस पद में भी यही तथ्य उल्लेखनीय है। अन्त मे भक्त अपने हृदय पर लिप्त माया को किसी तरह दूर करना चाहता है। यही कारण है कि वह भगवान को सम्बोधित करते हुये कहता है—

"कै इनको निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ।"

इस प्रकार सम्पूर्ण पद मे भाव की अन्विति बनी रहती है। संगीत के विषय मे तो सूर के पदों के लिये कुछ भी कहना व्यर्थ है। सम्पूर्ण पद मे कवि का आत्म-निवेदन दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार रामावतार प्रसंग का अन्तिम पद विनय का उत्कृष्ट उदाहरण है। गीति काव्यत्व पद मे आद्यान्त विद्यमान है तथा आत्माभिव्यक्ति प्रत्येक पंक्ति से व्यंजित होती है—

विनती किहि विधि प्रभुहि सुनाऊँ।
महाराज रघुवीर धीर को, समय न कबहूँ पाऊँ॥
जाम रहत जामिनि कै बीतै, तिहि अवसर उठि धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नीद मे, कैसे प्रभुहि जगाऊँ॥
× × ×
× × ×
एक उपाय करौ कमलापति, कहौ तो कहि समझाऊँ।
पतित उधारन नाम सूर प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ॥[1]

उपर्युक्त पद में "महाराज रघुवीर" की मर्यादित दिनचर्या एवं ऐश्वर्ययुक्त चित्रण के माध्यम से सूरदास ने हृदयग्राही आत्मनिवेदन को व्यक्त किया है। प्रात काल से ही दर्शन की लालसा से भगवान के द्वार पर खडे सूरदास को प्रवेश का अवसर नही मिला। जब वे पहुँचे तो भगवान को निद्रित देखकर संकोचवश उनके पास नही गये और जब वे जागे उसी समय ब्रह्मादि सुर-मुनियो की भीड लग गई। उन्हे अवसर ही न मिल सका। अत वे एक पत्री भेजकर ही सन्तोष कर लेते है। इस गीतिमय-पद मे भक्त के हृदय का आत्म विगलन स्पष्ट है जो गीति का प्राण है। भक्त अपने आराध्य से विनती कर नही पाता। केवल आशान्वित हो वह प्रात काल से ही खडा है। अन्तिम पंक्ति मे "रुक्का" भेजकर वह आत्मनिवेदन करता है। इस प्रकार प्रथम पंक्ति के भाव की पूर्णता रुक्का भेजने पर होती है। गीति की भावात्मकता इस पद मे देखते ही बनती है।

भक्त कवि का हृदय जब सांसारिक व्यामोह मे दुखित होकर पीडित होता है तथा इस संसार से छूटने का मार्ग उसे नही दिखाई देता है, तब वह भगवान की दुहाई देने लगता है। उसके समक्ष अपने दोषो को स्वीकार करके वह आत्मशुद्धि करता है किसी भी प्रकार वह भगवत-अनुग्रह प्राप्त करता है

गोविन्द हम ऐसे अपराधी ।
जिन प्रभु जीउ पिंडु था दीया, तिमकी भाव भगति नहिं साधी ।।
× × ×
परनिन्दा, परधन, परदारा पर अपवादहिं सूरा ।
आवागमन होत है फुनि फुनि यहु परसग न चूरा ।।
काम क्रोध माया मद मत्सर ए संतित मों माही ।
दाया धरम ज्ञान गुर सेवा ए सुपने तरि नाही ।।
दीनदयाल क्रिपाल दमोदर भगत वछल मैं हारी ।
कहत कबीर भीर जन राखहु सेवा करउं तुम्हारी ।।[10]

माधव जू तुम कत जिय बिसर्यो ।
जानत सब अन्तर की करनी जो मै कर्म कर्यो ।।
× × ×
× × ×
हौ पापी तुम पतित उधारन डारै हो कत देत ।
जो जानत यह सूर पतित नहिं तौ तारो निज हेत ।।[11]

माधव मो समान जग माही ।
सब विधि हीन, मलीन, दीन अति लीन विषय कोउ नाही ।।
तुम्ह सो हेतु-रहित कृपालु आरत-हित, ईस न त्यागी ।
मैं दुख-सोक-विकल कृपालु । केहि कारन दया न लागी ।।
× × ×
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ विचार जिय मोरें ।
तुलसीदास प्रभु मोह शृखला छूटि तुम्हरेंहि छोरे ।।[12]

गीति काव्यत्व की दृष्टि से उपर्युक्त सभी पदो में आत्माभिव्यक्ति की व्यंजना स्पष्ट लक्षित होती है । कबीर के गीति-पद की अन्तिम पंक्ति "कहत कबीर भीर जन राखहु, सेवा करऊँ तुम्हारी"—मे सचेतक कबीर का हृदय विनम्र भाव से द्रवित हुआ है । इसी प्रकार सूर के गीति पद मे भक्त का हृदय भगवत महिमा को देखकर आर्त पुकार करता है—"माधव जू तुम कत जिय बिसर्यो ।" हृदय की यह विनीत पुकार अन्तिम दो पंक्तियो मे इतनी अधिक तीव्र भावानुभूति युक्त हो गई है कि गीतात्मक व्यजना स्वयमेव प्रस्फुटित होती है । सूर तो भावों की आत्माभिव्यक्ति में पूर्ण कुशल हैं ही । यही कारण है उनके गीतिपदों में एक ओर जहाँ गीतिकाव्यात्मक तत्व पूर्ण रूप से उपलब्ध होता है वहीं आत्माभिव्यंजना प्रत्येक पंक्ति से व्यंजित होती है तुलसीदास तो दास्य भाव की भक्ति के पोषक थे । तीसरे गीति पद में तुलसी क आत्मनिवेदन प्रथम पंक्ति के साथ समभाव मे चलता हुआ अन्तिम पंक्ति तक प्रवाहित होता है । भावो की यह समदोलता गीति पद की अन्यतम विशेषता है जो इस प में आद्यन्त विद्यमान है इस प्रकार सभी पदों मे भक्त कवि आत्मदोष का कथ

करता है। आत्मकथन के माध्यम से वह आत्मशुद्धि करना चाहता है। इस हेतु भगवद्-अनुग्रह की कामना करता है। इस अनुग्रह की कामना मे भक्त अपने हृदय के सभी भावो को खोल कर रख देता है। वैसे वह यह भी जानता है कि भगवान सर्वज्ञ है वह अन्तर्यामी है किन्तु अपने दोषो की, अपनी कुटिलता को स्वीकृत किये बिना नही रहता। हृदय के ये सहजोद्गार सासारिक व्यामोह मे फँसे हुये जीव की दुखात्मक पुकार है। सूरदास तो भगवत कृपा बिना इतने पीडित होते है कि ससार का सबसे अधम प्राणी अपने को घोषित करते हैं—

हौ हरि सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी इते मान को लायक॥

× × ×

× × ×

ऐसी किनक बनाऊ प्राणपति सुमिरन है भयो आडौ।
अब की बेर निबार लेत प्रभु सूर पतित को टाँडौ॥[13]

भक्त प्रभु के आगे अपने हृदय को खोलकर रख देता है, कोई दुराव या छल कपट नही रखता है। वह यह जानता है कि अपनी बात को छिपाऊँ भी तो कब तक प्रभु से वह छिपी रहेगी। वेद के शब्दो मे गुप्त से गुप्त स्थानो मे होने वाली—गुह्य से गुह्य-मत्रणा तक को सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा प्रभु जान लेते है। आत्मनिवेदन मे एक दृष्टि यह भी रहती है कि भक्त निवेदन किससे करे? वह सत्ता जो घट-घट मे है उसके अन्तर्गत है, सन्निकट है, उससे निवेदन न करे तो किससे करे? यही कारण है कि भक्त परमसत्ता के समक्ष जब चाहे और जैसे चाहे अपने आत्मपीडन को व्यक्त कर सकता है।

इस विवेचन के प्रारम्भ मे ही कह चुका हूँ कि भक्तिकाल के जितने भी कवि थे सभी ने चाहे वे ज्ञानमार्गी हो या राम अथवा कृष्णमार्गी सबने दास्य भाव अथवा विनय के पदो की रचना की है। विनय अथवा दास्य-भाव के पदों में वही तन्मयता, भाव अन्विति एवं हृदयाभिव्यक्ति लक्षित होती है जो इनके सम्प्रदायगत पदो मे। तुलसी की भक्ति ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम के समक्ष दास्य-भाव की थी। अत दास्य भाव के पदो में विनयपत्रिका का कोई साम्य ही नही है। कलिकाल में परमात्मा के समक्ष जितने प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हो सकती है तुलसी ने सभी प्रकार का वर्णन उसमे किया है। सूरदास भी विनय के पदो की रचना करते करते बल्लभ-कृपा से कृष्णचरित का गान करने लगे। इसी प्रकार गदाधर भट्ट, सूरदास, मदन-मोहन, हरिदास, हरिराम व्यास आदि भक्तो ने अपनी-अपनी रचनाओ मे प्रभु के समक्ष आत्मनिवेदन का भाव, विनय का भाव अवश्य प्रदर्शित किया है। गदाधर भट्ट को मनुष्य शरीर प्राप्त करने का ही दुख है। कारण यह कि शरीर प्राप्त करके भी भगवत भजन नही कर पा रहे हैं

कहा हम कीनो नर तन पाइ ।
हरि परितोषण एको कबहुँ बनि आयो न उपाइ ।
हरि हरिजन आराधि न जाने कृपण वित चित लाइ ।
वृथा विषाद उदर की चिन्ता जनमहि गयो बिताइ ।
सिंह त्वचा को मढ्यो महापशु खेत सबन को खाइ ।
ऐसे ही धरि भेष भक्त को घर-घर फिर्‌यो पुजाइ ।
जैसे चोर भोर के आयें इत चितवत बितताइ ।
ऐसे ही गति भई गदाधर प्रभु किम करहु सहाइ ।।[14]

राग विभास के अनुकूल इस पद की रचना भक्त ने की है तथा इसमे अपने हृदय की विकलता का चित्रण किया है। गीति कविता की सभी विशेपताओ से युक्त यह पद विनय भाव का पोपक है। संगीत मर्मज्ञ स्वामी हरिदास जी तो भगवान को समर्पित हो चुके है इसीलिये वे कहते है कि जैसे-जैसे तुम रखते हो वैसे-वैसे मैं रहता हूँ। मै तो पिंजरे मे रहने वाले पक्षी की भाँति हूँ जो पख भले फडफडाये किन्तु उड नही सकता—

ज्यों ही ज्यों ही तुम राखत हौ, त्योंही-त्योंही रहियतु हो हरि ।
और तौ अचरचे पाइ धरौं सोतौ कहौ कौन पैड भरि ।
यद्यपि कियो चाहौ अपनो मन भायौ,
सोतौ क्यो करि सकौ राख्यौ हौ पकरि ।
कहि हरिदास पिंजरा कौ जानवर ज्यो,
फड फडया बरह्‌यो उडिबे को कितोऊ करि ।।[15]

सगीताचार्य हरिदास भक्तिकाल के सर्वोच्च सगीतज्ञ थे। रागविभास में पद की रचना करके भक्त कवि परमात्मा के समक्ष अपना सब कुछ यहाँ तक कि मन भी रख देता है। अब तो वही इसको जो-जो निर्देश देंगे वही-वही यह करेगा। आत्म-समर्पण का भाव सम्पूर्ण पद में है। स्वामी हरिदास के पदो मे गीत की अन्यतम विशेपता, सक्षिप्तता अधिकांशत लक्षित होती है। छोटे-छोटे पदो मे रागात्मक एकता अत्यधिक रहती है। स्वामी हरिदास के पदो में यह विशेषता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

सूरदास मदनमोहन अपनी सम्पूर्ण गति ही परमात्मा के निर्देशों पर बताते हुये कहते है—

मेरे गति तु ही अनेत तोप पाऊँ ।
चरन-कमल-नखमनी, ऊपर विपथ-मुख बहाऊं ।।
× × ×
श्री सूरदास मदन मोहन लाल गुन गाऊं ।
सन्तन की यानही कौ रक्षक कहाऊ [16]

सूरदास मदनमोहन का यह पद विनय भाव का सुन्दर उदाहरण है। सम्पूर्ण पद मे भाव केवल इतना है कि भगवान की भक्ति ही मेरा एक मात्र सुख एवं संतोष है। इसी भाव का विस्तार वह प्रश्नोत्तर के माध्यम से करता है। प्रश्नोत्तर शैली लोकगीतों मे पाई जाती है। यह पद भी इसी विशेषता से युक्त है। अत लोकगीत शैली में गीति-पद रचना के कारण पद का भाव प्रत्येक पंक्ति मे स्वयमेव व्यंजित होता रहता है। यह इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसी प्रकार युगल-शतक के रचयिता श्री भट्ट देवाचार्य का दूसरा पद दास्य-भाव का अच्छा उदाहरण है। राग केदारो मे रचित पद मे शरणागत भाव की व्यजना है—

मदन गोपाल सरन तेरी आयो।
चरन कमल की सेवा दीजै चेरौ करि राखौ धरि जायो॥
धनि-धनि माता-पिता सुतबंधु, धनि जननी जिनि गोद खिलायौ।
धनि-धनि चरन चलत तीरथ को धनि गुरु जिनि हरि नाम सुनायो॥
जे नर विमुख भये गोविन्द सों, जनम अनेक महा दुख पायो।
श्री भट के प्रभु दियौ अभे पद, जम डरप्यो जब दास कहायो॥[17]

मीरा तो अपने को "जनम-जनम की दासी" मानती है। इसीलिये तन-मन-धन से भगवान के चरणो मे अपने को समर्पित करती है। महात्मा के चरण का माहात्म्य उन्हें ज्ञात है। यद्यपि कृष्ण उनके प्रियतम है किन्तु वे अपना स्थान उनके चरणो मे भी पाने के लिये लालायित है—

मै तो तोरे चरण लगी गोपाल।
जब लागी तब कोऊ न जाने, अब जानी संसार।
किरपा कीजो दरसण दीजो, सुध लीजो ततकाल।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहारी॥[18]

इस पद मे माधुर्य के साथ आत्मनिवेदन की तीव्र लालसा स्पष्ट लक्षित की जा सकती है। आत्मनिवेदन ने हृदय की पीडा को, व्यग्रता को वाणी के माध्यम से प्रकट किया है। इससे पद मे अनुभूति का पुंज समाविष्ट हो गया है। मीरा के पदो में जो उत्कृष्ट गीतिमयता प्राप्त होती है वह अन्य कवियों में कम ही देखने को मिलती है।

1—कबीर सग्रह, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पद-8
2—सन्त बानी संग्रह, भाग-2, पृ०-28
3—वही, पृ०-36
4—वही, पृ०-85
5 वही पृ० 91

6—श्यामवाणी, स्वामी हरिराम जी व्यास, पद-14
7—सूर सागर, सभा प्रथम स्कन्ध पद-108
8—वही, पद-220
9—वही, नवम स्कन्ध, पद-172
10—कबीर-संग्रह, हि० प०, इला० विश्वविद्यालय, पद-10
11—सूर सागर, सभा, प्रथम स्कन्ध, पद-156
12—तुलसी रचनावली, बजरंगबली विशारद, विनयपत्रिका, पद-114
13—सूर सागर, सभा, प्रथम स्कन्ध, पद-146
14—गदाधर भट्ट की वाणी, सग्र० कृष्णदास, पद-3
15—श्री केलिमाल, प्रकाशक-कुजबिहारी पुस्तकालय, वृन्दावन, पद-1
16—सूरदास मदन मोहन की वाणी, संग्र० कृष्णदास, पद-1
17—युगल-शतक, श्री भट्ट देवाचार्य, पद-2
18—मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पद-127

(ख) वैयक्तिक संवेदनात्मक गीति-पद

गीति के अन्तर्गत "अनुभूति" का ही शोध करने वाले विद्वजनो को विप्रलम्भ अथवा विरह के पदो मे बडी सहजता से यह मिल जायेगा। यद्यपि भक्तो के द्वारा रचित सभी गीति-पद भक्त्यात्मक अनुभूति के उपरान्त ही अभिव्यक्त हो सके है तथापि विरह-व्यजनायुक्त गीति-पद अनुभूति की दृष्टि से श्रेष्ठतम गीति-पद कहे जा सकते है। केवल अनुभूति ही क्यो ? रागात्मक अन्विति और आत्माभिव्यक्ति मे भक्त कवियो के ये विरह-भाव युक्त गीति-पद पूर्ण सफल रहे है।

प्रेम तो मानव जीवन की अन्यतम एव सर्वप्रमुख आवश्यकता है। लौकिक प्रेम के नायक-नायिका के विछोह में खण्डन होने की सम्भावना हो सकती है परन्तु अलौकिक प्रेम की लौ एक बार लग जाने पर वह अलौकिक प्रियतम के बिना जल-बिना मछली की भाँति तडपता रहता है। प्रेम विचार बुद्धि एवं तर्क से परे है। प्रेम वह प्रकाश पुज है जिसमें केवल प्रियतम की छवि के अतिरिक्त कुछ नही दिखाई पड़ता। प्रेम का यह प्रकाश पुज आँखो मे इस प्रकार बस जाता है कि बस प्रेम ही प्रेम सर्वत्र दृष्टिगत होता है। विरह मे तो यह प्रेम इस प्रकार एकाग्र होकर अवस्थित हो जाता है कि न केवल समाज का वरन अपनी भी सुध बुध विरही भूल जाता है। शरीर की सभी इन्द्रियाँ उसी प्रियतम की मिलन की प्यास लिये हुये तडपती है। ऐसी व्याकुलता मे, तडपन मे वह अपने प्रियतम को बार-बार पुकारता है। ऐसी एकाग्रावस्था की गीति रचना मे अनुभूति एव उसकी अभिव्यक्ति मे अत्यधिक घनिष्ठता रहती है। भगवत प्रेम मे हारे, लुटे एवं टूटे मन का ऐसा पुंजीभूत विवाद है, जीवात्मा के हृदयतत्व से उठकर आने वाला ऐसा मोहक असतोष है जो केवल सहृदय अनुभव कर सकता है। जीवात्मा के हृदय के पीछे घुमडने वाला दव का दाह, आपूर्ति का अवसाद, विरह की व्याकुलता मन को कचोट लेती है। ऐसी निरपेक्ष तल्लीन आत्मविस्मृति ऐसा बहा ले जाने वाला आत्मबोध और आत्मप्रतीति भक्तो की कविता मे जिस केन्द्रीय वेदनाभूति से छनकर अभिव्यक्त हुआ है उसमे "गीति-सौष्ठता" उत्कृष्टतम रूप मे विद्यमान है।

सौन्दर्यमण्डित परब्रह्म से विलग हुई आत्मा की विरह वेदना मे खुमारी की तीव्रता एव अनुभूति की तन्मयता के साथ, भक्तिकालीन भक्तो के करुण क्रन्दन मे अपने चरम उत्कर्ष पर मिलती है। कुछ ने किसी माध्यम विशेष मे अपने हृदय के चीत्कार को व्यक्त किया तो किसी ने अपनी पीडा को पहले ही समझकर सीधे-साधे शब्दो मे उस प्रियतम को पुकार-पुकार कर व्यक्त किया है—

बालहा, आव हमारे गेह रे,
तुम बिन दुखिया देह रे।
सबको कहै तुम्हारी नारी मोको इहै अदेह रे,
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे,
अन्न न भावै नींद न आवै, गृह बन धरै न धीर रे,
ज्यूँ कामी को काम पियारा, ज्यूँ प्यासे को नीर रे,
है कोई ऐसा पर उपकारी, हरि से कहै सुनाइ रे,
ऐसे हाल कबीर भये है, बिन देखे जिव जाइ रे,[1]

ज्ञानमार्गी सन्तो ने तथा मीराबाई के पदो मे माधुर्य भाव के पदो की अभिव्यक्ति बिना किसी माध्यम के हुई है। मीरा की कृष्ण भक्ति कान्ताभाव की थी किन्तु सन्तो की साधना मे हमे जो माधुर्य भाव दृष्टिगत होता है वह सूफियो की देन है जो प्रणय में अभिव्यक्त हुई है। इन कवियो ने अपने अलौकिक प्रेम का परिचय देने हुये अपने से अभिन्न समझकर उसके साथ विभिन्न सम्बन्ध स्थापित किये है। उस परब्रह्म को अपने पति के रूप मे वरण करने हुये उसके प्रति कान्ताभाव से प्रेम (सयोग और वियोग) के भाव प्रगट किये है और स्वयं को सर्वतोभावेन समर्पित कर डाला है। प्रेम, भक्ति और इश्क एक अभिन्न प्रेम तत्व है। इस प्रेम मे अपना सर्वस्व इन सन्तो का लक्ष्य है। जब तक प्रेमिका का प्रियतम से, जीवात्मा का परमात्मा से विछोह है तब तक प्रेमिका को कहाँ चैन। प्रेमिका की आत्मारूपी नदी आकुल भाव मे विश्वात्मा रूपी जलनिधि मे मिलने या उसमे अपने स्वरूप को खोकर लीन होने के लिये व्यग्र है। यह व्यग्रता, व्याकुलता, गीति उद्भावना मे अत्यन्त सहायक हुई है। यह प्रेमानुभूति जिस दिन से हुई उस दिन से इसे चैन ही नही। कबीरदास तो अपने गुरु के बडे ऋणी है कारण यह कि गुरु ने उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर परमात्मा को प्रेम-विषयक एक प्रसग कहा जिससे प्रेम से बादलो ने रस वृष्टि करके उनके सम्पूर्ण शरीर को सिक्त कर दिया। इस प्रेम मे परिपूर्ण होकर ही बार-बार उस प्रियतम को पुकारने लगे और यथा शीघ्र उसे अपने घर बुलाने लगे और कहने लगे कि मै तुम्हारी परिणीता हूँ किन्तु कितनी विडम्बना है, आश्चर्य है कि मै अब तक तुमसे संयोग न कर सकी। वो सौभाग्यशाली दिन कब आयेगा जब हमारी चिर-प्रतीक्षित साध पूरी होगी और हम प्रगाढ आलिगन मे भरकर प्रियतम को भेटेंगे। मेरी एक कामना पूरी कर दो तुम तो पूर्ण समर्थ हो क्यो नही निर्बन्ध-भाव से मेरे तन-मन-प्राण के साथ खेलते ? उदासी भरी घड़ियाँ काटे नही कटती, राह देखते-देखते रात बीत चली। वैरिन सेज भी सिंह बन गई, जब भी उस पर पौढती हूँ, खाने को दौडती है। अब एक छोटी-सी बिनती कबूल करो, मिलन-बेला का सुख देकर तन के ताप को मिटा दो ताकि सखियो को सुहाग के मगल-गीत गाने का अवसर मिले

वे दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारन हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ ॥टेक॥
हौं जानूं वे हिल मिलि खेलूं, तन मन प्रान समाइ।
या कामना करौ परपूरन, समरथ हौ राम राइ ॥
मांहि उदासी माधौ चाहै, चितवत रैनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊँ तब खाइ ॥
यहु अरदास दास की सुनिये तन की तपित बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे साईं, मिलि करि मंगल गाइ ॥[2]

किन्तु वह प्रियतम तो सुन ही नही रहा है। तन मन मे उसके दर्शन की प्यास है और जिह्वा तो निस-दिन उसी का नाम रटती रहती है। नींद की बात तो दूर रही, रात तडपते हुये बीत जाती है—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया ॥
तन मन मोर रहट अस डोलै, सुनी सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भये पन्थ न सूझै, साईं बेदरदी सुधि न लिया ॥[3]

वह प्रियतम तो फकीर की भाँति है। पुकार-पुकार कर थक गये किन्तु सुनता ही नही। गुरु ने शब्द ज्ञान मे उसका परिचय करा दिया और जब मैं उसे जान गया हूँ तब वह पास ही नही आता। भक्त तो अपनी ओर से प्रेम का निर्वाह कर रहा है साथ ही उससे भी प्रार्थना करता है कि वह भी अपनी ओर से प्रेम का निर्वाह करे। इसी से मीराबाई कहती हे हे प्रियतम तुम मेरी प्रीति का निर्वाह करना। प्रियतम तुम तो गुणो के सागर हो अत अवगुणो पर ध्यान मत देना। प्रेमिका को पूर्ण विश्वास है कि परमात्मा एक न एक दिन आयेगा और अपने श्रीमुख से अनहद नाद का आनन्द बता जायेगा—

साँवरो म्हारो प्रीत णिभाज्यो जी।
थे छोम्हारो गुण रो सागर, औगुण म्हाँ बितरा ज्यो जी ॥
लोक पा सीझ्याँ मण पतीज्याँ मुखडा सबद सुणाज्यो जी।
दासी थोरी जनम-जणम म्हारे आँगण आज्यो जी ॥
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर बेडा पार लगा ज्यो जी ॥[1]

उपर्युक्त सभी पदो मे गीति की कितनी सहज उद्भावना है इसका अनुमान लगाया नही जा सकता। हाँ गीतिमयता को समझने वाला गूँगे के गुड समान स्वयं भावानुभूतिमय होकर समझ सकता है। उन्मादरहित गहन गाम्भीर्य संगीतमय अभिव्यक्ति के साथ-साथ सम्पूर्ण पद मे मर्मस्पर्शिता शब्द-शब्द मे कूट-कूट कर भरी पड़ी है। इस प्रकार के सभी पदो मे अनुभूति की प्रधानता है ऐसे अनुभूतिमय गीति-पदों को शुद्ध गीति-काव्य के अन्तर्गत नि सकोच रखा जा सकता है शब्दो का सहज प्रवा

कहीं भी भाव प्रवाह में बाधक नहीं है वरन यह कहा जा सकता है कि भावानुकूल शब्दों का निर्माण, भक्त कवि के द्वारा किया गया है अथवा अनायास हो गया है। भक्तो के व्यक्तिगत उच्छ्वासो मे कृत्रिमता की गन्ध भी नही है। इस प्रकार सहजता के साथ यत्र-तत्र ज्ञानात्मक कथन आ गये है किन्तु वे सभी न तो उपदेश देने के लिये है अथवा न अपनी ज्ञानात्मकता के अहं को व्यक्त करने के लिये है। वरन् एक तडप है दर्द है जो सरल राग बनकर हृदय से निकल रही है। धरमदास के पद मे इसी प्रकार की अनुभूति का सागर भरा हुआ है—

नैन दरस बिन मरत पियासा।
तुमही छाडि भजूँ नहिं औरे नाहि दूसर आसा।
आठो पहर रहौ कर जोरी, करि लेहु आपन दासा।
निस बासर रहुँ लवलीना, बिनु देखे नहि बिस्वासा।
धरमदास विनवै कर जोरी, द्यो निज लोक निवासा ॥[5]

स्वानुभूति की अभिव्यक्ति सन्तो के गीति-पदो मे स्पष्टतया मिलती है। प्रेम की बेल जो नेत्रो के माध्यम से बोई जा चुकी है अब परमात्म दर्शन के बिना कही सूख न जाय। अत. भक्त कवि करबद्ध प्रार्थना कर रहा है। पद की प्रथम पंक्ति मे ही परमात्मा के दर्शन की जिस व्याकुलता का भाव उपस्थित करता है। उसी का विकास करता हुआ प्रार्थना में परिणत करता है अत भावैक्य आद्यन्त रहता है। इस पद की एक अन्यतम विशेषता यह भी है कि भक्त कवि विरह के माध्यम से आत्मनिवेदन करता है। गीति की भावोत्कृष्टता इससे ओर अधिक बढ जाती है।

भक्त कवि दादू के गीतिपदो मे सहज अन्त. प्रेरणा,स्पष्ट लक्षित होती है। परमात्मा के विछोह मे व्याकुल हृदय अपनी हृदयगत पीड़ा को जब्त नही कर पाता, वाणी के माध्यय से वह फूट ही पडती है—

अजहूँ न निकसै प्राण कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ॥
चारि पहर चारौ जुग बीते, रैन गँवाई भोर।
अवधि गई अजहुँ नहि आये, कतहुँ रहे चित चोर ॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
दादू ऐसे आतुर विरहणि, जैसे चन्द चकोर ॥[6]

हृदय की पीडा को हृदय मे दबाये-दबाये बोझ बन गया है इसीलिये भक्त कवि अपने सुन्दर प्रियतम का दर्शन पाना चाहता है। उसके प्राण कैसे कठोर है कि आज तक प्रियतम के दर्शन बिना अटके हुये है निकलते नही। अब तो रात-दिन प्रियतम परमात्मा के आगमन का मार्ग देखते-देखते बीतता है। भक्त के व्याकुल प्राण अपनी वेदना की, तथा प्रियतम के आस की तुलना ''चन्द-चकोर'' से करता है। सम्पूर्ण पद मे एक ओर जहाँ विरहाकुल हृदय की सहजाभिव्यक्ति है वही रागात्मक अन्विति भी इसकी विशेषता है कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत

तोर" मे रागात्मक अन्विति और अधिक पुष्ट होती है साथ ही गीति पद का मूल भाव भी इसी पक्ति से तीव्रता के साथ नि.सृत होता है। अन्तिम पक्ति मे भक्त द्वारा आतुर विरहणि और चन्द चकोर का उल्लेख आत्म प्रक्षेप का लक्षण है। अत गीति-पद की गीतिमयता इसमे देखते ही बनती है।

आत्मा-परमात्मा के मिलाप का मुख्य कारण-प्रेम है। प्रेम हृदय की सहज, स्वाभाविक गति है। प्रेम की रागात्मकता का फूट पडना अनिश्चित है। कब कहाँ और कैसे हृदय प्रेमानुभूति मे आपूरित होगा यह समयाबद्ध नही। और जब प्रेम की लौ लग ही गई तब फिर प्रेमी से मिले बिना चैन कहाँ। प्राण-प्यारे प्रेमी के बिना तो यह जीवन निरर्थक है वही प्रियतम जीवनाधार हो जाता है। धरनीदास इसी से तो तड़पते-तडपते पुकार उठते है—

अजहुं मिलो मेरे प्रान-पियारे।
दीनदयाल कृपाल कृपानिधि, करहु छिमा अपराध हमारे।।
कल न परत अति विकल सकल तन, नैन सकल जनु बहत पनारे।
मास पचो अरु रक्त रहत भे, हाड़ दिनहुँ दिन होत उघारे।।
नासा नैन स्त्रवन रसना रस, इन्दी स्वाद जुआ जनु हारे।
दिवस दसो दिसि पंथ निहारत, राति बिहात गनत जस तारे।।
जो दुख सहत कहत न बनत मुख, अन्तरगत के हौ जानन हारे।
धरनी जिव झिलमलित दीप ज्यो, होत अधार करो उजियारे।।[7]

सम्पूर्ण गीति पद आत्माभिव्यक्ति का सुन्दर उदाहरण है। यद्यपि वियोग के साथ दीनदयाल एव कृपाल के सम्बोधन से दास्यभाव का योग हो जाता है किन्तु माधुर्य की प्रधानता गीति पद में आद्यन्त बनी रहती है। यही कारण है कि विरह-जन्य प्रक्रिया की चरम परिणति अन्तिम पक्ति मे लक्षित होती है। वही गीति भाव की चरम-परिणति है। बीच की सभी पंक्तियाँ साधन है। "प्रान-पियारे" प्रियतम से विलग होकर चित्त स्थिर कैसे रह सकता है। प्रियतम की स्मृति मे शरीर क्षीण होता जा रहा है। वियोगजन्य दुख का वर्णन करना भी सम्भव न रहा। जीवन ज्योति कब बुझ जायेगी कहा नही जा सकता। अत मेरे अपराध क्षमा करो और आज भी मिल जाओ। इस प्रकार गीति-पद की रागात्मक अन्विति कही भी बिखरी नही है। उत्प्रेक्षा का प्रयोग और अधिक भावाभिव्यजना मे सहायक हुआ है। हृदय की विगलन जो सगीत के आश्रय से स्फुरित हुई वह गीति पद में व्यक्त हुई है।

विरह की वेदना जो सीधे हृदय को बेधती है गीति उद्भावना का क्षेत्र है। विरह की वेदना हृदय को वेधकर चुप नही बैठती वरन वह उसके टुकडे-टुकडे करना प्रारम्भ कर देती है। सम्भवत इस वेदना की तीव्रता एवं व्यापकता को देख-सुन एवं ——— ही भवभूति ने कह डाला था "एको रस करुण एव" सच भी है भक्त की कसौटी और क्या हो सकती है? यही भगवत विरह जिसकी व्याकुलता

वस्तुत विरह में गीति की सम्भावना और अधिक बढ जाती है। कवि के हृदय में गीति का गुंजार किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के द्वारा क्षुब्ध होने पर होता है। विरह तो प्रेमी को प्रत्येक समय क्षुब्ध (पीडित, व्याकुल) किये रहता है। इससे विरही के हृदय मे अनुगूंज की इतर आवश्यकता या कमी नही रहती। आवश्यकता है तो केवल उस अनुगूंज के अनुकूल शब्दों की जिससे उसका प्रत्यक्षीकरण हो सके। यहा कवि के मनोविकारो का भी सहयोग होता है। जैसे विकार सहृदय कवि के होते है उसका प्रत्यक्षीकरण भी उसी अनुरूप होता है। प्रायः सन्तो ने प्रत्यक्ष रूप से अपने ही माध्यम से इस विरह-विदग्धता का गीतिमय वर्णन किया है किन्तु सूर की गोपियो या राधा के व्याज से अपने हृदय की आकुलता को तरल वाणी देते है। यह विरह का ही प्रभाव है जिससे गूढ से गूढ, सूक्ष्म से सूक्ष्म साधनात्मक योग और परमात्मानुभूति भी सहज एवं सामाजिक के लिये बोधगम्य वाणी के सम्बल से प्रगट हुई है। दूसरी ओर ज्ञानात्मक योग का खण्डन भी अत्यन्त सहजता से करके भक्ति भाव की प्रतिष्ठा भक्त कवि सूर ने भ्रमरगीत मे की है। इस कथन हेतु सर्वाधिक उपयुक्त साधन एक ही रहा है, वह है—गीति। गीति की संगीतमयता भावाभिव्यक्ति की क्षमता एव संवेदन की विशेषता से पूर्ण परिचित भक्त कवियो ने इसी का उपयोग किया है। मीरा के पदों की संवेदना का यह एक कारण है, उनके हृदय की विकलता गीतिपदों मे अत्यन्त सहजता के साथ अभिव्यक्त हुई है—

दरस बिण दूखण लागे नैण ।।टेक।।
सबदाँ सुणताँ मेरी छतियाँ काँपाँ मीठो थारो बैण ।।
बिरह बिथा काँस री कहयाँ पेठा करवत जैण ।
कलणा परताँ पल हरि मग जोवाँ भयाँ छमासी रैण ।।
थे बिछड्या म्हाँ कलपा प्रभु जी, म्हारो गयो सब चैण ।
मीरा रे प्रभु कबरे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैण ।।[8]

व्यक्तिगत संवेदना का गीतिमय कथन मीरा के गीति पदो मे सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। राग देस मे रचित इस पद की आत्माभिव्यंजना तीव्र है। प्रथम पंक्ति मे वर्णित दर्शन की अभिलाषा का आगे की पंक्तियाँ साधन के रूप मे विकास करती है। तथा "थे बिछड्या म्हा कलपाँ प्रभु जी, म्हारो गयो सब चैण" मे गीति की व्यंजना चरम सीमा को प्राप्त कर लेती है। अन्तिम पंक्ति मे व्यक्तित्व का प्रक्षेप करके भक्त कवियित्री इस गीति पद की सुगठता की वृद्धि कर देती है। मीरा के आत्म-संवेदनात्मक गीति पदो मे इस प्रकार की गीति रचनात्मक विशेषता अधिकाशत. दृष्टिगत होती है।

परमात्मा के बिछोह से व्याकुल सन्त भक्त दादू से डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभावित हुये बिना नही रहते। उनके विरह की तडपन के विषय मे डॉ० द्विवेदी का कथन उद्धृत करना पर्याप्त होगा—"इनके पदो मे जहाँ निर्गुण निराकार निरंजन को व्यक्तिगत के रूप मे किया गया है वहा वे कवित्त के उत्तम

उदाहरण हो गये है। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस ही सूफी भावापन्न कवियो की याद आ जाती है। सूफियो की भाँति इन्होंने भी प्रेम को ही भगवान का रूप और जाति बताया है, विरह के पदो में सीमा का असीम से मिलने के लिये तड़पना सहृदय को मर्माहित किये बिना नही रह सकता।"[9] दादू के एक गीति पद में इसी प्रकार की भावात्मक तीव्रता देखी जा सकती है—

दरसन दै, दरसन दै हौ तो तेरी मुकति न माँगौ रे।
सिधि ना माँगौ, रिधि ना माँगौ तुम्हही माँगौ गोविन्दा ।।
जोग न माँगौ, भोग न माँगौ, तुम्हही माँगौ राम जी।
घर नहिं माँगौ बन नहिं माँगौ, तुम्हही माँगौ देव जी ।।
दादू तुम्ह बिन और न जानै दरसन माँगौ देहु जी ।।[10]

दादू के इस गीति पद के शब्द में गीतात्मक प्रवाह है। परमात्मा का दर्शन, उसकी प्रत्यक्षानुभूति, उसकी अभिलाषा का वर्णन सन्त भक्त कर रहा है। जन्म-जन्मान्तर रामभक्ति माँगने वाले तुलसी की भाँति यहाँ दादू भी केवल दर्शन की अभिलाषा करते हैं। इस अभिलाषा की तृप्ति हेतु सिधि, रिधि, जोग, भोग, घर, बन, सब कुछ त्यागने को तत्पर है। यहाँ सभी पंक्तियाँ गीति की राग एवं भाव की एकता बनाये रखती है। अन्तिम पंक्ति मे तो गीति की पूर्ण रसाभिव्यक्ति करता हुआ कहता है—"तुम्हारे बिना और किसी को नही जानता हूँ, केवल तुम दर्शन दो" भक्त संसार से निर्लिप्तता की आत्माभिव्यक्ति करता है। दादू के गीति पदो की यह अन्यतम विशेषता है। दादू के एक अन्य गीतिपद में लोकगीतात्मक व्यजना देखते ही बनती है—

जीयरा क्यूँ रहे रे,
तुम्हारे दरसन बिन बेहाल ।।
पड़दा अंतरि करि रहे, हम जीवहि किहि आधार।
सदा सगाती प्रीतमा रे, अबके लेहु उबारि ।।
गोपि गुसाई ह्वै रहे, अब काहे न प्रगट होइ।
राम संनेही संगिया, दूजा नाही कोइ ।।
अंतरजामी छिपि रहे, क्यो हम जीवैं दूरि।
तुम बिन व्याकुल केसवा, नैन रहे जलपूरि ।।
आप प्रछन ह्वै रहे, हम क्यौ रैनि बिहाइ।
दादू दरसन कारने, तलफि-तलफि जीव जाइ ।।[11]

सन्त भक्तों की संगीतमय भावागत विशेषता से युक्त इस गीतिपद मे सरल प्रवाह एव विद्यमान है पूरे गीतिपद मे दो स्थलो पर गेयत्व न

तीव्र करने के लिए "रे" ध्वनि का प्रयोग किया गया है। इससे विरह व्यंजना अत्यंत तीव्र हो जाती है। इस गीतिपद में दरसन बिन बेहाल भक्त की व्याकुलता का चित्र गीति की सहजता से स्पष्ट हो जाता है। प्रारम्भ से अन्त तक गीति की भावात्मकता कहीं भी बिखरने नही पाती, वरन वह तो "तलफि तलफि जिव जाइ" मे ही पूर्ण होती है। इस प्रकार रागात्मक अनुभूति की एकता भी इस गीतिपद की अन्यतम बिशेषता है।

अत व्यक्तिगत संवेदनात्मक गीतिपदों में अनुभूति की जो तीव्रतम अभिव्यक्ति हुई है, वह अन्य गीतिपदो में उतनी नही मिलती। ज्ञानात्मक अथवा लीला गीतिपदों में जहॉ चेतना अथवा भाव का प्रमुख स्थान है वहाँ संवेदनात्मक गीतिपदो मे अनुभूति का और यह अनुभूति है विरह विकलता की। इस प्रकार के गीतिपद गीति के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माने जा सकते है।

1—कबीर ग्रन्थावली, सभा, पद-307.
2—वही, पद-306
3—मीरा-स्मृति-ग्रन्थ, प्रकाशक-बंगीय हिन्दी परिषद, पृ०-125
4—मीरा बाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पद, 129
5—सन्तबानी संग्रह, भाग 2, पृ०-34
6—वही, पृ० 82.
7—वही, पृ० 84.
8—मीरा बाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पद-103.
9—हिन्दी साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-144.
10—सन्त-सुधा-सार, पृ० 428
11—दादूदयाल, परशुराम चतुर्वेदी, पद-4

(ग) तादात्म्यजन्य गीतिपद (रागात्मक गीतिपद)

इस वर्ग के अन्तर्गत ऐसे पदो का विवेचन किया गया है जिसमें परमात्मा को प्राप्त कर, उसकी आत्मानुभूति करके भक्त प्रसन्न हो उठा है। उसका आह्लाद-जन्य हृदय अपनी प्रसन्नता की उन्मुक्त अभिव्यक्ति करता है। यद्यपि यह सत्य है कि सभी भक्तिकालीन कवियो का आह्लाद एक ही प्रकार के भाव को लेकर नहीं है। यह परमात्म-मिलन कही प्रेमरस की पूर्ति करता है, कही दास्य भाव की पुष्टि करता है, कही सख्य की, तो कही शान्त की। तथापि इसी प्रकार के पदो मे जो पद आह्लादकारी, हृदय तारो को झंकृत करने वाले एवं मर्म को बेधने वाले प्रतीत हुये है उनका विवेचन तद्गत भावप्रवाह मे किया गया है। इस विवेचन को पूर्ण करने मे यह भी दृष्टि में रखना होगा कि जिस कवि की भाव धारा अर्थात परमात्मा से अपने सम्बन्ध की अवधारणा जिस भक्त कवि ने जिस भाव के अनुरूप की है उसका वर्णन, उसके भावो के अनुसार किया गया है। भक्तिकालीन गीतिपदो मे प्राप्त भाववैविध्य का कारण भी यही है।

कबीर को ही ले लीजिये। जो मस्ती कबीर के प्रेम मे है, जो मादकता कबीर के रोम-रोम मे "प्रेम पियाला" पीने के बाद हो चुकी है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इसी से भक्त कवि कबीर जो ज्ञानमार्गी है किन्तु पोथी के ज्ञान पर उनका विश्वास नही है वरन अनुभव पर है, वे सभी ज्ञान का सार तो "प्रेम" शब्द मे छिपा हुआ बताते है। सिर्फ ढाई अक्षर का यह शब्द उनके अनुभव में उतरा। भक्त कवि प्रेम प्राप्त कर मस्त हो उठता है। मस्ती का यह आलम है कि वह अब किसी से बोलना भी नही चाहता शायद उसे अब बोलने की आवश्यकता ही नही रह गई—

मन मस्त हुआ क्यो बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यो खोले।
हलकी थी तब चढी तराजू, पूरी भई तब क्यो तोले।
सूरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यो डोले।
तेरा साहब है घर मांही, बाहर नैना क्यो खोले।
कहै कबीर सुनो भई साधो, साहब मिल गये तिल ओले।[1]

अनुभूति की तीव्रता नही उसकी तरलता और सहजता को अपनी गीतिलय होती है। नदी की तरह चंचल, उच्छृङ्खल नही, समुद्र की लहरों की तरह आत्म-समाहित, समदोल। इस गीति मे भावना का वही मिजाज, शब्दो का वही समदोल और एक दूसरे पर गिरकर संगीत का ऊँचा-नीचा स्वर उत्पन्न करना हम सुनते है, अनुभव करते है। भक्त कवि की यह निजी अनुभूति जो भक्ति की परिपक्वता मे प्राप्त है, उस "सहज" तत्व से ओत-प्रोत है जो भाव और अभिव्यक्ति मे भी तीव्रता

की जगह सहजता ले आया है। आस-पास के जीवन से लिये गये दृष्टान्तो-गाँठ मे गठियाना, तराजू पर तौलना, कलारी आदि को रामरस की मत्त अवस्था में संयोजित करके उसकी आत्माभिव्यक्ति समाहिति के लिये, हंसा मानसरोवर से गुजरते हुये घट के भीतर प्रत्यक्षीकरण की अनुभूति मे डुबो देना गीति की सिद्धि है। यह गीति उन्मीलन का नही, निमीलन का है क्योकि मन के मस्त होने का है। अत्यन्त मस्ती मे भावना का उफान, वेगमय विकास या चरमसीमा की प्रक्रिया नही आती। इसलिये इस गीति में गीति भावना का वैसा कोई विकासक्रम लक्षित करना भ्रामक होगा। कवि निजी-गहन-अनुभूति को प्रखर ढंग से नही सरल ढंग से प्रस्तुत करता है। जब उसका मन मस्त हो जाता है---मन मस्त हुआ --तो वाणी का वेग थम कर सागर की भाँति गहन गाम्भीर्य युक्त हो जाता है, शब्दो का अलकरण या उफान किंचित मात्र भी नहीं रहता। अलंकरण का शब्द ही निरर्थक हो जाता है। तभी वह कहता है---तब क्यों बोलै। किसी अमूल्य अनुभूति की प्राप्ति से यह मस्ती आई है इसलिये उसका बाह्यीकरण व्यर्थ है जैसे हीरा पाकर गाँठ मे सुरक्षित गठिया लिया जाता है क्योकि बार-बार उसे खोलने, देखने मे गिर जाने का भय रहता है। किन्तु जिसे अदेशा ही नही, शका ही नहीं, भ्रम नही वह तो समझ ही रहा है कि वह अमूल्य हीरा उसके पास है ही साथ ही हीरा जैसी रहस्यानुभूति को बार-बार कहने की आवश्यकता भी नही समझता है। मस्ती वजनदार है हल्की नही, चित्त की यह अन्तर्लीन अगाध अवस्था है। उसकी तुलना में सभी कुछ हल्का है यहाँ तक "वाणी" भी। भक्त कवि द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्त अत्यन्त परिचित है किन्तु व्यंजना गहराती ही जाती है। गाँठ गठियाने से न तुलने तक। भक्त कवि इससे भी आगे की परिणति करता है---"मदवा पी गई बिन तोले" सुरति के मतवालेपन की यह चरमसीमा है। यहाँ फिर कहना पड़ता है कि उत्ताल तरंगो के रूप मे गीति भाव और अभिव्यक्ति की इस चरमसीमा पर नहीं पहुँचता है। वरन गहराई मे उतरने की अन्तरसीमा पर। और यह गहराई है "मानसरोवर" के अतल मानस मे रस की सान्द्रता की जो सरोवरवत् प्रशान्त है, कल कल छल छल रहित, स्वर की बार-बार आवर्तित उर्मियो से ओत-प्रोत---जैसा यह पद है। ताल तलैया के छिछलेपन या सतह पर न तो अनुभूति है न स्वर सगीत। दीर्घस्वरो के आघात से, ईकारान्त, आकारान्त, ओकारान्त के विनियोग से अनुभूति की गहराई, गरिमा और व्याप्ति शब्द मूर्त होने का उपक्रम करती है। मत्तता में जैसे आँखे मुदती चली जा रही है---अनुभूति अन्तरलीन होती चली जा रही है। अन्त में निष्कर्षतः भक्त कवि "साहब" के गरिमामय व्यक्तित्व के, स्वामी की गुरुता और उससे तदाकारता की सघनता को घट मे प्राप्त करने की आवश्यकता को "तिल ओले" मे समेट कर गीति को एकदम अन्तरमुखी बिन्दु पर समाप्त कर देता है। अभी तक जो कुछ भी कहा गया था वह सुनो भाइ साधो को सम्बोधित करने के उद्देश्य से सम्पूर्ण दृष्टान्त

उसको या पाठक को समझाने मात्र के उद्देश्य से थे। उसकी निजी अनुभूति अत्यन्त उल्लसित लघु वाक्य मे अपनी चरमता पा लेती है "साहब मिल गये तिल ओले" गीति की, लय की सारी मस्ती का यही कारण है। कबीर के मादक प्रेमानुभूति को लक्ष्य कर डॉ० राम खेलावन पाण्डेय का इस गीति पद के विषय में कथन अत्यन्त सत्य प्रतीत होता है—"कबीर के प्रेम की अनुभूति असीम का आकार ग्रहण कर लेती है। अनुभूति की तीव्रता के साथ विचार का सामंजस्य है। भावना और अभिव्यंजना का सतुलन है। कवि और पाठक मे दार्शनिक शब्दावली के कारण आने वाला व्यवधान कबीर की वृत्ति के कारण है किन्तु बौद्धिकता का यह आग्रह रागात्मिका वृत्ति को क्षुण्ण नही करता। कल्पना और प्रकृति के विशद चित्र इसमे नही, कबीर की पहेली—प्रवृत्ति के दर्शन भी यहाँ नही। अनुभूतिपूर्ण वृत्ति का सहज अविरल प्रवाह है, जिसमें सौन्दर्य है, भावुकता है, सगीतात्मकता है, राग है, और है संवेदनशीलता।"[2]

भगवत प्राप्ति से कबीर मस्त हो गये अब तो वे किसी से कुछ कहना सुनना भी नहीं चाहते और दादू तो हरि रस को प्राप्त कर इतने "मगन" हो गये कि "आमण मरण सब भूलि गये।"—

हरि रस माते मगण भये।
सुमिरि-सुमिरि भये मतवाले, जामण मरण सब भूलि गये ॥
निर्मल भगति प्रेमरस पीवै, आन न दूजा भाव धरै।
सहजै सदा राम रँगि राते, मुकुति बैंकुठै कहा करै ॥
गाइ-गाइ रसलीन भये है, कछू न मागे सत जनाँ।
और अनेक देहु दत आगै, आन न भावै राम बिनाँ ॥
इकटक ध्यान रहै त्यौं लागे, छाकि परे हरि रस पीवै।
दादू मगन रहै रसि माते, ऐसे हरि के जन जीवैं ॥[3]

भगवान में ध्यान रहने से वह अवश्य मिलते है और जब प्राप्त होते है तब तो छक कर प्रेम रस का पान कराते है। भक्ति की निजी अनुभूति ही इन पंक्तियो मे व्यक्त होती रही है। "निर्मल भगति" के द्वारा एक बार प्रेमरस का पान करने के बाद तो दूसरा भाव ध्यान मे आ ही नही सकता। रामभक्ति मे जो रस है सहजानन्द है वह तो बैकुठ की मुक्ति में भी नही है। भक्त तो हरि की अनुभूति कर चुका है और जैसे-जैसे वह भगवान का स्मरण करता है वैसे-वैसे वह सब कुछ भूलता जाता है, उसकी अवस्था आत्मविस्मृति की हो जाती है। जिस अनुभूति के आनन्द मे, भगवत-रस में वह आत्मलीन हो जाता है वह रामभक्ति के द्वारा प्राप्त होता है। कवि का कथन एक ओर जहाँ अत्यन्त सहज, स्वाभाविक तथा तरलता को लिये हुये है वही उसकी अनुभूति की गहनता को, उसके आत्म समाहित, रसलीन भावो की लय को अभिव्यक्त करते हैं। कवि की अभिव्यक्ति में क्या कहीं बनावट है क्या यह

अभिव्यक्ति सप्रयास है अथवा काव्यत्व के बोझ से बोझिल होकर भावों को स्पष्ट करती है ? सबका एक ही उत्तर है नही । कवि की यह अभिव्यक्त हृदय के उच्छ्वासो के साथ अभिव्यक्त हुई है । कवि तो रस पान करते ही मगन हो गया है; इस प्रेम रस मे तो वह इतना मतवाला हो चुका है कि अपनी ही सुधबुध उसे नही है तो कहाँ उसको काव्य-रचना के द्वारा अपने भावो को अभिव्यक्त करने की चेतना होगी । प्रेम-रस से मतवालापन इतना अधिक बढ़ जाता है कि भक्त कवि "गाइ-गाइ रस लीन भये ।" अब बताइये चेतना को, काव्य-रचना प्रवृत्ति को कहाँ स्थान कि वह कवि से सचेष्ट होकर काव्य रचना करा करे । वस्तुत यह तो प्रेम की पूर्णता है, परिपक्वावस्था है, उसकी निजी अनुभूति की अन्तर्लीनता है जो सहज ही अभिव्यक्त हो रही है । प्रेमरस प्राप्त कर हृदय उच्छृङ्खल नही होता वरन उसमे तो सामुद्रिक गहनता है यही कारण है कि प्रथम पंक्ति से अन्तिम पंक्ति तक अनुभूति समान रूप से चलती है । यह अनुभूति इतनी हल्की-फुल्की भी नहीं है कि कहीं भी बिखराव आया हो वरन "गाइ गाइ रसलीन भये" पंक्ति मे तो कुछ और अधिक बढ़ती हुई सी प्रतीत होती है । संगीत हृदय की रागात्मकता की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण सक्षम है, अपनी इस सक्षमता का परिचय तो प्रत्येक भक्त कवियो ने पदो मे दिया है ।

भक्त भगवान को प्राप्त कर लेता है उसकी रसानुभूति कर लेता है उसे भगवत अनुग्रह द्वारा ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो जाता है । सन्तो के भगवान तो उनके हृदय मे है, वह तो सर्व व्यापक है कहाँ नहीं है कण-कण मे है । जब वे अपने ही शरीर मे हैं तो उसे हम अन्यत्र क्यो खोजने जायें उसे अपने ही "घट" में ढूढना चाहिये—

काहे रे बन खोजन जाई ।
सर्व निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई ।।
पुष्प मध्य जो बास बसत है, मुकर माँहि जस छाई ।
तैसेही हरि बसै निरन्तर, घट ही खोजो भाई ।।
बाहर भीतर एकै जनो, यह गुरू ज्ञान बताई ।
जन नानक बिन आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई ।।[4]

नानक के उपर्युक्त पद मे अत्यल्प उपदेश का कथन है परन्तु कवि की भावाभिव्यंजना उस ओर संकेत करती है जिसमे यह स्पष्ट होता है कि उसने गुरु की कृपा से, उसके द्वारा बताये गये साधन मार्ग से अपने ही घट में व्याप्त सर्व निवासी को पा लिया है इसीलिये अब उसे भ्रम है ही नहीं, यही कारण है कि संसार-वन मे अब उसे नही भटकना है । भक्त का यह आत्मविश्वास उसकी अनुभूति के कारण है । उसने परमात्मा का साक्षात्कार किया है । उसने परमात्मा के ज्ञानात्मक प्रकाश का अनुभव किया है । साथ ही साथ फूलों मे जैसे गन्ध रहती है उसी तरह परमात्मा उसके शरीर में ही था । गुरु कृपा से उसने उसे पा लिया है, अब वह उस परमात्मा को पहचान चुका है इसीलिये तो वह कहता है कि काहेरे बन खोजन जाई

भक्त को जब भगवत प्रेम की लौ लग जाती है तो वह उसी मे रमता है । सोते-जगते, उठते-बैठते सभी दशाओं में उसे प्रभु की स्मृति सताती है । प्रभु का नाम वह दिन-रात जपता रहता है । उसकी स्मृति तो क्षण भर के लिये उसके हृदय से जा ही नही सकती—

अब कैसे छूटै नाम रट लागी ।
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी,
जाकी अंग-अग बास समानी ।।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा,
जैसे चितवत चंद चकोरा ।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती,
जाकी जोति जरै दिन राती ।।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा,
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा,
ऐसी भक्ति करै रैदासा ।।[5]

प्रथम चार पंक्तियो मे अनुनासिक व्यंजनो की गुजार द्वित्वव्यजन-रहित तरल संगीतमयता मे मधुर फुहार की तरह उठती रहती है । अधिकतर कोमल व्यंजनो का प्रयोग सारे पद की अनुगूँज को कोमलभाव के साथ एकाकार किये हुये हैं । भाव की तीव्रता नही, अतिशय कोमलता और मधुरता का आह्लाद इस गीति का प्राण है । प्रत्येक पंक्ति के साथ "प्रभु जी" की पुनरावृत्ति करके भक्त-कवि ने जहाँ लोक-गीत शैली के आधार को ग्रहण किया है वही संगीत की लयात्मकता में तरलता, स्वाभाविकता, प्रवाहमयता तथा स्वत- भाव की अभिव्यंजना शक्ति का प्रणयन हो गया है । आदि से अन्त तक अनुभूति अपनी सहजता के साथ धीरे-धीरे गीतिमय होती गई है । न तो शब्दो मे कही ओज है, न भावो में कही उफान है वरन शान्त समुद्र की अगाध गहराई से निश्चित समय के अन्तराल से उठती हुई लहरों की भाँति भक्त के हृदय की अनुभूति की गुजार है जो सरल-तरल ढग से धीरे-धीरे प्रत्यक्ष हो जाती है । परिचित परिवेश से जुटाये गये दृष्टान्तों ने तो भावाभिव्यजना मे प्राण ही डाल दिया है । पानी मे रखे गये चन्दन की सुगन्ध पानी में घुलमिल कर उसे सुगन्धित कर देती है, चन्द्रमा को चकोर देखता रहता है, दिन-रात दीपक की ज्योति जलती रहती है, मोती धागे मे पिरोया रहता है और सोने के रग में सुहागे का रंग मिल जाता है इत्यादि दृष्टान्तो को अपनाकर कवि अपने कथन की पुष्टि करना चाहता है । साथ ही हृदय के उस तथ्य को प्रत्येक दृष्टान्त के माध्यम मे कहना चाहता है जिसके कारण उसे "नाम रट" लगी हुई है । परमात्मा तो उसके हृदय मे ही है और इस प्रकार घुलामिला है जैसे चन्दन की सुगन्ध पानी मे मिल गई हो किन्तु पानी तो दृष्टिगत होता है सुग ध नहीं ८ उसके घट के अन्दर है तभी तो वह उसे

प्राप्त कर मोर की भाँति प्रसन्न रहता है साथ ही जैसे चन्द्रमा को चकोर निष्काम भाव से देखता रहता है उसी प्रकार मैं भी उसके ध्यान मे लीन रहता हूँ। अनुभूति और अधिक तीव्रतर होती है। प्रत्येक पंक्ति के शब्दार्थ के माध्यम से भाव और प्रगाढ होता जाता है। इसी से भक्त कवि आगे कहता है—प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति जरै दिन राती।'' यह ज्ञान का प्रकाश कहाँ से आता है ? परमात्मा ही उसका स्रोत है, उसने ही प्रेम के दीपक के माध्यम से ज्ञानात्मक प्रकाश उसके हृदय मे किया है। अनेक भक्तो ने भगवत-प्रेम की अभिव्यक्ति की है किन्तु रैदास के इस पद मे जो सहजाभिव्यक्ति मिलती है, भावो मे जो नैसर्गिक मिठास प्राप्त होता है, कथन में जो गाम्भीर्य प्राप्त होना है, वह बहुत कम ही देखने को मिलता है। सब कुछ कहने के बाद भक्त आत्माभिव्यक्ति से भी नही चूकता और कह उठता है—"प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा''। मधुर दास्य भाव का यह पद भक्त के हृदय की सान्द्रता को व्यजित करता है।

भगवत प्राप्ति के द्वारा सुख ही नही सन्तोष, तृप्ति एवं अगाध आत्मविश्वास प्राप्त हो जाता है। भक्त का यह आत्मविश्वास उसे यह विश्वास दिला ही देता है कि अब उसे "भव निसा'' से डरना नही है—

अब लौं नसानी, अब न नसैहो।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिर न डसैहो॥
पायेऊँ नाम चारु चिन्तामनि, उर कर तैं न खसैहो।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कचनहिं कसैहो॥
परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहों।
मन मधुकर पन कै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहों॥[6]

तुलसी की भक्ति दैन्य भक्ति है। अत अपने प्रभु राम के समक्ष आत्म विगलन का अवसर उन्हे अत्यधिक मिला है। उनकी अनुभूति वही अत्यन्त तीव्र होती है जहाँ वे सासारिक आश्रयो को मिथ्या जानकर स्वय सीधे-सीधे, भगवान राम से, अपने हृदयोद्गार प्रकट करने लगते है। यह हृदयोद्गार सासारिक व्यामोह मे फँसे हुए जीव के हृदय की आत्माभिव्यंजना है जो सगीत का आश्रय लेकर अभिव्यक्त होती है। भक्त कवि कहता है कि अब तक मैं सासारिक माया मोह में फँसा रहा और नष्ट होता रहा पतित रहा किन्तु अब अपने जीवन को नष्ट नही होने दूंगा अब मोह का फन्दा काट दूँगा, राम की कृपा से संसार का अज्ञानात्मक-अन्धकार विनष्ट हो चुका है अब तो जग गया हूँ, सचेत हो गया हूँ अब माया-सर्पिणी डँस नही सकती। अब तक इन्द्रियों ने नाना भाँति नाच नचाये किन्तु अब उन्हे वस में कर लूँगा। अन्त में तुलसीदास की आत्माभिव्यक्ति है कि मैं प्रण करता हूँ कि मनरूपी मधुकर को रघुपति राम के कमलवत् चरणो में बसाऊँगा। भक्तो के रक्षक अपने भगवान के प्रति उनका अटूट विश्वास है उनके समक्ष वे अपने दोष पतितता सब कुछ स्वीकार करके अब

जान चुके हैं कि भगवत्-कृपा मुझे मिल चुकी है और अब मुझे अपना जीवन भक्ति मे ही लगाना चाहिये, उसे व्यर्थ गंवाना नही चाहिये। तुलसीदास की अनुभूति की सघनता दास्य भाव के गीति-पदो में देखते ही बनती है। दास्य-भाव के गीति-पदो मे भाव की सघनता का एक कारण तुलसी की भी भक्तिभावना तो है ही, साथ ही तुलसी ऐसे भाव प्रवाह मे अधिक रमे है। मन-तन सब कुछ राम को निछावर करके तुलसी, रघुबीर गुसाई से विनती करते थकते नही है। एक गीति-पद मे इस प्रकार अपनी पूर्ण तन्मयता एवं भाव विह्वलता अभिव्यक्त करते हुये कहते हैं —

यह विनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-विश्वास-भरोसो, हरो जीव जडताई ॥

× × ×
× × ×

या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसीदास प्रभु ही सो होहिं सिमिट इक ठाईं ॥[7]

सम्पूर्ण गीतिपद मे आद्यान्त कवि का पूर्ण आत्मविश्वास झलकता है। यह पूर्ण आत्मविश्वास ही गीतिपद की गहन अनुभूतिकव्यजना मे सहायक हुआ है। गीति-पद की तृतीय और चौथी पक्ति विश्वास की दृढता के साथ-साथ मन को एकाग्रता की ओर ले जाती है जिससे अनुभूति इकाई को बल मिलता है परन्तु पाँचवी और छठी पंक्ति मे गीति पद की शिथिलता की ओर कुछ अग्रसर होता है परन्तु अन्तिम पंक्ति "या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों होहिं सिमिट इक ठाई।" से कवि ने पुन: अनुभूति की समता स्थापित कर दी। सम्पूर्ण गीतिपद मे कवि की विनय की गम्भीरता देखते ही बनती है। भक्त कवि ने अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक रूप मे गीति-पद की रचना की है। इसी प्रकार एक अन्य गीति-पद मे तुलसी का अटूट विश्वास सहज रूप मे अभिव्यक्त हुआ है—

विश्वास एक नाम राम को।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को ॥

× × ×

सब दिन सब लायक भये गायक रघुनायक-गुन-ग्राम को।
बैठे नाम कामतरु तर डर कौन घोर घन धाम को ॥
को जाने को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को ॥[8]

तुलसी के उपर्युक्त गीति-पद मे रागात्मक एकता की अन्विति देखते ही बनती है। यह रागात्मक एकता टेक की प्रथम पंक्ति के "विश्वास" से ही स्पष्ट होकर अन्य पंक्तियो में प्रौढ़ता प्राप्त करती है सम्पूर्ण गीति-पद में भाव का वर्णन

है। भगवान राम पर अटूट विश्वास है अत भक्त व्रत, तीर्थ आदि को छोड़कर ज्ञान, विराग, योग, तपस्या आदि का परित्याग कर "रघुनायक-गुन-ग्राम" का गायक बन कर "नाम काम तरु" के नीचे बैठकर निश्चिन्त, निर्लिप्त एवं नरक स्वर्ग की भावनाओं से मुक्त हो जाता है। यह विश्वास एवं मन की एकाग्रता गीति की तन्मयता एवं रागात्मक मे एक ओर जहाँ वृद्धि करती है वही दूसरी ओर अनुभूति तथा उसकी इकाई का भी संवर्द्धन करती है। गीति-पद की संगीतमयता के विषय में कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कहना पुनराव-लेखन होगा। कारण यह कि संगीत की विधान तो गीति-पद का मुख्य एव प्रथम लक्षण है जो तुलसी जैसे साहित्य मर्मज्ञ के गीति-पदो मे पूर्णता के साथ मिलता ही है। जन्म-जन्म तक भगवान राम के चरणो की भक्ति चाहने वाले गोस्वामी तुलसीदास को यह "जगजीवन" "राम गुलाम" के रूप मे अत्यधिक "भला" लगता है। भक्त कवि की यह आत्माभिव्यक्ति है जो गीति की रही सही कमी को पूर्ण कर देती है। इस प्रकार तुलसी की दास्य भक्ति की भावुकता किंवा मादकता इस गीति पद द्वारा प्रौढ रूप मे अभिव्यक्त हुई है। जिसमें भक्त कवि की तन्मयता देखते ही बनती है।

वैसे तो सभी भक्त कवि पद रचना के समय उसी एक भाव में पूर्णतया लिप्त रहते है। पद-रचना में वही भाव विशेप सहायक होता है। चाहे दैन्य का भाव हो अथवा वात्सल्य, सख्य, माधुर्य या शान्त का भाव हो। भक्त पूर्ण तन्मयता एव भाव विशेप के आह्लाद के विशेष क्षणो में ही पद-रचना उसी भावानुकूलता मे करता है। यही कारण है कि डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी को समस्त सूरसागर मे सूरदास की आत्मा की चीत्कार छबीले मुरली नैंकु बजाउ[9] मे लक्षित होती है। उनके अनुसार श्री कृष्ण ग्वाल-बालको के साथ दिन-रात मुरली बजाया करते है। पर उनकी प्यास नही बुझती। कृष्ण उनके अति निकट रहते है, मुरली की आवाज उनके लिये अपरिचित भी नहीं है, तथापि वे व्याकुल भाव से कह उठते है—

> छबीले मुरली नैंकु बजाउ।
> बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर सुधारस प्याउ॥
> दुर्लभ जनम लहब वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम तरंग।
> ना जानिये बहुरि कब ह्वै-है स्याम तिहारो संग॥[10]

कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व की सख्यपरक अनुभूति "छबीले" शब्द में व्यक्त हुई है। सखाओं की कातर याचना "नैंकु बजाउ" में मुखरित होती है, साथ ही "बलि बलि" जाने के भाव में भी ध्वनित होता है। यह बलिहारी जाने की वृत्ति वृन्दावन के दुर्लभजन्य, उसमे भी दुर्लभ प्रेम के कारण है जो न जाने कब फिर मिले। क्यो न इसी जन्म मे छक कर "सुधारस" का पान कर लिया जाय। इस पद मे ग्वालबालो को उपलक्षण करके सूरदास की अपनी आत्मा की व्याकुलता प्रकट हो रही है। मुरली प्रसग के अन्य पदो मे जहाँ सखियो ने मुरली के विषय मे चाहे जो कुछ भी कहा है, वह चाहे निन्दा हो या स्तुति ईर्ष्या हो या प्रेम सर्वत्र उसके पीछे एक अव्यक्त ध्वनि

निकलती है और वह ध्वनि है—छबीले मुरली नैकु बजाउ। केवल मुरली का स्वर कानों मे पड़ते ही अन्य सभी चेतनायें समाप्त हो जाती हैं। इसकी मोह शक्ति तो इतनी प्रबल है कि जब भी भगवान कृष्ण मुरली को अधरो पर रखते है; उनके वंशीवादन से व्यापक और साधारण प्रभाव होता है। सम्पूर्ण पद 32 पंक्तियो का है। उत्प्रेक्षा में कुशल कवि सूरदास अपने भक्त हृदय की सम्पूर्ण व्यंजना केवल प्रथम पंक्ति में ही कर देते है। अन्य पंक्तियों मे तो उस भाव का विस्तार है। कवि भाव की व्याख्या करता हुआ प्रतीत होता है। इतना सब कुछ होने हुये भी भाव शैथिल्य कहीं भी दृष्टिगोचर नही होता।

भक्तों के गीति-पदो के माध्यम से उनके "भाव की गहनता एवं उनकी अनुभूति व्यापकता को कुछ संकेत के रूप में ही समझा एवं वर्णित किया जा सकता है। उनकी अनुभूति में भावविह्वल वही हो सकता है जो भक्त की मानसिकता के अनुकूल सहृदयता के भाव से युक्त हो। सूर की तादात्म्यता उनके राम-वर्णन मे व्यक्त है। गीति एवं रास का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। गीति मे जहाँ काव्य और वाद्ययन्त्रो के आधार पर उसके गान की व्यवस्था होती है, वहाँ रास मे नृत्य और जुड जाता है तथा गीति और नृत्य की परिणति हो जाती है। इस प्रकार रास के लिए गीति की आवश्यकता होती है। कृष्ण भक्तो के रास-वर्णन मे उनकी भगवतजन्य तादात्म्यता दृष्टिगत होती है। रास के लिये चाँदनी रात, प्रफुल्लित पुष्प आदि सुखद एव शृङ्गारिक भाव की क्रीड़ा के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण भक्त कवि करता है। गीति-पदो की रागात्मकता को भी उसी के अनुरूप ढालकर वर्णन करता है। राग का व्यापक प्रभाव भक्तो को ज्ञात था। अत. राम के वातावरण को और अधिक उपयुक्त बनाने के लिये तथा पूर्ण भाव सम्प्रेषण हेतु उन्होंने सगीत के रागो का अनुकूल प्रयोग करके भरपूर सहयोग लिया है। इतना होते हुये भी भक्तो का रास-वर्णन उनकी निजी अनुभूति से पूर्णतया व्यंजित होता है। सूर का एक गीति-पद, इस दृष्टि से द्रष्टव्य है—

> मानो माई घन घन अन्तर दामिनि।
> घन दामिनि दामिनी घन अतर, सोभित हरि-ब्रज भामिनि॥
> जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद-सुहाई-जामिनि।
> सुन्दर ससि गुन रूप-राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि॥
> रच्यो रास मिलि रसिक राइ सों, मुदित भई गुन ग्रामिनि।
> रूप निधान स्याम सुन्दर घन, आनन्द मन-बिस्नाविनि॥
> खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक, भाइ-भेद गज-गामिनि।
> को गति गने सूर मोहन सँग, काम बिमोह्यो कामिनि॥[11]

सूर के इस रास-गीति पद की शाब्दिक सगीत के अनुकूल है सगीत की के प्रभाव से गीति-पद की के साथ-साथ

स्वयमेव होती जाती है जिसे वस्तु चित्र एवं वातावरण निर्मित होकर गीति की रागात्मकता एवं भाव का विस्तार करते है।

परमात्मा की अनुभूति ही भक्त को भाव विह्वल करने के लिये पर्याप्त है। क्षणिक अनुभूति सम्पूर्ण जीवन को तार देने के लिये पर्याप्त है। और जब परमात्मा किसी भी रूप में उसे प्राप्त हो जाता है तो उसे किसी की चिन्ता नही रह जाती न परिवार की न समाज की। वस्तुत यह तो प्रेम की लौ का प्रभाव है। जो एक बार लगने के बाद दूर नहीं हो सकती। इस प्रेम के इतस्तत अनुभूति ही अनुभूति है। इस अनुभूति के सागर में द्विधा, ईर्ष्या, दुराव, संकोच आदि सब कुछ डूब जाता है। प्रेम असीम होता है। सीमा अथवा बन्धन उसे स्वीकार नही है। इस प्रेम को राजस्थान कोकिला मीरा से अधिक कौन समझ सका है। परिवार, समाज, पति सबने मीरा के परमात्म-प्रेम मे अवरोध उत्पन्न किया सबने समझाने की चेष्टा की लेकिन जब भगवान का चरणोदक पान कर लिया तब कहाँ सुध रह गयी। इसी मे तो ये भगवान के समक्ष लज्जा का आवरण हटाकर नृत्य करने लगती हैं जिससे कोई उन्हें रोक ही नही सकता—

पग बाँध घूघरयाँ णाच्यारी।
लोग कह्याँ मीरा बावरी, सासु कह्या कुलनासी रे॥
विष रो प्यालो राणा भेज्या, पीवा मीरा हाँसी री।
तण मण वारजा हरि चरणा मा, दरसण अमरित प्यास्यारी॥
मीरा रे प्रभु गिरिधर नागर, थारी सरणा आस्याँ री॥[12]

सच्चे प्रेम की अमरज्योति नाना प्रकार की बाधाओ और अत्याचारों के रहते भी अक्षुण्ण बनी रहती है। मीरा के पदो में श्रीकृष्ण-प्रेम की यही अनन्यता और एकाग्रता, अन्य भक्तो के गीति-पदों की अपेक्षा अधिक मिलती है।

मीराबाई अपने प्रियतम को प्राप्त कर निर्गुण भक्तो के सदृश, अनेक स्थलो पर उसको व्याख्यायित करती है। भक्त भगवत संयोग से भगवत्मय हो जाता है। उसे तब चिन्ता, भय, इच्छा, या तृष्णा नही रह जाती। मीरा भी कबीर के "मस्त मन" की भाँति परमात्मा के साथ शाश्वत संयोग करके उसी के रग में रंग चुकी है। कृष्ण को पति के रूप में मानने वाली मीरा अब तो उसी के साथ, पंचतत्वो से युक्त इस शरीर रूपी चोले को पहन कर "झिरमिट" खेलने जाती है। उनका यह प्रियतम परदेश मे नही निवास करता। वह तो उनके हृदय में ही बसा है। उसी का पथ वे दिनरात निहारती रहती थी। जन्म जन्मान्तर के बाद इस प्रियतम का आगमन हुआ है। प्रियतम अत्यन्त दयालु स्वभाव का है। इसी मे उसने अपने आने का सन्देश पहले ही भेज दिया था और जब वे आ गये है तो उनके अंग-अग मे सम्पूर्ण आनन्द समा गया है। अर्थात् रोम-रोम आनन्द से आपूरित हो गया है—

साजन म्हारे घरि आया हो।
जुगाँ जुगाँ री जोवता विरहणि पिव पाया हो

रतण करां अच्छावरां, ले आरत साजां, हो ।
प्रीतम दिया सनेसड़ा, म्हारो घणो णेवाजा, हो ।
पिय आया म्हारो सावरा, अंग आणन्द साजां, हो ।
हरि सागर हूं नेहरो, नेणा बंध्या सनेह हो ।
मीरा से सुख सागरां, म्हारे सीस विराजा, हो ॥[13]

राग परज की अवतारणा कवयित्री ने लोकगीत शैली के आधार पर करके हृदय के आह्लाद की सूक्ष्म अभिव्यक्ति इस पद मे की है। तुकान्त में "हो" की आवृत्ति करके गीति-पद की मार्मिक व्यंजना में कही अधिक प्राण भर दिया है जिससे भक्त कवि के हृदय के प्रेमात्मक रागात्मिक वृत्ति की सहज, नि सकोच एवं स्पष्ट अनुभूतिक अभिव्यक्ति हुई है। व्यक्तिगत उच्छ्वास का बिना किसी सहयोग के अनायास स्फुरण इस गीति पद मे द्रष्टव्य है। ऐसे गीतिमय पद का गान श्रोता को आत्मविभोर करने के लिये पर्याप्त है।

शारांशत तादात्म्य अर्थात् आत्मा से परमात्मा का संयोग, भक्त का परमात्म संयोग होता है तभी तो वह मस्ती का वातावरण, आह्लाद एवं अखण्ड आनन्द की अनुभूति करता रहता है। वह इस अनुभूति मे निमग्न हो सभी सांसारिक चिन्ताओ से मुक्त हो जाता है। यह चिन्तामुक्ति, फक्कड़ाना स्वभाव उसकी गीति कविता मे मसदोलता, सहजता स्वाभाविकता भर देते हैं जिससे गीति की भावाभिव्यंजना एव मंवेदनशीलता अत्यन्त तीव्र हो गई है। इस तादात्म्य के विभाग मे आलोच्य गीतिपदो में ऐसी ही विशेषता पंक्ति-पंक्ति मे शब्द-शब्द मे व्यंजित होती चलती है।

1—गीतिकाव्य, रामखेलावन पाण्डेय, पृ०-253 से उद्धृत
2—वही, पृ०-261
3—सन्तबानी सग्रह, भाग-2, पृ०-83
4—वही, पृ० 42
5—वही, पृ०-29
6—तुलसी रचनावली, बजरंगबली विशारद, विनयपत्रिका, पद-105
7—विनय पत्रिका, पद-103
8—विनय पत्रिका, पद-155
9—सूर-साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-125
10—सूरसागर, सभा, दशम स्कन्ध, पद-1834
11—वही, पद-1666
12—मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पद-36
13—वही, पद-150

उपलब्धि
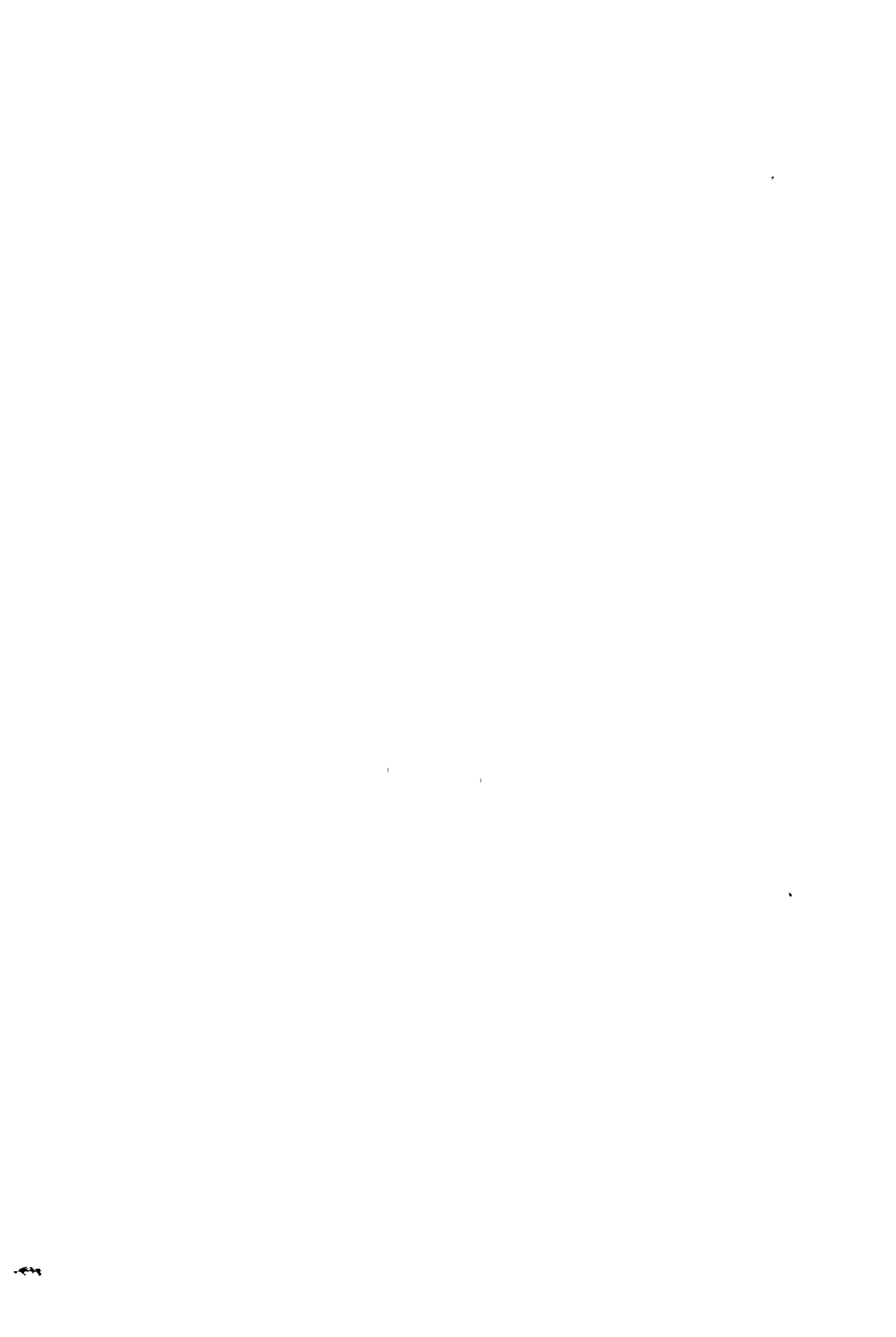
अष्ठम अध्याय

उपसंहार

भक्तिकालीन भक्त्यात्मक अनुभूतिप्रधान, गहनतम भावाभिव्यंजनायुक्त, परमात्मानुभव से ओतप्रोत साहित्य की परम्परा आगे विकसित न हो सकी। भक्तिकाल मे भक्त-कवि जहाँ लोक से ऊपर उठकर अपने साहित्य का सृजन करता रहा वही भक्तिकाल के बाद का साहित्य लोकजीवन मे अत्यधिक जुड गया। जीवन को क्षण-भगुर एव नश्वर जानकर इससे ऊपर उठने तथा निर्गुण-सगुण परमात्मा के मनन, चितन एवं साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये जिन भक्त-कवियो ने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया तथा जन सामान्य को भी प्रत्यक्ष जीवन से दूर अप्रत्यक्ष सत्ता की ओर पग-पग पर सचेत करते हुये, समझाते-बुझाते हुये, प्रेरित करते रहे और भक्ति भावानुभूति मे आकण्ठ डूबकर उसके आनन्द को, भागवत सानिध्द्य का झूम-झुम कर वर्णन करते अघाते नही थे, वह सभी अलौकिक अभिव्यक्ति समाप्त सी हो गई तथा जिस काव्य और सगीत का इतना अटूट सम्बन्ध बन चुका था, वह एकाएक छिन्न-भिन्न हो गया। काव्य की अनुभूति, अभिव्यक्ति अर्थात भाव के पीछे-पीछे काव्य का शास्त्र, उसका अलंकार, छन्द, रीति, गुण आदि हाथ जोड़कर चलता रहता था वही अब सीना तान कर आगे-आगे चलने लगा। भाव कही पीछे हो गया। संस्कृत-काव्य शास्त्र की लक्षण-उदाहरण परम्परा का पिष्ट-पेषण आचार्यत्व का प्रदर्शन करने वाले विद्वानो ने काव्यरचना करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार के साहित्य मे जीवन के प्रति अटूट लगाव, ऐहिक सुखो की खोज की प्रवृत्ति, पाण्डित्य-प्रदर्शन, विलासिता एव शृङ्गारिकता आदि भक्ति-भावना के विपरीत विषय-वस्तु उपलब्ध होने लगती है। ऐसे साहित्य मे गीति की रागात्मक अनुभूति को, काव्य की सगीतमयता को, आत्माभिव्यंजना एवं भावाभिव्यक्ति को खोजना व्यर्थ है। अस्तु भक्ति काल के उपरान्त रीति काल मे गीति-काव्य का ह्रास हो गया। यदा कदा गीति कविता का निर्माण तो सभी कालों में हुआ किन्तु जो उत्कर्ष भक्तिकाल में

और जहाँ हम यह कह सके है कि भक्ति काल के उपरान्त गीति-काव्य का ह्रास दृष्टिगत होता है वही हम यह भी कहने मे संकोच का अनुभव नही करते कि भक्तिकाल गीतिकाव्य का स्वर्णयुग अवश्य था।

"हाँ ! भक्ति-काल गीति-काव्य का स्वर्ण-युग था।" भावाभिव्यक्ति को ही ले लीजिये। भाव की गहनता एवं गाम्भीर्य के लिये अनुभूति की व्यंजना तथा सम्यक अभिव्यक्ति आवश्यक है। भक्तिकाल के सभी भक्तकवि इस अनुभूति से विशेषतया अनुप्राणित थे। एक ओर जहाँ अनपढ़ भक्त कवियो ने अनगढ़, तोडी-मरोडी एवं खिचडी किन्तु अत्यन्त सरल और जन साधारण के लिये बोधगम्य तथा मन्तव्य एवं भाव के अनुरूप सटीक भाषा का प्रयोग कर भाव-सौन्दर्य एव गाम्भीर्य की वृद्धि की है वही विद्वान भक्त-कवियो ने व्याकरण के अनुकूल शब्दो का निर्माण कर उन्हे जनसुलभ बनाकर अपनी गहन भावाभिव्यक्ति की है। भक्ति को सर्वोपरि मानते हुये भक्त कवियों ने काव्य-शास्त्र को काव्य के भाव का दास बना दिया। भक्त कवियों के गीति-पदों के विवेचन से स्पष्ट है कि चाहे निर्गुण मार्गी नानक, कबीर, दादू, रैदास, मलूकदास, सुन्दरदास आदि भक्त कवि रहे हो या तुलसी, सूर, परमानन्द दास, मीरा आदि सगुण मार्गी भक्त कवि हो सबकी कविताओ में गीति की भावाभिव्यजना गहनतम रूप मे मिलती है।

यहीं यदि हम गीति की भाव-प्रेषण शक्ति पर विचार करे तो अत्यन्त उपयुक्त होगा। निर्गुण सन्तो की कविताओ का अलग ही रस है जो किसी भी जन को चाहे वह कविता का अर्थ पूर्णरूपेण समझे या न समझे, झूमने पर बाध्य कर देता है। इन सन्तों के यथार्थवादी गीति पदों में जो बेधने की शक्ति है वह अन्यत्र अनुपलब्ध है।

सगुण धारा के तुलसी ने तो आदर्शवाद की प्रतिष्ठापना अपने गीति-काव्य एवं रामचरितमानस जैसे प्रबन्ध काव्य से किया, किन्तु काव्यधारा तो स्वच्छन्द धारा होती है वह अत्यल्प बन्धन भी स्वीकार करना नही चाहती। बाढ की उमडती नदी की भाँति वह सभी कगारो को तोडकर अपनी अन्तिम मंजिल की ओर बढती जाती है। तुलसी के आदर्शवाद की जन साधारण पर चाहे जो प्रतिक्रिया हुई हो किन्तु काव्य-साहित्य के क्षेत्र मे आदर्शवाद के बन्धन को कवियो ने उतार फेंका। यही कारण है तुलसी की दास्यभक्ति की आदर्शवादी परम्परा का साहित्य नही मिलता।

सगुण धारा मे सबसे विशद प्रभाव कृष्ण-भक्तों का पड़ा। कृष्ण और राधा के अलौकिक प्रेम-क्रीडा का व्यापक प्रभाव जन-सामान्य पर तो पडा ही साथ ही विद्वज्जनो एवं काव्यशास्त्रियो ने तो राधाकृष्ण के पारलौकिक प्रसंग को इहलौकिक बनाकर अपने काव्य में समुचित स्थान दिया भक्त कवि द्वारा वर्णित के

शृङ्गारिक वर्णनों से भक्ति की गम्भीरता एवं गहन अनुभूति तो निकल गई किन्तु शृङ्गारिकता का वही स्थान रहा। इस प्रकार भक्तिकालीन गीति-पदो मे जिस शृङ्गार भावना का अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वही लौकिकता में परिवर्तित होकर लौकिक आनन्द की वस्तु हो गई। तात्पर्य यह है कि रीति-युग के शृङ्गार का इतना व्यापक प्रसार भक्तिकाल के कृष्ण-भक्तो की गीति-कविता की भावाभिव्यंजना की देन माना जा सकता है। यह सब गीति-पदो के व्यापक प्रभाव के कारण ही सम्भव हुआ। यह व्यापक प्रभाव गीति-पदों की स्वाभाविक प्रेषणीयता के कारण सम्भव हो सका। किन्तु आगे के कवियो मे शृङ्गार की भरपूर गहराई भी नही थी। इसलिए उन्होंने उसकी गीतात्मक अभिव्यक्ति मे अपने को अक्षम पाकर उसके मुक्तक रूप का मार्ग पकडा।

वस्तुत: भक्तिकालीन सम्पूर्ण साहित्य गेय-पद-रचना में उपलब्ध है। इस गेयता की सर्वप्रमुख विशेषता तो पद-रचना है। भक्त कवियों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र में उपलब्ध विविध छन्दो को अस्वीकार तो किया ही साथ ही छन्द-बन्धन मे बँधकर बँधी-बँधायी परिपाटी मे सकुचित होकर भ्रमण करना भी उन्हे अनुपयुक्त प्रतीत हुआ। भक्तों का विशाल भाव प्रवण हृदय अभिव्यक्त हेतु उतना ही विस्तृत क्षेत्र चाहता था। यद्यपि वर्णिक अथवा मात्रिक छन्दो मे भी वह अपनी बात कह सकता था किन्तु भावों को स्वच्छन्द विचरण करने का अवसर छन्दो मे अत्यल्प प्राप्त होता है, कारण यह कि कविता करते समय छन्दात्मकता की विशेषताओ पर दृष्टि देना आवश्यक हो जाता है जिसका अवसर ही भक्त कवियो को नहीं प्राप्त होता है। अर्थात विस्तार के लिये छन्द-बन्धन भक्तों ने स्वीकार नही किया। भक्त कवियो के लिये छन्दो की अनुपयुक्तता का कारण यह भी है कि संगीत की स्वरावली, उसकी लयात्मकता आदि का विकास छन्दों में पर्याप्त मात्रा मे नही हो सकता। शास्त्रीय सगीत में गायक को कुछ अशों तक स्वतन्त्रता प्राप्त है जिससे वह रागो की परिधि मे पद-विषयक भाव की रागात्मकता स्वरो में भर ले। किन्तु छन्दों मे छन्द के अनुकूल भावों की अभिव्यक्ति कवि या गायक कर सकता है, पद के समग्र भावों की विशेषताओं को ध्वनित कर सकने मे असमर्थ होता है अर्थात् छन्द शास्त्रीय सगीत के अनुरूप होता है परन्तु सगीतात्मक नही। पदों का संगीत से विशेष सम्बन्ध है। पदो को एक ओर जहाँ राग, ताल या स्वरावली के अनुसार सुगम, सरल और स्वाभाविक बनाया जाता है वही संगीत के विशेष पुट के कारण जन साधारण के हृदय को भावविह्वल कर अपने भाव में आत्मसात कर लेने की क्षमता आ जाती है। यही कारण है कि भक्तों का प्रादुर्भाव जब-जब हुआ तब-तब एक ओर जन प्रचलित भाष को महत्व प्राप्त हुआ दूसरी ओर संगीत का आधार लेकर भाव प्रकट हुआ है आलवार संतों से लेकर नाथ, सिद्ध एवं जैन सम्प्रदाय के सन्तो ने टेक पद्धति पर पद रचना को महत्व दिया तथा इन पदों में संगीत की अज्ञानता होने पर भी अपने कण्ठ

स्वर के अनुकूल ढालने का सफल प्रयत्न किया। भक्ति काल के कबीर, नानक, दादू, सूर, मीरा, परमानन्द दास, कुम्भनदास. हित हरिवंश, हरिव्यास आदि कवियो ने इसी गेयात्मक पद को भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। भक्तिकाल का सशक्त भक्त कवि तुलसी मानस जैसी प्रबन्धात्मक रचना मे छन्दो के प्रयोग से तृप्त नही हुआ तो बिनय पत्रिका एवं कृष्ण गीतावली आदि रचनाओ मे पदो के अन्तर्गत अपने हृदय के उद्गारो को व्यक्त कर अन्यतम स्वान्त सुख पाने की चेष्टा की। इस प्रकार भक्ति-काल की सर्वप्रमुख विशेनता यह है कि इस काल की समग्र रचनाओ का अधिकाश भाग "पदो" के रूप मे राग रागिनियों के साथ उपलब्ध होता है।

गीति-तत्वों के निर्धारण मे नितान्त पाश्चात्य दृष्टिकोण नही अपनाया गया है। वरन साधना की गहरी पैठ से स्फुरित वाणी का विवेचन भक्ति के संश्लिष्ट मनोविकारो को दृष्टि मे रखकर किया गया है। वस्तुत: भक्तिकालीन गीति पदो का पाश्चात्य गीति-तत्वा की दृष्टि से आकलन करने पर उसके "मनस" के साथ अन्याय करना होगा। यदि हम केवल अनुभूति पर ही विशेष बल दें तो विपुल भक्तिकालीन गीति पदो मे से कलात्मक, कथाश्रय, सामजिकता, दार्शनिक प्रतीको आदि विषय-वस्तुओ वाले अनेक गीतिपदो को छाँट कर अलग करना होगा। किन्तु ऐसा नही किया गया है। भक्तिकालीन गीतियो के विवेचन के पूर्व आलोचक को तत्कालीन मनस को पूर्णत: आत्मसात करना होगा। बिना उसके तो विवेचन अपूर्ण एवं अधूरा रह जायेगा तथा इन गीतपदो का उचित आकलन भी सम्भव न होगा। भागवत भक्ति तो स्वय ही अनुभूति की पुंज का कारण है। भक्त के हृदय मे सदैव उस परम सत्ता की अनुभूति रहती ही है। यह अवश्य है कि उसकी अनुभूति सभी भक्त एक ही प्रकार से न करके अलग-अलग निराकार या साकार के रूप में करते है। इस अनुभूति के कारण पर यदि हम विचार करे तो वह भक्ति की रागात्मकता होगी। यह भक्ति की रागात्मकता अनुभूति का अक्षय स्रोत है। जिसमें अनुभूति की अनुगूंज का एक क्षण नही अपितु दिवा-रात्रि का अनन्त क्षण है। यह अनुभूति किसी कुण्ठा, अतृप्ति या वासना के कारण नही है। वरन अटूट आस्था, जीवन के अगाध सौन्दर्य एवं आध्यात्मिकता के परिणामस्वरूप है। इस प्रकार उसकी अभिव्यक्ति क्षणिक आवेश का कारण नही है। वरन् भाव की अतल गहराई है। परमात्मा मे अटूट आस्था एवं भक्ति ही उसकी रागात्मकता का कारण है। यह भक्ति उसकी अपनी है, व्यक्तिगत है, उसके मन, हृदय और बुद्धि यहाँ तक कि रोम-रोम मे बसी हुई है। अत: "काव्यात्मक विजन" के लिये उसे किसी इतर अनुभूति की अनुगूंज की आवश्यकता नही होती या अनुभूति के लिये उसे अनुकूल समय की आवश्यकता नही है। वह तो उसके हृदय मे निरन्तर, सदैव, शाश्वत रूप मे विद्यमान है। यही कारण है कि उसके जीवन मे सत्यता तथा उसके कथन में सम्वेदनशीलता है इस प्रकार परम चेतना की अनुभूतियों की में राग और भाव की यह

नता की ओर दृष्टि देने की आवश्यकता है और इसे ही दृष्टि में रखकर परमात्मा-नुभव की स्पष्ट घोषणा करने वाले भक्तों के गीति-पदो के विवेचन हेतु निम्नलिखित गीति-तत्वों का निर्धारण किया है—

1—संगीतात्मकता या गेयत्व

2—आत्माभिव्यंजना

3—भावात्मक गहनता, सम्वेदनशीलता का विस्तार

4—रागात्मक "अनुभूति"

5—संक्षिप्तता

आत्माभिव्यंजना के विषय मे मै कह चुका हूँ कि अपने विषय में मौन रहने रहने वाले भक्त कवियों की आत्माभिव्यंजना नितान्त निजी व्यक्तितत्व को लेकर प्राय. नहीं हुई है। कहीं-कही आत्म विगलित क्षणों में उसका निजी "आत्म" फूटकर अभिव्यजित हुआ है। किन्तु अधिकांशत वह सार्वजनिक के साथ एकीकृत होकर या प्रतीकात्मक पात्रो के माध्यम से सामूहिकता के भाव मे ओतप्रोत होकर व्यक्त होता है। यही कारण है कि मध्यकालीन गीति-भावना अपनी अभिव्यक्ति के लिये अनेक रूपो को अपनाती हुई अभिव्यक्त हुई है। भक्त समष्टिवाद का पक्षधर था। यही कारण है कि उसने लीला जैसे स्वच्छन्द प्रकरणो मे भी परमात्मानुभव का भाव व्यजित करके उसे समष्टि के योग्य बनाकर अभिव्यक्त किया। सगुण या निर्गुण सभी भक्त स्वान्तः सुखाय भक्ति एवं काव्यरचना करने पर भी जनमानस से जुड़े हुये थे। यही कारण है कि उनका निजी आत्म समष्टि का बोधक है। उसमें कही मनीषा का वैचारिक रूप दृष्टिगत होता है तो कहीं हृदय को विह्वल कर देने वाला भावात्मक रूप। इसलिये भक्तिकालीन गीतिकाव्य में जहाँ एक ओर शुद्ध विचारप्रवण आत्मबोधन या पर-उद्‌बोधन करने वाले गीति-पद है। वही दूसरी ओर आत्मनिवेदनपरक गीति पद है। इन सब मे उनका निजी ब्रह्मानुभूतियुक्त भाव व्यंजित होता रहता है।

संगीत के विषय मे कुछ कहना अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो विवेचन के अपूर्ण रह जाने की आशका है। भक्तिकालीन गीतिपदों की सर्व-प्रमुख विशेषता से गेयता या संगीतमयता। पद संगीत मे इतनी पूर्णता के साथ रचा गया है कि संगीत को उससे अलग नहीं किया जा सकता। शरीर मे जैसे आत्मा के निवास से चेतना रहती है उसी तरह से भक्ति गीति पद मे संगीत ही उसकी आत्मा है। भावाभियक्ति एव संवेद्य प्रयास हेतु संगीत का आश्रय लेना आवश्यक है। हम यों कह सकते है कि काव्य और संगीत का जो अन्योन्याश्रित सम्बन्ध वैदिक रचाओं में प्राप्त होता है वही अविभाज्य एवं नीर-क्षीर मिश्रण सम्बन्ध हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन गीति पदो मे इतने अन्तराल के बाद दृष्टिगत होता है। जहाँ वैदिक मनीषियो ने संगीत द्वारा काव्य के भाव एवं छन्द सब कुछ को स्वर-लय में बाँध दिया था वहाँ भक्तिकालीन भक्त कवियो ने शब्दो के स्वाभाविक संगीत का उपयोग कर अपनी काव्य भाषा को अपनी वाणी तथा अपने गूढ से गूढतर भावों का अनुसरणकर्ता बनाया

यही कारण है कि चाहे सूक्ष्म अशरीरी परमात्मा की गूढ़तम अभिव्यक्त को या विराट एवं लीलामय प्रभु की भावुकतामय अभिव्यक्ति हुई हो सभी स्थलो पर भक्त कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दावली संगीत की स्वाभाविक अनुगूँज से इतनी अधिक गुंजरित है कि जन-साधारण को शाब्दिक अर्थ का ज्ञान चाहे हुआ हो अथवा न हुआ हो। वह केवल सगीत की लयात्मक अनुगूँज से ही आत्मविभोर-सा हो जाता है। आत्म-विभोरता की स्थिति किसी कविता द्वारा तभी उपस्थित हो सकती है—जब काव्यरचना मे नाद का अभिव्यजना के साथ पूर्ण समन्वय हो, काव्य का स्फुरण स्वयमेव, आयासरहित हुआ हो। भक्तिकालीन भक्तो के गीति-पदो की सहज, स्वाभाविक, सम्वेदनशील एवं भक्ति-सिद्ध अभिव्यक्ति मे शायद ही किसी को सन्देह हो। इस प्रकार भक्ति गीति-पद सगीत से पूर्णतया समन्वित है। उनका विवेचन अलग-अलग करके नही किया जा सकता।

वर्गीकरण पर भी एक दृष्टि डालना चाहता हूँ। यह सत्य है कि कवि के मनोवेगो का अन्त नही आ र वर्गीकरण का भी अन्त नही। किन्तु जहाँ हम काल विशेष की आलोचना विवेचना करते हैं वहाँ काल की मुख्य प्रवृत्ति को प्रथम वरीयता देते हैं। यही मानकर मैंने अपने शोध मे गीति के वर्गीकरण का विवेचन किया है। भक्तिकाल की मुख्य प्रवृत्ति "भक्ति" थी। अत. भक्ति ही भक्तिकालीन गीति-पदो के वर्गीकरण का आधार हो सकती है। यह भक्ति भावना मानव मनके इतने विस्तृत प्रदेश मे फैली थी और इतनी सश्लिष्ट थी कि उस सशलेषण में आने वाले सभी तत्वो पर वर्गीकरण के आधार मे यथासम्भव दृष्टिपात करते हुये उनकी विशिष्टता की पहचान करने की चेष्टा की गई है। भक्तिकाल में ही "पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान" का स्वर भी प्रखरता म सुना जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान का आधार लेकर ब्रह्म की व्याख्या भक्तों ने किया। ऐसे गीति-पदो मे कही ज्ञान की प्रधानता मिलती है तो कही ज्ञान भावो का अनुसरण करता हुआ चलता है। किन्तु सभी स्थलों पर भक्त अपनी शक्ति की साधना मे निवद्ध ह। यही कारण है कि इस प्रकार के ज्ञान अथवा भाव मिश्रित ज्ञानात्मक कथन मे गीति-तत्वो को स्पष्ट देखा जा सकता है। मात्र अनुभूति पश्चिम के गीति का मापदण्ड है, भक्ति गीति का नहीं। क्योंकि भक्ति गीति कविता और सामान्य गीति कविता में विशिष्ट अन्तर है। भक्ति-गीति-कविता का मुख्याधार आध्यात्मिकता है। भक्त कवि की आन्तरिक अनुभूति, अनुराग आदि सब कुछ ईश्वरोन्मुखी होकर ही अभिव्यक्ति पाते हैं। उसकी वाणी का हाव-भाव का, हृदय और बुद्धि का पूर्ण समर्पण उसी निर्गुण व सगुण परमात्मा से अनुप्राणित रहता है। जिसका निरुपण वह जाने-अनजाने में, कभी सचेत होकर तो कभी भाव-विह्वल होकर करता है। दूसरी ओर सामान्य कविता व्यक्ति की अहं एव इहलौकिक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति करती है। उसकी व्यक्तिगत आशा—निराशा, कुण्ठा-जिज्ञासा, तृप्ति-अतृप्ति, राग-द्वेष आदि विषय होता है। इस प्रकार की गीति-कविताओं में क्षणिक आवेश का क्षण विशिष्ट महत्वपूर्ण है अनुभूति की गम्भीरता भक्ति की अपेक्षा वहाँ कछ अलग थलग होती है। भक्ति की अनुभूति जहाँ शाश्वत है

वहाँ लौकिक अनुभूति खण्डित होने वाली है। इस प्रकार की गम्भीरता वहाँ अधिक उपलब्ध होगी जहाँ किसी एक ही भाव में व्यक्ति ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही डुबा दिया है, संसार मे रहते हुये भी जो मासारिकता से निर्लिप्त है, उसकी भावात्मक एकता, गहनता, रागात्मकता आदि के विषय में कुछ भी कहना उचित नहीं है। गीति-कविता का उत्स हृदय है। हृदय की रागात्मिक वृत्ति ससार की विविध वस्तुओं से क्षोभयुक्त होकर काव्य-सृजन की प्रक्रिया मे कवि को सलग्न करती है। ससार मे अनन्त वस्तुये है और कवि का मनस भी इन विविधताओ के विविध रंगों से चित्रित होता है। यही कारण है कि उसके द्वारा अभिव्यक्त भावोच्छ्वास अनेक प्रकार के गीतो का सृजन करते हैं। किन्तु भक्तिकाल के गीतो मे एक मम्यक विशेषता देखी जा सकती है। वह है गीति की भक्त्यात्मक एकता। इस काल के गीतो का भाव वैविध्यपूर्ण होने पर भी भक्ति रस एवं भक्ति भाव मे डूबकर ही अभिव्यक्त हुआ है। यह भक्ति उस परम सत्ता के प्रति है जिसके सम्मुख सभी झुकते है और उसके इतर तो सृष्टि भी नही है। भक्ति के गहन भाव मे बूड कर तिरने वाले भक्त कवियो की गीतात्मक कवितायें गहनता, गाम्भीर्य, सरलता, स्वाभाविकता, प्रवाहात्मकता आदि अनेकों गुणो के साथ लक्षित होती हैं। भक्ति गीति-पद की इस विशिष्टता को दृष्टि मे रखा गया है। इसके साथ-साथ भक्ति के वैविध्यपूर्ण भावो मे से दैन्य के भाव को तथा परमात्मा के मिलने एवं बिछुडने से उत्पन्न संयोग एव वियोग के भाव को भी दृष्टि मे रखकर वर्गीकरण को पूर्ण करने की चेष्टा की गयी है। सम्भव है कि अनेक अन्य गौण भाव छूट गये हो किन्तु मुख्य भाव को ही आधारभूत मानकर विवेचन किया गया है। इस प्रकार भक्ति की सम्पूर्ण सामग्री को निम्नलिखित वर्गो मे रखकर विवेचन को पूर्ण करने की कोशिश की गई है—

✓1—ज्ञानात्मक गीति पद—
- (क) विचार प्रवण भावात्मक गीति-पद
- (ख) भाव प्रवण विचारात्मक गीति-पद

2—लीला पदों की गीतिमयता—
- (क) वात्सल्य भाव के गीति-पद
- (ख) सख्य भाव के गीति-पद
- (ग) माधुर्य भाव के गीति-पद

3—गीति के अन्य भाव—
- (क) विनय भाव के गीति-पद
- (ख) वैयक्तिक संवेदनात्मक गीति-पद
- (ग) तादात्म्यजनित गीति-पद।

अन्त मे भक्ति गीतो की महत्ता एवं उपयुक्तता पर विचार करे तो कुछ और गहराई में जाना होगा। जीवन के प्रति कला का क्या दृष्टिकोण होना चाहिये—यथार्थवादी या आदर्शवादी अथवा आभ्यन्तरिक या वस्तुपरक निरूपण। कोई कवि वस्तु के मूर्त प्रस्तुतीकरण में श्रेष्ठ हो सकता है और दूसरा आभ्यन्तरिक लोको मे

स्वच्छन्द विचरण कर सकता है। दोनों ही ऊँचे दर्जे के कवि हो सकते है। लेकिन यदि अधिक निकटता से देखें तो यह ज्ञात होता है कि जिस तरह से एक निश्चित वस्तुपरकता कविता को जीवित रखने के लिये और प्रत्यक्ष वस्तु को स्पष्ट लक्षित करने के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार, दूसरी ओर वस्तुपरक प्रस्तुतीकरण भी एक आन्तरिक दृष्टि और रचनात्मकता की आभ्यन्तरिक प्रक्रिया से शुरू होता है, क्योंकि वह अपने अन्दर से रचता है। वाह्य दृष्टि, अन्तर दृष्टि को उत्तेजित करने के लिये सहायक हो सकती है। किन्तु रचना-प्रक्रिया में आन्तरिक दृष्टि ही क्रियाशील होती है। ऐसा न होने पर उसकी रचना के जीवित रहने मे आशंका हो सकती है।

मात्र वस्तुपरकता एक प्रकार से फोटोग्राफी है। आभ्यन्तरिक दृष्टिकोण से न होने से, यथावत प्रस्तुतीकरण से कला कला के निकट न होकर विज्ञान के निकट हो जायेगी। ऐसी वस्तुपरक कला से महत्तर सत्य की प्राप्ति नही हो सकती। इस प्रकार यथार्थ या वस्तु को कवि अपनी कृति मे अपनी आत्मा एवं विचार के समन्वय से जैसा चाहे वैसा व्यक्त कर सकता है। उसकी कृति मे केवल विचार-वस्तु प्रमुख हो सकती है या जीवन-तत्व का वर्णन हो सकता है अथवा दोनों का समन्वय। वह इस लोक को अपना पाठ्य बना सकता है या लोकातीत प्रदेश में घूम सकता है। इतना अवश्य है कि उच्चतम रूप मे कवि स्वयं दृष्टि मे विलीन हो जाता है, द्रष्टा का व्यक्तित्व "विजन" की शाश्वतता में खो जाता है।

✓भक्तिकालीन गीति कविता की जीवन्तता एवं सत्य के उद्घाटन की क्षमता के विषय मे और कुछ कहना अनुपयुक्त न होगा। जहाँ सम्पूर्ण जीवन ही सत्य के साक्षात्कार तथा उसको जन-जन तक ज्ञापित कराने में भक्तो ने ने लगा दिया की, वहाँ वर्णनातीत को काव्य शक्ति में ढालकर सर्वसुलभ बनाने की चेष्टा की या अपने व्यक्तित्व को उसी की शाश्वतता मे घुलामिला कर काव्य रचना मे उतरा। उसकी कविता से प्रस्फुटित समाज-सुधार, मर्यादावाद और लोक सौन्दर्य की चेतना के स्वर मे आज भी इतनी जीवन्तता है कि वह किसे प्रभावित, मोहित, आकर्षित करता अपनी ओर बरबस ही खीच नही लेती। सहृदय आज भी मन, बुद्धि एवं हृदय से भक्तिकालीन गीति-पदो के रस में सराबोर हो जाते हैं तथा भक्ति की गहनता में डूबते-उतराते हैं।

✓सम्पूर्ण भक्तिकालीन गीति-साहित्य मे विश्वबन्धुत्व की भावना का जो सन्देश है एव प्रेम, सद्भाव, एक दूसरे के प्रति सम्मान तथा व्यक्तिगत जीवन की आध्यात्मिक उन्नति का जो भाव इस साहित्य मे प्रत्येक स्थल पर उपलब्ध है उसको जन-जन तक पहुँचाने की आवश्यकता है। और इस भाव के सम्प्रेषण हेतु सर्वाधिक उपयुक्त साधन है—संगीत जो भक्तिकालीन गीति-पदो मे अनायास ही मिलता है। इस दृष्टि से लक्षित करने पर "भक्तिकालीन गीति-काव्य" का महत्व अत्यधिक हो जाता है।

परिशिष्ट

काव्य-ग्रन्थ

1—अष्टछाप परिचय, सम्पादक-प्रभुदयाल मीतल, ब्रज साहित्य माला–1, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

2—कबीर ग्रन्थावली, सम्पा०-श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी, सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण।

3—कबीर ग्रन्थावली, सम्पा०-पारसनाथ तिवारी हिन्दी परिषद् इलाहाबाद विश्व-विद्यालय।

4—कुम्भनदास पद सग्रह, सम्पा० दीनदयाल गुप्त, विद्याविभाग, कांकरौली।

5—केलिमाल, स्वामी नरहरिदास, प्रका०—श्री कुजविहारी पुस्तकालय, मथुरा।

6—कृष्णदास पद-संग्रह, सम्पा० दीनदयाल गुप्त, विद्या विभाग, काकरौली।

7—गदाधर भट्ट की वाणी, संग्रहकर्त्ता—कृष्णदास, प्रका०-राधेश्याम बुकसेलर, वृन्दावन।

8—गीत गोविन्द, जयदेव, ठाकुर प्रसाद, वाराणसी सिटी।

9—गीतावली, गीता प्रेस, गोरखपुर।

10—गोरखवाणी, सम्पा०-पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

11—गोविन्द स्वामी पद-सग्रह, दीनदयाल गुप्त, विद्या विभाग, काकरौली।

12—चतुर्भुजदास पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, विद्या विभाग, काकरौली।

13—छीत स्वामी पद-संग्रह, दीनदयाल गुप्त, विद्या विभाग, काकरौली।

14—जायसी ग्रन्थावली, राम चन्द्र शुक्ल, ना० प्र० स०, काशी, 15वाँ संस्करण।

15—जायसी ग्रन्थावली, माता प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

16—तुलसी रचनावली, सम्पा०-बजरंग बली विशारद, सीताराम प्रेस, बनारस, प्रथम संस्करण।

17—दादू दयाल, परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

18—दादू दयाल की बानी, भाग-1 और 2, वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।

19—धनीधरम दास जी की शब्दावली, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।

20—नन्ददास, सम्पा०-उमा शंकर शुक्ल, प्रयाग विश्वविद्यालय।

21—परमानन्द दास पद-सग्रह, दीन दयाल गुप्त, विद्या विभाग, कांकरौली।

22—पुष्टिमार्गीय पद-संग्रह, प्रकाशक-ठाकुर प्रसाद, सूरदास, बम्बई, संस्करण संवत्-1980 वि०।

23—पृथ्वी राजरासउ, चन्द वरदाई, ना० प्र० सभा, काशी।

24—बयालिस लीला तथा पदावली, ध्रुवदास कृत, प्रका०-बाबा तुलसी दास, वृन्दावन।

25—भक्त कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, प्रका० अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

26—भ्रमरगीत सार, सम्पा०-रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक-साहित्य सेवासदन, काशी, संस्करण-संवत् 1980 वि०।

27—मलूकदास की बानी, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।

28—महावाणी, हरिव्यास देवाचार्य, प्रका०-ब्रह्मचारी बिहारी शरण, वृन्दावन।

29—मीराबाई की पदावली, सम्पा०-परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत्-2014

30—युगल शतक, श्रीभट्ट देवाचार्य, प्रकाशक-लाला लक्ष्मी नारायण, लुधियाना।

31—रस मंजरी, नन्द दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

32—रैदास जी की बाणी, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।

33—व्यासवाणी, प्रकाशक-राधा किशोर गोस्वामी, वृन्दावन।

34—विनय पत्रिका, तुलसीदास, सम्पादक-वियोगी हरि, गीता प्रेस, गोरखपुर।

35—सन्त-काव्य, परशुराम चतुर्वेदी।

36—सन्तबानी सग्रह, भाग-1 और 2, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।

37—सन्त-सुधासार, सम्पादक-बियोगी हरि, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

38—सूरदास मदन मोहन, सग्रहकर्त्ता-कृष्ण दास, प्रका०-राधे श्याम गुप्त बुकसेलर, वृन्दावन।

39—सूरसागर, प्रकाशक-नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

40—सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

41—श्रीकृष्ण गीतावली, गीता प्रेस, गोरखपुर।

सहायक-ग्रंथ

1—अपभ्रंश साहित्य, डॉ० हरिवंश केछड, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

2—अमर कोश।

3—अष्टछाप, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।

4—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : भाग—2, दीनदयाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण।

5—आधुनिक हिन्दी कविता में गीति-तत्व, सच्चिदानन्द तिवारी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

6—आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य-विषय और शैली, जीवन प्रकाश जोशी।

7—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

8—उत्तरी भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास, विष्णुनारायण भातखण्डे, संगीत कार्यालय हाथरस, उत्तर प्रदेश, संस्करण—*1954* ई०।

9—कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण।

10—कबीर साहित्य की परख, परशुराम चतुर्वेदी।

11—कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, सम्पादक—विवेकदास, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, वाराणसी।

12—कबीर का रहस्यवाद, रामकुमार वर्मा साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, ग्यारहवाँ संस्करण।

13—कला और संस्कृति, वासुदेव शरण अग्रवाल, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

14—कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, द्वारिका प्रसाद सक्सेना, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, चतुर्थ संस्करण।

15—काव्य और कल्पना, डॉ० राम खेलावन पाण्डेय।

16—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

17—काव्य के रूप, बाबू गुलाबराय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।

18—काव्य दर्पण, राम दहिन मिश्र, ग्रथमाला कार्यालय, पटना।

19—काव्य धारा, राहुल सांकृत्यायन, प्रथम संस्करण।

20—गीता-रहस्य, लेखक-लोकमान्य तिलक, अनु०-माधवराव सप्रे, प्रका०-तिलक बन्धु, बम्बई।

21—गीतिकाव्य, राम खेलावन पाण्डेय, प्रका०-ज्ञानमण्डल, पुस्तक भण्डार लिमिटेड, काशी, सवत्—2004 वि० ।

22—गोस्वामी तुलसीदास, सीताराम चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, काशी।

23—गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, एकादश संस्करण ।

24—चिन्तामणि—भाग-1 और 2, रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग ।

25—चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण ।

26—तुलसीदास और उनका काव्य, रामनरेश त्रिपाठी, राजपाल ऐण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली—6.

27—तुलसी का प्रगीत् काव्य, विनय कुमार, ओरियण्टल बुक डिपो, 1704-नई सडक, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

28—तुलसी काव्य मीमासा, डॉ० उदयभान सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 4-14, रूपनगर, दिल्ली—7, 1966.

29—तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, वचनदेव कुमार, हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली-6, प्रथम संस्करण ।

30—दीपशिखा, महादेवी वर्मा ।

31—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता, प्रका० शुद्धाद्वैत एकेडेमी, कांकरौली ।

32—ध्रुवपद और उसका विकास, कैलाश चन्द्र देव (बृहस्पति)

33—नाथ सम्प्रदाय, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

34—निरोध लक्षण, भट्ट नारायण शर्मा, षोडष ग्रन्थ ।

35—प्राकृत और उसका साहित्य, हरदेव बाहरी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

36—प्राचीन भारत में संगीत, धर्मावती श्रीवास्तव ।

37—प्राचीन हिन्दी काव्य, रामरतन भटनागर ।

38—पालि साहित्य का इतिहास, भरत सिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

39—पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, लीलाधर गुप्त, प्रका०-हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद ।

40—ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, डॉ० सत्येन्द्र, साहित्यरत्न भण्डार, आगरा ।

41—बंकिम निबन्धावली ।

42—भक्तिकालीन कवियों में राग और रस, दिनेशचन्द्र गुप्त, भारती प्रकाशन, लखनऊ ।

43—भक्ति का विकास मुंशीराम शर्मा- चौखम्बा विद्याविभाग वाराणसी ।

44—भातखण्डे-संगीतशास्त्र, विष्णु नारायण भातखण्डे, प्रका०-प्रभु लाल गर्ग, सगीत कार्यालय हाथरस, सस्करण द्वितीय ।

45—भक्तमाल-भक्त कल्पद्रुम, टीकाकार श्रीप्रताप सिंह, प्रका० नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, संस्करण-संवत्-1922 वि० ।

46—भारतीय संगीत का इतिहास, उमेश जोशी ।

47—भारतीय संगीत का इतिहास, पराजपे (शरच्चन्द्र श्रीधर)

48—भारतीय साधना और सूर साहित्य, मुंशीराम शर्मा, प्रका० आचार्य शुक्ल साधना सदन, 19/44, पटकापुर, कानपुर, प्रथम संस्करण ।

49—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार ।

50—भावी कविता, महर्षि अरविन्द, अनु०—डॉ० मीरा श्रीवास्तव प्रका० अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी ।

51—मध्यकालीन काव्य में विरहानुभूति की व्यजना, चौधीराम यादव ।

52—मध्यकालीन धर्म-साधना, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, लिमिटेड, इलाहाबाद ।

53—मध्यकालीन प्रेम-साधना, परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद ।

54 मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य मे विरह भावना, वी० एन० फिलिप ।

55—मध्यकालीन सन्त साहित्य, राम खेलावन पाण्डेय ।

56—मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, केसनी प्रसाद चौरसिया, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

57—मध्ययुगीन काव्य साधना, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण ।

58—मध्ययुगीन हिन्दी काव्यधारा और चैतन्य सम्प्रदाय, मीरा श्रीवास्तव, प्रका०-हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

59—मीराबाई, श्रीकृष्ण लाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

60—मीरा एक अध्ययन, पद्मावती "शबनम", लोक सेवक प्रकाशन, काशी ।

61—मीराबाई और वल्लभाचार्य, पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ।

62—मीराबाई का काव्य, मुरलीधर श्रीवास्तव, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग ।

63—मीरा की प्रेम साधना, भुवनेश्वर मिश्र माधव प्रका०-वाणी मन्दिर, छपरा ।

64—मीरा-स्मृति-ग्रन्थ, प्रका०-बंगीय हिन्दी परिषद, कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति ।

65—मुसलमान और भारतीय संगीत, आचार्य बृहस्पति ।

66—महाकवि सूरदास, नन्द दुलारे बाजपेई, आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली ।

67—राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजेन्द्र स्नातक ।

68—रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।

69—रस सिद्धान्त, डा० नरेन्द्र ।

70—रस-मीमांसा, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

71—विद्यापति, सूर्यबली सिंह ।

72—विद्यापति, शिव प्रसाद सिंह ।

73—वैदिक माइथालाजी, मैकडानल ।

74—वैदिक साहित्य और संस्कृति, बल्देव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, तृतीय संस्करण ।

75—संगीत अष्टछाप, तैलंग (गुकुलानन्द तथा बनवारी लाल)

76—संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, आत्माराम ऐण्ड संस, दिल्ली ।

77—संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी ।

78—संस्कृत साहित्य का इतिहास, कन्हैयालाल पोद्दार, प्रका० —स्मारक ग्रन्थमाला समिति, नवलगढ़ ।

79—सन्त परम्परा और साहित्य, नलिन विमोचन शर्मा ।

80—साहित्य का मर्म, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, लखनऊ विश्वविद्यालय, व्याख्यान माला ।

81—साहित्यालोचन, श्यामसुन्दर दास, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद ।

82—साध्यगीत, महादेवी वर्मा ।

83—सिद्धान्त और अध्ययन, बाबू गुलाबराय ।

84—सिद्ध साहित्य, डा० धर्मवीर भारतीय, किताब महल, इलाहाबाद ।

85—सूफी मत . साधना और साहित्य, राजपूजन तिवारी, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, बाराणसी ।

86—सूर और उनका साहित्य, हरवंश लाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, संशोधित संस्करण ।

87—सूर की काव्यकला, मनमोहन गौतम, एस० चन्द ऐण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, दिल्ली ।

88—सूर की काव्य साधना, गोविन्द राम शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

89—सूरदास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, सातवाँ संस्करण ।

90—सूरदास, ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, तृतीय संस्करण ।

91—सूर-निर्णय, द्वारिकादास पारीख एवं प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।

92—सूर-पंचरत्न लाला भगवानदीन रामनारायण लाल बुकसेलर इलाहाबाद ।

93—सूरदास · विविध सन्दभी मे, प्रकाशक—श्री बड़ा बाजार कुमार सभा पुस्त-कालय, कलकत्ता, प्रथम बार ।
94—सूर-साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर लिमिटेड, हीराबाग, बम्बई—4, सशोधित संस्करण-1961.
95—सूर-सरोवर, हरवंशलाल शर्मा, बंशल एण्ड कम्पनी, दिल्ली ।
96—शाण्डिल्य भक्तिसूत्र ।
97—हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु, श्री रूप गोस्वामी, प्रका०—अच्छुल ग्रन्थमाला, काशी ।
98—हिन्दी के कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य मे सगीत, ऊषा गुप्त, लखनऊ विश्व-विद्यालय, प्रथम संस्करण ।
99—हिन्दी मे महाकाव्य का स्वरूप, विकास, शम्भूनाथ सिंह ।
00—हिन्दी की माध्यकालीन काव्य भाषा का अध्ययन, डॉ० राम स्वरूप चतुर्वेदी ।
01—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास डा० भागीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।
02—हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिग हाउस, लखनऊ ।
03—हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, डा० उदयभान सिंह, नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली ।
04—हिन्दी मुक्तक काव्य का इतिहास, जितेन्द्र पाठक, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी ।
05—हिन्दी विश्वकोष ।
06—हिन्दी-साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई ।
07—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, प्रका०—राम नारायण लाल बुकसेलर, इलाहाबाद ।
08—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लि०, इलाहाबाद ।
09—हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई ।
10—हिन्दी साहित्य कोष-भाग-1 और 2, सम्पा०-डा० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, सवत्—2005.
11—हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, डा० सरनाम सिंह, राम नारायण लाल बुकसेलर, इलाहाबाद ।
12—हिन्दी शब्द सागर—(सभी भाग) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

शोध-प्रबन्ध

1—खड़ी बोली का लोक साहित्य, सत्यगुप्त ।

2—गीति काव्य : उद्‌भव, विकास एवं भारतीय काव्य मे इसकी परम्परा, डा० शिवमंगल सिंह "सुमन" ।

3—परमानन्ददास और नन्ददास के काव्यो की विशेष समीक्षा, दीनदयाल गुप्त ।

4—ब्रज और बुन्देली लोकगीतो मे कृष्ण कथा, सालिगराम गुप्त ।

5—भक्तिकाल के लोक काव्य, सुधा सक्सेना ।

6—भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य के काव्य रूप, राम नारायण शुक्ल ।

7—मध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य की गीति शैली का विकास और संगीत का उसमे योगदान, नीना दुबे ।

8—मध्यकालीन भक्ति काव्य मे सगीत, आशा सेठ ।

9—मध्यकालीन साहित्य मे आत्मनिवेदन, मीना खरे ।

10—मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में काव्य रूपो की परम्परा तथा उनके उद्‌भव की सामाजिक एव सास्कृतिक पृष्ठभूमि, रामबाबू शर्मा ।

11—मध्यकालीन हिन्दी भक्ति-साहित्य मे वात्सल्य एव सख्य, करुणा गर्ग ।

12—सूर की भाषा का ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन, जनार्दन ।

13—हिन्दी भक्ति साहित्य मे लोक-तत्व, रवीन्द्र (नाथ राय) भ्रमर ।

14—हिन्दी में मुक्तक काव्य की परम्परा, कान्ति केसनी सिनहा ।

15—हिन्दी साहित्य मे राम कथा काव्यो मे कला, भाग्यवती सिंह ।

संस्कृत-ग्रन्थ

1—ऋग्वेद ।

2—काव्य प्रकाश, मम्मट, सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल, वाराणसी ।

3—काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस ।

4—गीत गोविन्द, जयदेव, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

5—छान्दोग्य उपनिषद ।

6—ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन ।

7—नाट्य शास्त्र, भरत, सम्पादक—बटुकनाथ शर्मा एवं बल्देव उपाध्याय, विद्या विलास प्रेस, वाराणसी ।

8—नारद-भक्ति-सूत्र, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

9 - रघुवंश, कालिदास ।

10—रामायण, वाल्मीकि ।

11—रसगंगाधर, पण्डित राज जगन्नाथ, व्याख्याकार मदन मोहन झा, चौखम्बा, वाराणसी ।

12– संगीत परिचय, अहोवल ।

13—संगीत रत्नाकर, सारंगदेव कृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

14—साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।

15—सामवेद ।

16—श्रीमद्भागवतगीता, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

17—हरि-भक्त-रसामृत-सिन्धु, श्रीरूपगोस्वामी प्रका०-अच्युत ग्रन्थमाला, काशी ।

अन्य ग्रन्थ

1—थेरिगाथा, अनुवादक-भरत सिंह, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ।

2—दीघनिकाय, अनु०-राहुल सांकृत्यायन, जगदीश कश्यप ।

3—चैतन्य चरितामृत ।

पत्र-पत्रिकायें

1—कल्याण—भक्ति अक, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

2—कल्याण—साधनांक, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

3—कल्याण—मानसाक, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

4 - संगीत—संगीत कार्यालय, हाथरस ।

5—सम्मेलन पत्रिका—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।

अंग्रेजी ग्रन्थ

1—Encyclopaedia Britanica-Chicago, London, 1950 Edion

2—Dictionary of Music-Willi Apel Harvard University

3—Aspects of Indian Music-Publication Divison, Government of India

4—A History of Hindi Literature- F E Kaey

5—Lyric Poetry-Ernest Rttys-J. M Dent & Sons Ltd London

6—Lyrical Forms in English-Normun Happle' Cambridge University